आध्यात्मिक सोपान।

-सम्पादक-

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी,

निश्चयधर्मका मनन, अनुभवानंद, स्वसमरानंद, पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार, तत्त्वभावना, समाधिशतक इष्टोपदेश, आदि २ के सम्पादनकर्ता व टीकाकार।

प्रकाशक-

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़ियाभवन-सूरत।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४५७. [प्रति ७-०

"दिगंबर जैन" पत्रके २४वें वर्षके ग्राहकोंको-
श्रीमती चन्द्रबाई जैन-खंडवाकी
ओरसे भेंट।

३६७७

"जैनविजय" प्रि० प्रेस-सूरतमें मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

मूल्य-एक रुपया।

भूमिका।

यह "आध्यात्मिक सोपान" नामक ग्रन्थ जैनमित्र वर्ष २८ अंक १ वीर सं० २४५३ कार्तिक सुदी ६ से लेकर जैनमित्र वर्ष ३० अंक ४९ वीर स० २४५५ कार्तिक वदी १४ तक क्रमश: प्रकाशित होचुका था जिसका जनताको पुस्तकरूपसे लाभ हो इसीलिये उसका संग्रह करके मुद्रित कराया गया है। यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसकी विषयसूचीसे विदित होगा कि इसमें एक भद्र मिथ्यात्वीकी किस तरह उन्नति होती चली जाती है, उसका सर्व क्रम बताया गया है। हरएक मानवका ध्येय सुख शांतिका पाना है। वह सुख शांति तब ही प्राप्त होसक्ती है जब यह जीव आत्मशुद्धिके मार्गपर चलना प्रारम्भ करदे। सम्यक्त होते ही या आत्मस्वरूपकी प्रतीति होते ही इस भव्य आत्माको सच्ची सुख शांतिका लाभ सम्यग्ज्ञानके साथ होने लगता है। उसकी पूर्णता मोक्ष है। सिद्ध अवस्था हमारा ध्येय होना चाहिये। शुद्ध आत्मस्वरूप जब ध्येय है या उपेय है तब शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव उसकी प्राप्तिका उपाय है। वास्तवमें धर्म आत्माका ही स्वभाव है और वह आत्मस्वभावके ध्यानसे ही प्राप्त होता है। अध्यात्मविद्याका लाभ परम आवश्यक है। अध्यात्मज्ञान ही वास्तवमें वह सोपान है या सीढी है जिसपर चढ़कर यह जीव सिद्ध भावकी अंतिम सीमापर पहुंच जाता है। वहा फिर यह आत्मा परम कृतकृत्य होजाता है। आत्मीक भावोंकी उन्नतिका निमित्त साधक व्यवहार चारित्र है इससे उसका कथन भी इस ग्रन्थमें अध्यात्म भावके साथ क्रमवार किया गया है।

जैनधर्मके शास्त्रोंका सार इस ग्रन्थमें यथासम्भव संकलित किया गया है। श्री गोम्मटसार, लब्धिसार, समयसार, श्रावकाचार, मूलाचार इन ग्रन्थोंका कुछ उपयोगी सार इस ग्रन्थके पाठकोंको मिलेगा। इसको जो कोई आदिसे अंततक समझ व धैर्यके साथ पढ़ जायगा, उसको सच्चा रास्ता मिल जायगा, जिसपर चलकर वह अवश्य अपने नरजीवनको सफल बनाएगा। इस ग्रन्थका पठनपाठन श्रवण मनन हर किसीको करना उचित है।

आगरा।
ता० १५-६-३१ } ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

श्रीमती चन्दरबाई जैन-खंडवा।

[आप जैनसमाजमें एक दानी व धर्मपरायणा महिला हैं।]

जन्म काल।

आपका जन्म सं० १९४६ पौष शुक्ला ९ को भामगढ़ (खडवा) ग्राममें धनीमानी सेठ घासीरामसाजी पोरवाड जैनके यहां हुआ था। आपका पालन-पोषण इकलौती संतान होनेके कारण बड़े ही लाडप्यारसे हुआ। ११ वर्षकी ही उम्रमें आपका परिणयन संस्कार खण्डवावासी सेठ भीकासाजीके साथ हुआ। लेकिन दैवसे अधिक समय इनका दाम्पत्य सुख देखा नहीं गया। और इनकी १४ वर्षकी उम्र होते ही इनको वैधव्य दुःखने आघेरा! आप इस दुःखको कर्मजन्य आपत्ति मानती हुई स्वाध्याय तथा शास्त्रश्रवण आदिसे अपने जीवनको शांति एवं सयमपूर्वक आजतक व्यतीत करती चली आरही है।

दान-शीलता।

यह आपका प्रधान गुण है। आपने प्रायः शिखरजी, गिरनारजी, जैनबद्री, मुलबद्री आदि भारतवर्षीय समस्त तीर्थोंके दर्शन किये है। तीर्थयात्रा करते समय तीर्थोंपर जहां जैसी जरूरत समझी वहां२ आपने शक्ति अनुसार दान भी किया।

उदयपुरमें आपने २ कमरे और आपकी मांने ४ कमरे इस तरह ६ कमरे श्री संभवनाथजी जैन धर्मशालामें बनवाये हैं। सिद्धवर-कूटजीमें भी २ कमरे बनवानेकी आप मजूरी देचुकी हैं। आप विद्यार्थी सहायक कोष इन्दौरको १०१)रु० देकर उसकी संरक्षिका नियत की गई हैं। गत ४ वर्षसे आपको वक्षस्थलमें एक फोड़ा होगया था, जिसके इलाजके लिये तुकोजीराव अस्पताल इन्दौरमें गई और आरोग्य लाभ होनेके उपलक्षमें वहापर पोरवाड जैन महा-जन वार्ड करीब ९०००) रु० खर्चकर बनवा दिया है। जिससे बीमारोंको ठहरनेका और अच्छा सुभीता होगया है। सनावदमें मुनिश्री शांतिसागरजी (छानी)के पधारनेके समय ९०१) जैन बोर्डिंग हाउसको प्रदान किये है। तथा बड़नगरकी संस्थाओंको भी १०१) का दान किया है।

धार्मिकता। आपने अष्टाह्निकाव्रत, रविव्रत, सूत्रजीव्रत, सहस्रनामव्रत, रत्नत्रयव्रत, मुक्तावलीव्रत इत्यादि अनेक व्रत विधि पूर्वक पालन किये है और समय २ पर नवीन व्रत पालन करती रहती हैं। आपने स्थानीय जैन मंदिरको पूजनके निमित्त किराना बाजारका १ मकान सदाके लिये दे दिया है जिसकी वार्षिक आय ६००) है। आपकी भावनाए सदा धर्मसे पूर्ण बनी रहती है। गत वर्ष आपने करीब २०००) खर्च करके श्री सिद्धचक्र विधान कराया था और बड़ी ही प्रभावना कराई थी। जबसे स्थानीय कन्याशालाका उद्घाटन हुआ है तभीसे आप १०) मासिक बराबर

देती आरही हैं। आपकी इच्छा है कि एक पोरवाड़ जैन विधवाश्रम खोला जाय और आप सतत ही इसकी चिन्तामें लग्न रहती हैं। आप मृदुभाषिणी और मिलनसार धर्मप्रेमी महिला हैं। आपने गत वर्षसे स्वदेशी वस्त्रका व्रत लेलिया है। आप समय २ पर और भी कई प्रकारके दान किया करती हैं। आपकी आंतरिक आकांक्षा है कि मेरी संपूर्ण संपत्ति धार्मिक कार्योंमें ही व्यय हो। आशा है कि बाईजीके सहयोगी गण उनकी इस आकांक्षाको उनके समक्ष ही खण्डवामें एक विधवा आश्रम जैसी संस्थाको जन्म देकर उनके हृदयगत भावोंकी पूर्तिमें सहायक होंगे। आपको धार्मिक पुस्तकोंके प्रचारकी भी रुचि है। इस ग्रन्थके प्रकाशनके लिये आपने बड़े हर्षसे ३००) का दान किया है। उसी दानसे यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है और दिगम्बर जैनके २४ वें वर्षके ग्राहकोंको उपहारमें दी जाती है। (तथा कुछ प्रतियां विक्रयार्थ अलग भी निकाली गई हैं) आपको विद्याकी बहुत रुचि है। जैन कन्याशाला खण्डवाकी उन्नतिमें तो आप सदा दत्तचित्त रहती हैं। आशा है आपके इस शास्त्र दानका अनुकरण अन्य श्रीमती महिलायें अवश्य करेंगी। आप चिरायु होकर अपना समय दान धर्ममें अधिक विताकर अपना जन्म सार्थक करें यही हमारी भावना है।

सूरत
वीर सं० २४५७
प्र० अषाढ सुदी १३

निवेदक—
मूलचंद किसनदास कापड़िया-प्रकाशक।

विषयसूची ।

नं०	विषय	पृष्ठ.

श्रीवीतरागाय नमः।

देशनालब्धि।

(१)

एक भव्यजीव आध्यात्मिक आश्रममें जाकर बड़े प्रेमसे अध्यात्म चर्चाको सुनकर गद्गद् होरहा है। परम अध्यात्म योगी कहते हैं— "हे वत्स! तूने जिस संसारको अपना माना है वह पर्यायरूपसे नष्ट होनेवाला और फिर नवीन अवस्थामें आनेवाला है। तू जिन२ अवस्थाओंसे मोह करता है वह सब शरदके मेघ समान प्रलय होनेवाली हैं। उनके प्रलय होनेपर तू जितने अंशमें राग करता है उतने ही अंशमें शोकसागरमें गोते खायगा। कोटि यत्न करनेपर भी वही पर्याय फिर होना असंभव है। संभव है कि किसी वस्तुकी सदृश पर्याय होजाय पर जो नष्ट हुई उसीका फिर जन्मना कठिन है। इससे तू क्षणिक हर्ष विषादके कारण पर्याय जगतसे मोह छोड़, न साताकारी सम्बन्धोंमें रागकर, न असाताकारी सम्बन्धोंमें द्वेष! तथा तू अपनी दृष्टि फेर, पर्यायोंको न देखकर द्रव्यकी दृष्टिसे उन मूल द्रव्योंको देख जिनमें ये पर्यायें होती और विलाती हैं। यदि तू देखेगा तो इस लोकमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन छः द्रव्योंकी सत्ताको पाएगा। मूल द्रव्य रूपसे छहों

ही अपने निज स्वभावमें ही प्रगट होंगे । न जीवमें नर नारकादि पर्यायें दीखेंगी न पुद्गलमें स्कंधोंके छोटे बडे दृश्य नजर आवेंगे । धर्मादि चार द्रव्य तो सदा निर्विकारी रहते ही हैं । प्रिय वत्स ! इस दृष्टिमें न कोई बंधु है, न कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, न बड़ा है, न कोई छोटा है। सर्व जीव समान आकारवान, असंख्यात प्रदेशी, शुद्ध पूर्ण चैतन्यमई, परम वीतरागी, परमानंदी, परम कृत-कृत्य, अनत वीर्यवान, परम निर्विकार तथा अखण्ड एकरूप रत्न-त्रयमई दीख पडेंगे । बस, तू किससे राग करेगा व किससे द्वेष ? तब समतामें आकर अपने जीवको भी शुद्ध देख और सब तरफसे उन्मुख हो उसहीमें उपयोग रख । यही आनंदका बीज है ।

(२)

तत्व रुचिधारी शिष्यको श्रीगुरु उपदेश करते हैं—

हे भव्य जीव ! यह जगतका चरित्र पर्यायार्थिकनयसे चल रहा है। पर्याय सूक्ष्म हो या स्थूल हरएक क्षणभंगुर है, उसकी पलटन कालद्रव्यके निमित्तसे होती है । कालद्रव्य हरएक प्रदेशपर विराजमान है, इससे सर्व ही लोकके पदार्थ समय२ परिवर्तन करते रहते हैं । द्रव्य दृष्टिसे न कोई पैदा होता है न मरता है। पर्याय दृष्टिसे उपजना मरना हुआ करता है। इसीको पलटना कहते हैं। कोई मरणसे भय करते हैं, कोई रोगसे भय करते हैं, कोई आप-त्तिसे भय करते हैं । परन्तु जो वस्तुस्वरूपके ज्ञाता हैं वे मरणको एक भवसे दूसरेमें पलटना, रोगको पुद्गलका पलटना व आपत्तिको कर्मके निमित्तसे उत्पन्न होना मानकर भय नहीं करते हैं, युद्ध क्षेत्रमें खड़े हुए वीर सिपाहीके समान इन कर्मजनित अवस्थाओंसे

घबड़ाते नहीं हैं। जिन्होंने शुद्ध निश्चयनयके आश्रयसे अपने आत्माको अविनाशी, अमूर्तीक, असंख्यातप्रदेशी, चेतनामय, शांतिमय, आनन्दमय जान लिया है वे सुमेरुपर्वतके समान दृढ़ रहते हैं; पुद्गल कर्मकी प्रेरणासे आए हुए अवस्थारूपी बादलोंसे रञ्चमात्र भी विचलित नहीं होते हैं। हे भव्यात्मा! कर्मोदयकी अवस्था पलटनेको कोई समर्थ नहीं है। इससे तू निश्चिन्त हो—और अन्य सर्व शरणको त्यागकर एक अपने आत्माकी ही शरण ग्रहण कर। जो सर्व जगतके द्रव्योंसे प्रेम हटाकर, यहांतक कि अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पंचपरमेष्ठीसे भी प्रेम त्यागकर मात्र अपने ही गुणोंमें रमण करने लगते हैं, वे ही शुद्ध स्वात्मानुभवरूपी प्रयोगको पा लेते हैं—जिस प्रयोगमें यह गुण है कि तत्काल आत्माको सुख शांति मिलती है व इसके निमित्तसे पाप कर्म झड़ जाते हैं व सबलके निर्बल होजाते हैं। अथवा पाप पुण्यमें पलट जाते हैं। यही प्रयोग संसारके रसको सुखाता है और मुक्तिके अद्भुत लाभको देता है। इसलिये हे शिष्य! जगतके प्रपंचसे निवृत्त हो और एकचित्त हो अपनी रत्नत्रयी आत्मगुफामें विश्राम कर।

(३)

परम अध्यात्मयोगी कहते हैं—हे वत्स! इस संसारमें यह संसारी प्राणी कर्मोंसे लिप्त पड़ा है और विषयकी चाहकी दाहमें जल रहा है। रात दिन सुख पानेकी इच्छासे सुखका सामान एकत्र करता है परन्तु देखता यह है कि इच्छानुसार सामग्री मिलती नहीं है। यदि वह मिलती है तो उसका सतत भोग नहीं होता है—अंतराय पड़ जाता है। यदि भोग्य वस्तु बनी रहे, तो तृष्णा कभी

शांत नहीं होती है, दिन दुनी रात चौगनी बढ़ती जाती है। इधर शरीर जराके सन्मुख होते२ मरण कर जाता है। तृष्णाकी शांति न करपानेके हेतु हीसे देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी सब ही जीव महा दुखी हैं। वास्तवमें संसारमें दुःखदाई मिथ्यात्व व अज्ञान भाव है। जिन्होंने इन दोनोंको त्याग दिया है वे हरएक गतिमें व हरएक दशामें सुखी रह सके है। हे भव्य ! तू इसी विषयके उगलनेका यत्न कर। हम तुझे जो औषधि बताते हैं उसीका सेवन कर। देख, तू विचार तू कौन है, क्या तू शरीरी है ? नहीं। क्या तू रागद्वेष क्रोध मान माया लोभ है ? नहीं, क्योकि ये सब आकुलताके कारण हैं। तू विचार देख, तू एक ज्ञानदर्शन स्वरूप देखने जाननेवाला है। तेरा ज्ञान तेरा भंडार है। तू इसे रातदिन अनुभव करता है। मरण प्राप्त प्राणीका अग बना रहता है पर जो चैतन्य गुणधारी वस्तु है सो नहीं रहती है। तू वही चेतना प्रभु है। तेरेमें सबको जानने देखनेकी शक्ति है। तू बहुत ही शांत स्वभाव है–क्योंकि शांति ज्ञानकी सहायक है, जब कि अशांति बाधक है। तू महा सुखी है। जरा चिन्ताओंको छोड़कर देख, तू सुखी अपनेको पाता है या नहीं। हे भव्य ! तू यदि मिट्टीरहित जलको देखेगा तो तुझे अपना स्वरूप झलक जायगा। जैसे जल स्वभावसे निर्मल, शांत तथा मीठा होता है ऐसे ही यह तेरा आत्मा स्वभावसे निर्मल अर्थात् सर्व कर्ममल रहित लोकको झलकानेवाला, परम वीतराग तथा परम आनंदमई है। सच पूछो तो तू स्वभावसे परमात्मा है। बस, अब तू निश्चिन्त होकर कुछ देर ऐसा विचार कर कि मैं परमात्मा व परम शुद्ध हूं, निरंजन व निर्विकार हूं।

बस, इसी भावकी भावना करनेसे तू जब भावनासे भी अतीत हो-जायगा तब स्वय आप ठहरनेसे एक ऐसे आनन्दको पायगा जो ससारातीत भावनाको निरतर अनुभवमें आरहा है । इस आनदके योगीको यह ससार कुछ भी दुःखदायी नहीं है । बस, हे वत्स ! यदि सुखी होना चाहता है तो तू अपनी परिणतिमें ही विश्राम कर।

(४)

परम दयालु श्रीगुरु शिष्यको उपदेश करते है-हे भव्यजीव ! तू प्रसन्न हो, और मन लगाकर मेरा उपदेश सुन। तेरे शरीरके भीतर जो एक जाननेवाला पदार्थ है उसे ही आत्मा या जीव कहते हैं । यह न कभी उत्पन्न हुआ है न कभी नष्ट होगा। यह अनादि अनन्त अविनाशी है, अपनी सत्ता अन्य सर्व जीवोंसे निराली रखता है। यह न कभी किसीसे मिला हुआ था न कभी किसीसे मिलेगा। इसका संसार इसहीके साथ है। यह आत्मा अपनी कर्मबधरूप सृष्टिको आप ही बनाता है इससे ब्रह्मा है, अपने कर्मके फलोंको आप ही भोगता हुआ अपनी कर्म व कर्मसे उत्पन्न हुई सृष्टिको पालता है इससे विष्णु है । तथा यह आप ही अपने ही मोक्ष पुरुषार्थसे सर्व कर्मोको नष्टकर शुद्ध मुक्त होता हुआ अपनी सृष्टिका आप सहार करता है इससे यही रुद्र या महेश है । यह एकद्रव्य होकर भी तीन स्वरूप है । यह गुणोंके सहभावीपनेसे ध्रौव्य, पर्यायोके उत्पन्न व विनाश होनेसे उत्पाद व्ययरूप है अर्थात् इस तीन स्वभावकी अपेक्षासे भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश स्वरूप है । हरएक जीव एक दूसरेसे इतना भिन्न है कि एक पतिपत्नि जन्मभर प्रेमसे रहे हुए यदि पति सम्यग्दृष्टी है तो वह स्वर्ग जाता है, यदि स्त्री मिथ्यात्व

सहित है तो तिर्यंच होजाती है। जिसकी आयु पूरी होजाती है उसे अकेला ही मरना पड़ता है फिर अकेला ही अपने कर्मानुसार वह कहीं जन्म लेलेता है। जब एकको तीव्र असातके उदयसे रोग होजाता है तब उस वेदनाको उसे ही भोगना पड़ता है, दूसरे कोई भी मित्र व बंधु उस वेदनाके अंश मात्रको भी भोग नहीं सक्ते। हे भव्य! तू ऐसा समझ–तेरा जीव अकेला ही कर्मोंका बांधनेवाला, अकेला ही सुखी दुःखी होनेवाला व अकेला ही संसारभ्रमण करनेवाला व अकेला ही मुक्ति प्राप्तिकी शक्ति रखनेवाला है। तू अपने स्वरूपका विचार कर। तू एक अखंड चैतन्य धातुका असंख्यातप्रदेशी पिंड है। तेरेमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, परम वीतरागता आदि शुद्ध गुण सर्वांगव्यापक हैं; तू स्वयं परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म, क्रोधादि विकारोंसे रहित, परमनिराकुल, अव्याबाध, परमकृतकृत्य, परके कर्तापने व भोक्तापनेसे रहित, परम मंगलरूप है। तू स्वयं देव है, तू स्वयं आराध्य है, तू स्वयं पूज्य है, तू स्वयं ध्येय है, तू स्वयं मोक्ष है। बस ये भव्यजीव! तू सर्व चिन्ता छोड़ दे। एक मन हो, अथवा संकल्प विकाररूप मनका संहार कर दे। मनका उपयोग जिस द्रव्यसे उठा है उसीमें उपयोगको डुबा दे और आप रूपमें थिर हो, आप ही अपने पूज्य परमात्माकी आप ही सेवाकर अर्थात् स्वानुभव कर, यही आनन्दकर, दुःखद्वन्द्वहर, शांतिप्रद व कार्यकर है।

(५)

परम ज्ञानी श्रीगुरु उपदेश करते हैं–

हे भव्य जीव! तू इस संसारमें जिस जिस पदार्थको अपना

मानता है वह हरएक पदार्थ तेरेसे भिन्न है ! तू विचार कर ! जगतमें जितने सत्तात्मक द्रव्य हैं वे अपने स्वरूपसे आप रूप हैं, परन्तु परस्वरूप नहीं हैं, उनमें स्ववस्तुपनेकी सत्ता है और पर-वस्तुपनेकी असत्ता है अर्थात् सर्व ही सत पदार्थ भिन्न२ रूप हैं। कोई भी अपनो सत्ताको खो नही सक्ता। वस्तु एक दूसरेमें निमित्त सहायक होसक्ती है, परन्तु कभी वदल कर अन्य वस्तु रूप नहीं होसक्ती है। मोही प्राणी जिस शरीरसे मोह करता है वह शरीर पुद्गल परमाणुओंका समूह है—उनहीसे मिलकर बना है, उनहीके विछुड़नेसे विछुड जायगा। माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, ग्राम, नगर, देश जिनको यह प्राणी अपना कहता है वे सब इसकी आत्माकी सत्तासे भिन्न हैं। न कोई किसीके साथ जन्मता है, न कोई किसीके साथ मरता है। यदि कोई साथ जन्मता भी है तो भिन्न२ गतिसे आता है। यदि कोई साथ मरता भी है तो कर्मानुसार भिन्न२ गतिको जाता है। जगतके इन संबं-धोंको अपना मानना मात्र मोह है, जिससे वियोग होनेपर महान कष्ट होता है। ज्ञानी जीव तो इस स्थूल शरीर व उसके सम्बंधोंके सिवाय अपने साथ संसार अवस्थामें आए हुए तैजस और कार्माण शरीरको भी अपनेसे भिन्न जानते हैं, क्योंकि ये भी स्थूल शरी-रके समान तैजस और कार्माण वर्गणाओंसे क्रमसे बनते और विग-डते रहते हैं। इन कर्मोंके उदयसे जो आत्मामें रागादि औपाधिक भाव होते हैं उनको भी ज्ञानी जीव अपनेसे भिन्न जानता है, क्योंकि वे भी कर्मोपाधि सापेक्ष हैं। कर्म रहित जीवोंमें नहीं पाए जाते हैं। यद्यपि भक्तजन अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु

तथा इनकी मूर्तियोंकी व शास्त्रोंकी भक्ति करके धर्मका लाभ उठाते हैं, तथापि उनसे पुण्यबंध करते है, उनसे मुक्तिका लाभ नहीं पा-सक्ते हैं, क्योंकि वे पर हैं। इससे ज्ञानीको इन्हें भी अपनेसे भिन्न जानना चाहिये। ज्ञानमें अनेक ज्ञेय झलकते हैं, उनसे खण्डरूप ज्ञान होता है व इस खण्ड क्रमवर्ती ज्ञानसे अपना अखंड अक्रम-वर्ती ज्ञान है सो भिन्न है। इस तरह हे वत्स! यदि तू सुखी होना चाहता है तो अपनेको सबसे निराला ज्ञान-एक अखंड ज्ञानानंदमई, परमसुखी, परम अतींद्रिय, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, अव्याबाध, अजर, अमर, अविनाशी, गुणपर्यायवान अनंतबलि तू सर्व आत्माओंके समान होकर भी अनोखा भिन्न सत्तात्मक द्रव्य है। मुक्तिका आनन्द भोगनेके लिये यह आवश्यक है कि तू सर्व सङ्कल्प विकल्पोंको मेटकर और परम निश्चिन्त होकर अपने ही निर्भय ज्ञान भावकी गुफामें विश्राम कर और वहीं अपने शुद्ध ज्ञानसमुद्रमें अवगाहना कर, वहीं स्वात्मानुभव कर, वहीं रमणकर, बस, आप अपनेको अपनेमें अपने लिये देख। देखते देखते दृष्टा दृश्यकी कल्पनासे भी तू बाहर होजायगा, तब फिर कहा जायगा सो कोई नहीं कह सक्ता। बस! हे वत्स! यही आध्यात्मिक सोपान है, यही अमृतपानका स्थान है, और यही आत्माके लिये मोक्ष-नगरमें जानेको उत्कृष्ट यान है।

(६)

श्रीगुरु परम दयालु हो समझाते हैं -

हे वत्स! तू किसके मोहमें पडा है। जिस धर्मशालामें तू अपना काम करनेको आया है, तू उसीकी रक्षामें रात्रि दिन खोरहा

है—अपना काम भूल गया है—यह नरतन महान् उत्तम भी है तथा महान् निकृष्ट भी है। जो इसको दासके समान रखकर आत्मध्या-नका साधन करते हे वे मुक्ति पा लेते हैं, तथा जो इसके ही दास होजाते हैं वे सातवें नरक तक पहुच जाते हैं। यह शरीर देखनेमें सुन्दर है, भीतर मल, मूत्र, कफ, रुधिर, हाड, चाम, कृमि आदि जंतुओंसे भरा हुआ है। शरीरके बडे२ छिद्रोंसे व छोटे२ रोमकू-पोंसे निरतर ऐसा मल झड़ता है कि जिसकी संगतिमें आई हुई परमपवित्र वस्तु भी अपवित्र होजाती है। जगतमें मलीनताका फैला-नेवाला यह मानवका शरीर ही है। आयु कर्म हरसमय इसके नाशके लिये इसका दम निकालता रहता है। असाध्यरोग, अकस्मात, युद्ध आदिका कारण मिलनेपर आयुकर्म एकदम इसकी कल मरोड़ देता है और यह अकाल मृत्युकी गोदमें सो जाता है। इस अनित्य, अपवित्र, पुद्गलके परमाणुओंसे बनी हुई नरकुटीमें जो रहते हुए इससे मोह नहीं करते हैं वे बुद्धिमान है। जो इसके भीतर प्राप्त पांचों इंद्रियोंकी इच्छाकी पूर्तिमें आकुल व्याकुल रहते हैं उनका सर्व जन्म निरर्थक आशाकी मरम्मतमें ही बीत जाता है। अन्तमें जब मरणकाल आता है तब निराश होकर आशाओंके भारसे दबे हुए आर्तध्यान करते हुए चले जाते है और खोटी लेश्यावश दुर्गतिमें दुःखदाई शरीर प्राप्त कर लेते है। इससे हे वत्स! तू मृगतृष्णाकी तरह इंद्रियसुखोंके पीछे पड़कर अपने जन्मको निरर्थक मत खो और जरा निश्चिन्त होकर अपने आपको देख। यदि तू विचार करेगा और निश्चयनयकी दृष्टिसे देखेगा तो तुझे यह झलकेगा कि तेरा शरीर एक परमपवित्र देवालय है-जिसमें तेरा ही आत्मा परमात्मा प्रभु

परम पूज्यनीय देव विराजमान है। तू अनंत शुद्ध गुण पर्यायोंका स्वामी है, तेरे ज्ञानरूपी उदरमें लोक अलोकके सब पदार्थ समाए हुए हैं। तौ भी तू उन सबसे निराली सत्ताका रखनेवाला है। तेरे भीतर क्रोधादि विकारोंका नाम निशान तक नहीं है। तू परमआनंदमई अगाध समुद्र है। बस, तू अपने ही देवको एकाग्र हो पूज, उसीकी वन्दना कर, उसीकी स्तुति कर, उसीकी आराधनामें ऐसा तन्मय होजा कि पूजक पूज्य ध्याता ध्येय, सेव्य सेवककी सब कल्पना मिट जावे और तू सुख-समुद्रमें मग्न होकर निरंतर आनन्दामृतको पान करे। प्रिय शिष्य! उठ, जागृत हो, निश्चिन्त हो, दृष्टि फेर! तू महा सुखी है। बस क्षणभरके लिये सबको भुला दे, अपने उपयोगके सामने अपने ही आत्म-प्रभुको विठा ले, देख तो सही, कैसा आनन्द आता है! बस यही आनन्द है जिसको लेते हुए बुद्धिमान संत लोग इस अपवित्र देहसे अपना काम कर लेते हैं और इस देहमें रहते हुए भी जीवनमुक्त होजाते हैं।

(७)

श्री गुरु परम दयालु हो उपदेश करते हैंः-

हे भव्य जीव! तू अच्छी तरह विचार कर! पराधीनतामें कभी सुखका लाभ नहीं होसक्ता है। स्वाधीनताही में सुख है। इस संसारी जीवके कर्मबंधकी बड़ी भारी पराधीनता है। कर्म यद्यपि जड़ हैं पर कुछ वस्तु हैं, इससे बड़ी भारी शक्ति रखते हैं। बिजलीमें जो शक्ति होती है उससे अनंतगुणी शक्ति कर्मकी वर्गणाओंमें है, क्योंकि कार्माण वर्गणाओंमें तैजस वर्गणाओंसे अनन्तगुणे परमाणु होते हैं। जीव और पुद्गलमें बहुतसे सामान्य गुण भी हैं इसीसे

एक दूसरेके कार्मोंमें निमित्त होते हैं। जैसे मादक पदार्थ जड़ है परन्तु चेतनके भावोंको विकृत व शरीरसहित आत्माको उन्मत्त कर देता है, वैसे कर्म-वर्गणाएं आठ कर्मोंकी पर्यायोंमें होकर आत्माके साथ बंधी हुई जब उदयमें आती हैं तब आत्माकी शक्तिको आच्छादन करती हैं व मोह रागद्वेषका विकार पैदा करती हैं। अथवा साता व असाताकारी सम्बन्धोंको मिलाती हैं। पूर्ण ज्ञानका विकाश न होना ज्ञानावरणीय कर्मकी ही प्रधानतासे है। आत्माकी अनन्तशक्तिका पूर्ण प्रकाश न होना अतरायकर्मके उदयसे ही है। आत्माका स्वभाव इच्छारहित है तो भी इच्छाओंका उत्पन्न होना मोहकर्मके निमित्तसे है। इच्छा करते हुए भी इच्छित पदाथाका न मिलना व उनका वियोग होजाना असाता वेदनीय व अन्तरायके उदयसे है। किसी सुखदाई संयोगमें एक आदमी जीते रहना चाहता है परन्तु आयुकर्मके क्षयसे तुर्त मर जाता है, न चाहनेपर भी सर्व संयोग छोड़ने पड़ते हैं। जहांतक संसारी जीवोंके कर्मोका बन्ध है वहांतक इनकी आकुलता नहीं मिट सकती और न सुखशांतिका साम्राज्य ही स्थापित होसक्ता है। इसलिये हे वत्स! इन कर्मबंधके कारणोंको पहिचानना चाहिये और उनसे छूटनेका यत्न करना चाहिये। मिथ्याश्रद्धान, हिंसादि पापोंमें प्रवृत्तिरूप अविरतिभाव, आत्महितमें असावधानतारूप प्रमादभाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायभाव व मन, वचन, कायके हलनचलनसे आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होकर योग शक्तिका परिणमन ये सब कर्मोंके आने और बन्धनेके कारण हैं। इन सबका मूल मिथ्याश्रद्धान है। जिसने इस मिथ्यात्वकी जड़ काट दी है उसके अन्य कारण शीघ्र ही

जड़ कटे वृक्षके समान सूख जाते हैं । इसकी जड़ काटनेको हे भव्य ! सम्यग्दर्शनरूपी कुल्हाडी ग्रहण करनी चाहिये । उसकी एक ही चोटसे मिथ्यात्वकी जड़ कट जाती है । सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, जहा आत्माको सर्व आत्माओंसे, सर्व अनात्माओंसे, सर्व पुद्गलकर्म द्वारा होनेवाले रागादि विकारोसे भिन्न पहचाना जाता है और उसे पूर्ण ज्ञान दर्शन व सुखशातिका समुद्र, अमूर्तीक, अविनाशी, अखंड, असंख्यात प्रदेशी, स्वयसिद्ध, गुणपर्यायवान्, अपने शरीरमें ही व्यापी, शरीराकार सिद्ध भगवानके समान शुद्ध, निरजन, निर्विकार, सत् पदार्थ माना जाता है और परिणतिमें आत्मीक आनन्दकी गाढ रुचि बैठ जाती है व ससार, भोग व शरीरसे उदासीनता होजाती है । जगतका सुखदु:खमई दृश्य एक तमाशा दिखता है, कर्मोंका नाटक नजर आता है—जहां साताकारी कर्मोके उदयमें उन्मत्तता नहीं, असाताकारी कर्मोके उदयमें विलपता नहीं होती है, जहां षड्द्रव्यमई जगत उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप नजर आता है, जहा स्वानुभवके समुद्रमें स्नान करना सुहाता है, जहा आत्मानद सुधाका पान भाता है, जहा आध्यात्मिक बुद्धि, आध्यात्मिकचर्चा, आध्यात्मिक रसिकोंकी सगति रंजायमान करती है, जहां अपनेको जीवन्मुक्त अनुभव किया जाता है, वहीं सम्यक्त्व है ।

बस ! हे वत्स ! चिंताको छोड़, मिथ्यात्व विषके वमन होजानेके लिये तू एकातमें बैठकर अध्यात्मरस पानकी औषधिका व्यवहारकर । तू सर्वसे उन्मुख हो, अपने आत्माके भाव ज्ञानमई शुद्ध स्वरूपके सन्मुख हो, उपयोगको उसी भावमें जमावे, वारवार

उसीमें अटकावे, जगतको शून्य समझ आपमें ही अशून्यता भावे–अपनेमें 'मैं" के सिवाय कुछ नही देखे–यही दृष्टि तेरेको अद्भुत आनन्द दिलावेगी, यही सर्व सकटोंसे बचावेगी, व यही कर्मोंकी सेनाको शिथिल बनावेगी, व यही शिवतियाका प्रेम बढ़ावेगी और वह स्वय तेरे आलिंगन करनेको तेरे पास चली आवेगी। बस ! तू अनतकालके लिये सुखी हो जायगा। हे वत्स 'चिंता छोड़ ! सुखी हो।'

(८)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैं—

हे भव्य ! धन्य है जो तेरा चित्त आत्मकल्याणके लिये उत्सुक हुआ है। तूने जगतके फन्दोंमें फसे हुए अपने आत्माकी सपत्ति पानेका उत्साह पैदा किया है। यह जीव कर्मोंके बधके कारणसे ही संसार–बनमें भ्रमता फिरा करता है। तुझे यह बात जान लेनी चाहिये कि कर्मोंके आनेके द्वारको किस तरह बन्द किया जावे। संसारकी जड़ मिथ्यात्वका आश्रव है, इसको रोक देनेके लिये सम्यग्दर्शनकी जरूरत है। जड चेतनके भेदभावको न समझकर कुछका कुछ श्रद्धान करना मिथ्यात्त्व है। आत्मा और कर्मपुद्गल जल और मिट्टीकी तरह मिले हुए हैं परन्तु जैसे जल मिट्टीसे अलग है वैसे आत्मा कर्मपुद्गलोंसे भिन्न है। दोनोंका स्वभाव विलकुल न्यारा न्यारा है। पुद्गलोंसे जुदा आत्मा मात्र आत्मारूप है–न उसमें राग, द्वेष, मोह हैं, न कोई अज्ञान है, न कोई निर्बलता है, न कोई आकुलता है। मात्र शुद्ध पूर्ण ज्ञान, दर्शन, वीर्य व वीतरागता तथा सुखका समुद्र है। रागादि विकार सब पुद्गल

द्रव्यकी संगतिका फल उसी तरह है जैसे निर्मल पानी मिट्टीकी संगतिसे मैला हो जाता है। आत्माको सर्व अन्य द्रव्योंसे जुदा जानना ही भेदविज्ञान है। इसके अभ्यास करनेसे जब दृष्टि आत्मापर जमने लग जाती है तब आत्मामें भरी हुई सुख, शांतिका अनुभव होता है। उसी समय सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है। इस सम्यक्तभावके प्रतापसे संसारका चरित्र कर्मका नाटक नजर आता है। नाटकमें जिनको दुःख तथा सुख दिखलाया जाता है उनको भले ही दुःख सुखका अनुभव हो पर नाटकके दृष्टा व कर्ताको इसका अनुभव नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि अपने ही ऊपर आई कर्मके उदयकी घटनाओंको नाटकके दृष्टाके समान देखकर हर्ष व विषादके गाढ़ तमसे बचा रहता है। जगतमें जिन पदार्थोंका सम्बन्ध हुआ है उनकी हानिमें अपनी हानि व उनके लाभसे अपना लाभ नहीं समझता है। उसको बड़ा भारी संतोष है जो उसने अपने अटूट, अमिट, ज्ञानानंदी भंडारको पा लिया है। सम्यक्त्वभावके ही प्रतापसे स्वानुभव होता है जिससे सत्तामें बैठे हुए मोहनीय कर्मका बल घटता जाता है। यही आत्मपथपर उन्नतिकी जड़ है। प्रिय वत्स! तू थोड़ी देरके लिये नित्य एकांत स्थलमें जाकर तिष्ठ और तब यह समझ ले कि मैं अब अपने आपसे बात करने बैठा हूं—बस अपने उपयोगको सर्व बाहरी पदार्थोंसे, अपने तैजस, कार्माण व औदारिक शरीरसे व कर्मजनित रागादि परिणतियोंसे हटा ले और जिस भूमिसे उपयोगकी उत्पत्ति है उसीमें उसको रमण करा—उसे आत्मभूमिसे बाहर न जाने दे। उसी अभ्याससे तुझे स्वानुभवका लाभ होगा। तब तू जिस अनुपम

आनन्दका भोग करेगा उसका कथन मुँहसे कोई कर नहीं सकता है, जो उसे भोगता है वह भी कहनेमें समर्थ नहीं हो सकता है। भव्य! तू निश्चिंत होकर मन वचन कायकी गुप्तिमई परम संवररूप निज आत्माकी शुद्ध गुफामें विश्राम कर और परमानन्दका भोग कर।

(९)

श्री गुरु परम करुणाभावसे समझाते हैं—

हे भव्य! तू संसारके भयानक दुःखोंसे भयभीत होकर जो मेरे पास आया है तो समझ ले कि यह तेरे सुधरनेका अमूल्य अवसर है। अब तू वस्तुके स्वभावको भले प्रकार विचार कर। यह आत्मा पुद्गलोंकी संगतिमें पड़ा हुआ त्रिलोकनाथसे अति दीन हीन होरहा है। अत्यन्त सुखीसे अत्यन्त दुःखी होरहा है, पूर्ण ज्ञानीसे मूर्ख, अज्ञानी होरहा है। वास्तमें एक बुद्धिमान मानव भी कठोर मदिराको अधिकांशमें पीकर इसी तरह उन्मत्त हो मूर्ख होकर बकने लगता है, दीन हो याचना करने लगता है व अति मलीन स्थानोंमें क्रीड़ा करने लग जाता है। निर्मल जल भी घोर कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ अपनी सर्व शक्तिको दबाए हुए कुमला जाता है। उसको ग्रहण करनेका कोई रुख भी नहीं करता है। सबसे भयानक संगति आठ कर्ममई कार्माण पुद्गलवर्गणाओंकी है। इनमें अपूर्व अनन्तशक्ति है। चेतनके गुणोंको आवरण करना इन्हींकी शक्तिका काम है, इनकी संगति मिटानेका उपाय? हे वत्स! तुझे करना योग्य है। पहला उपाय तो यह है कि तू इनको अपना शत्रु जान इनसे प्रेम हटाले। इनकी करतूतोंके जालको निरादरसे देख; राग, द्वेष, मोह आदि भावोंको इनहीका भयानक

जाल समझ, भेदविज्ञानकी कलासे अपने निज आत्मद्रव्यको जैसा वह यथार्थमें है वैसा उसे समझ। तेरा आत्मा अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, पूर्ण ज्ञान, दर्शनका धनी, परम शांत, कृतकृत्य, परम सुखी, अनन्तबली, परम सम्यक्त्वी व परम निर्विकार है। परमात्मारूप यह आत्मा है, इसमें कोई सन्देह न कर। जिस सुख व शांतिसे सर्व प्रकारकी इच्छाओंका अन्त होजाता है वह सुख व शांति तेरी आत्मामें अटूट भरी हुई है। तू अपनी दृष्टि फेर ले और सबसे राग हटाले और इस अपने सच्चे स्वरूपकी महिमापर आसक्त होजा, प्रेमी होजा, इसीमें भ्रमरवत् लुभा जा। इसीका रुचिवान होकर पुनः पुन अपने उपयोगको अन्य द्रव्योंसे फेरकर इस अपने आत्मद्रव्यमें ही उपयुक्त कर। स्वद्रव्यका प्रेमी बनकर जब जब सम्भव हो तब तब उसीके स्वाद लेनेका उद्यम कर। जैसे मिष्ट-फलका स्वाद उसमें रसना इंद्रियके द्वारा उपयोगके थिर करनेसे आता है वैसे आत्म द्रव्यका मीठा स्वाद आत्माके गुणोंमें उपयोगके थिर करनेसे आता है। सतत स्वरूप चिन्तवनका अभ्यास कर और हे वत्स ! जब पुण्यकर्मके उदयसे साताकारी सम्बन्ध प्राप्त हों तब उनमें उन्मत न हो, उनमें लुभा न जा और जब पापकर्मके उदयसे असाताकारी सम्बन्ध प्राप्त हों तब उनमें दुःखित न हो। दोनों दशाओंको कर्मकृत धूप छायाके समान क्षणभंगुर जानकर समभावसे भोग ले। इस पद्धतिसे पुराने कर्म फल देकर झड़ जायंगे और नये कर्मोंका बन्ध नहीं होगा। कर्मोंके मैलको हटानेका उपाय सम्यग्ज्ञान पूर्वक कर्मफल भोगना और आत्माके मनोहर उपवनमें क्रीडा करना है। इस ही पद्धतिसे सब कर्ममैल हटता चला जायगा

और आत्मा स्वच्छताको प्राप्त होता जायगा। बस अब तू प्रसन्न हो, मेरे सामने क्षणमात्रके लिये तू मन, वचन, कायके व्यापारोंको बंदकर, मौनी हो भीतर देख। देखते ही तू जिस दृश्यका दर्शन पायगा वही अध्यात्म स्थान है, वही सबसे महान् है, वही तेरा शुद्ध ज्ञान है, वही तेरा परम कल्याण है, वही अनंतगुणोंकी खान है, वही तत्वोंकी जान है, वही परम अभयदान है, वही सुधासा-रका पान है, वही सुख अप्रमाण है, वही मोक्षके लिये निर्मल यान है, वही भगवानकी परम शान है, वही सर्व कर्म शत्रुओंकी हान है, और वही मंगलीक एक प्रयाण है। बस इसी मार्गसे चल, तू सदाके लिये सुखी हो जायगा।

(१०)

श्री गुरु परम दयालु हो समझाते है—

हे भव्यजीव! तुने मेरी सगतिमें गाढ़ रुचि उत्पन्न की है। तेरा अवश्य कल्याण होगा। जो कुछ मैं कहता हूं उसपर तू खूब ध्यान लगाकर विचार कर। यह जगत जिसमें तू तथा अन्य पदार्थ वास कर रहे है अनन्त अखंड एक अमूर्तीक आकाशका मध्य भाग है इसे लोकाकाश कहते हैं। इसमें हरएक स्थलपर जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा काल ये पांचों द्रव्य पाए जाते हैं। कोई स्थान इनसे शून्य नहीं है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय स्थावर जीव सर्वत्र भरे हैं। बादर एकेंद्रियसे पंचेंद्रिय यत्रतत्र हैं। पुद्गल परमाणु व नाना स्कंधरूप जिनमें बहुतसे सूक्ष्म व बहुतसे बादर हैं सर्वत्र लोकमें व्याप्त हैं। धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय अखंड लोकाकाश प्रमाण, अमूर्तीक एक एक द्रव्य हैं। कालद्रव्य असंख्यात लोकाका-

शके एक एक प्रदेशपर एक एक भिन्न२ हैं। इनमें संसारी जीव व पुद्गल ही क्रियावान या हलनचलन करनेवाले हैं। शेष निःक्रिय हैं। ये सर्व ही सत पदार्थ हैं। न ये कभी बने न ये कभी बिगड़ते हैं। इनकी पर्यायें या अवस्थाएं पलटती रहती हैं, उन्हींमें उत्पाद-व्यय हुआ करता है। जगत इन्हींके समुदायको कहते हैं। इसलिये यह जगत भी सतरूप अनादि अनंत अकृत्रिम है—द्रव्योंके सदा बने रहनेकी अपेक्षासे यह जगत नित्य है। अवस्थाओंके पलटनेकी अपेक्षा जगत अनित्य है। तुम्हारा शरीर पुद्गल द्रव्यकी एक पर्याय है। तुम्हारे भावोंसे रागादि दोष जीवके भावोंकी अशुद्ध पर्याय हैं। इस अनादि लोकमें तुम सब पुद्गलकी संगतिसे नाना भेष बनाते हुए भ्रमण कर रहे हो। पुद्गलकी संगतिसे ही हमारी तुम्हारी हीनदीन अवस्था होरही है। हमने तुमने शरीरसे व शरीरके संबन्धी स्त्री, मित्र, पुत्रादिसे व धन, भूमि, सोना, चांदी आदिसे व सांसारिक सुख दुःख भासरूप अशुद्ध परिणतिसे व परके हित व अहित करनेरूप अहंकारसे गाढ़ प्रीति करली है, इसलिये पुद्गलकी संगति सदा ही बनी रहती है और हम कभी पुद्गलके मेलसे रहित हो शुद्ध व निर्विकार नहीं होते हैं। जो जिससे राग करता है वह उससे बंध जाता है—"हमें कर्म बाधे हुए हैं" 'हमें कर्म सता रहे हैं" ये दीनोंके वचन हैं। यदि हम आज पुद्गलसे प्रीति छोड़ दें, पुद्गल हमसे हटने लग जायगा और हम उससे छूटकर शुद्ध एकाकी होजांयगे।

बस, हे वत्स! तू अपने आत्माके स्वभावकी सम्हाल कर। इसे अच्छी तरह परखकर अपनाले। तेरा स्वभाव परम शुद्ध परम

शांत, परम ज्ञानी, परम निर्विकार, परम सूक्ष्म, अमूर्तीक तथा परमानंदमय है। इसी एक भावका नकशा अपने शरीरके प्रमाण अपनेमें देख–श्री सिद्धभगवानका भी ऐसा ही स्वभाव है। सिद्ध भगवान व्यवहार नयसे लोकके शिखरपर विराजमान हैं, परन्तु निश्चयनयसे अपने ही स्वरूपमें हैं। वैसे ही मैं व्यवहारनयसे इस शरीरमें शरीरप्रमाण हूं तथा निश्चयनयसे मैं अपने ही स्वरूपमें हूं। इसी स्वरूपका मनन करना ही तेरी शुद्धिका कारण है। तू सन्त समागमका प्रेमी हुआ है। तेरा परम पुण्य उदय आया है। तू एकान्तमें बैठकर सर्व द्रव्योंसे चित्त रोक ले और परम समताभावके लिये सर्व जगतके द्रव्योंको निश्चयनयसे शुद्ध स्वभावमय देख। बस, रागद्वेष हटा देगा और वीतरागमय स्वरूपमें विश्राम करके जो आनन्द प्राप्त करेगा वह वचनातीत है। यही आनन्दका भोग परम योग है, यही अपूर्व निरोग है व यही परम मनोग है, यही मुक्ति-रमणीका योग है। बस, तू सन्तोषसे रम और सुखी हो।

(११)

श्रीगुरु दयालु हो उपदेश करते हैं—

हे वत्स! तू इस मानवजन्मको बड़ा दुर्लभ समझ। देख, सब संसारी जीवोंमें मानवोंकी संख्या अल्प है। जो बहुमूल्य वस्तु होती है वह बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती है। जगतमें रत्न कम हैं, कंकड़, पत्थर बहुत हैं। जीव अनादि अनत अकृत्रिम है, संसारमें ही अनादिकालसे है, बहुत अधिक समय इसका एकेंद्रिय स्थावर पर्यायोंमें बीतता है। स्थावरसे त्रस होना बहुत दुर्लभ है, त्रसमें पशुसे मानव होना अति कठिन है। मानव गति सर्वोत्तम है

क्योंकि यह सयमका साधन है। इस शरीरके विना कोई शरीर धर्मध्यान व शुक्लध्यानका आराधन कर मुक्ति नहीं पा सक्ता है। मानव जन्ममें भी आकर सत्संगति व बुद्धिबल व निरोगता पाना महत पुण्यका फल है। तूने पुण्यके उदयसे ये सब बातें पा ली हैं। अब भी यदि तू आत्मोन्नतिकारक मार्गको नहीं पहचानेगा और योंही इस जन्मको खो देगा तो फिर तुझको ऐसा अवसर मिलना ऐसा ही दुर्लभ होगा जैसे रत्न समुद्रमें फेंका हुआ मिलना कठिन होता है। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। व्यवहारमें सात तत्वका श्रद्धान, ज्ञान व श्रावक तथा मुनिका चारित्र पालना मोक्षमार्ग है। निश्चयमें निज आत्माके सच्चे स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान व उसीमें तन्मय होना मोक्षमार्ग है—यही अतिशय कठिन है। तेरा लक्ष्य इस परमोत्तम मार्गपर दिलाया गया है। अब तू इसे भूल नहीं और अपनी शक्तिके अनुसार इस मार्गपर चलना प्रारम्भ कर। जो चलते हैं वे बढ़ते हैं, जो प्रमादी हैं वे कभी उन्नति नहीं करते। प्रमाद इस जीवका वैरी है, प्रमादको आत्मबलसे हटाना चाहिये। प्रिय भव्य! निश्चय मोक्षमार्ग विना व्यवहार मार्ग आत्मशुद्धिका कारण नहीं है। व्यवहार मार्ग कुमार्गमें पतनसे बचानेवाला एक आलम्बन मात्र है। इस आश्रयके प्रतापसे सुमार्गमें जमे हुए तुझे निज आत्मामें ही विश्रांति प्राप्त करनेका उपाय करना चाहिये। तेरा आत्मा स्वयं स्वतंत्र है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, परम शांत है, परमानन्दमय है, अमूर्तीक है, तेरे शरीरप्रमाण चैतन्यमई आकार-धारी है। यद्यपि कर्म अम्बरमें आत्म सूर्य लुप्त है तथापि बुद्धिबलसे अम्बरको हटाकर आत्म सूर्यकी शुद्ध चमकते हुए स्फटिकके आका-

-रवत् देखना चाहिये और सर्व ओरसे उपयोगको हटाकर उसीकी -ही परिणतिमें रमा देना चाहिये। यही रमाना योग या ध्यान है, यही बंधका उच्छेदक है। जो सर्व द्वन्द्वसे मुक्त हो, निश्चिन्त हो स्वस्वरूपके रमनकर्ता हैं, वे ही कृतकृत्य हैं, वेही सुखी और शांत हैं, वेही परम धनी हैं, वेही परम विद्वान हैं, वेही परम तपस्वी हैं, वेही उच्चकुली हैं तथा वेही परम माननीय और सत्य सम्यग्दृष्टि हैं।

(१२)

परमगुरु परमदयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स ! तेरी गाढ़ रुचि उपदेश सुननेकी देखकर मुझको बहुत आनन्द है। तू निकट भव्य है, तुझे अवश्य सम्यग्दर्शनका लाभ होगा। तूने जिस धर्मरूपी नौकाका आश्रय लिया है वह तुझे अवश्य संसारसागरसे पार करेगी। धर्म जीवका परम मित्र है, धर्म इस आत्माका स्वभाव है। इस संसारी आत्माको जिसे वर्तमानमें अपना स्वरूप प्राप्त नहीं है निज स्वरूपकी प्रगटताका साधन एक मात्र अपने स्वभावरूप धर्ममें विश्रांति प्राप्त करना है। जो स्वभावमें लय होते हैं वे ही स्वभाववान हो जाते हैं और विभावोंका नाश कर डालते हैं। आत्माका स्वभाव परम शुद्ध अमूर्तीक शरीराकार ज्ञाता दृष्टा वीतराग और आनन्दमय है। यह अपने गुणोंसे सदा परिपूर्ण रहता है तथापि पर्यायोंकी अपेक्षा परिणमनशील है। यह नित्य अनित्यस्वभाव है. यह अस्ति नास्ति स्वभाव भी है। इसमें स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावकी अपेक्षा अस्तित्व है जब कि परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावकी अपेक्षा नास्तित्व है। यह स्वभावसे स्वशुद्धभावोंका कर्ता व स्वशुद्धभावोंका ही भोक्ता है।

यह ज्ञान चेतनामई शुद्ध प्राणोंका धारी है। यह निश्चयसे कर्मचेतना व कर्मफलचेतनासे भिन्न है। इस आत्मामें विभावरूप परिणमनकी भी शक्ति है। जब कर्मोंके उदयका निमित्त होता है तब यही रागादि विभाव भावोंमें व नरनारकादि पर्यायोंमें परिणमन करता है। व्यवहार दृष्टिसे यह कर्मोंकी संगतिसे पड़ा हुआ इस संसारकी ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण किया करता है। इसी विभावताको दूर करना ही उद्देश्य है। इसीकी सिद्धि अपने आत्माके शुद्ध स्वभावपर विश्वास लाने, उसीका यथार्थ सशयरहित ज्ञान प्राप्त करने व उसीमें लीन होकर स्वाद लेनेसे होती है। इसीको निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र कहते हैं। इस अभेद रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये व्यवहार धर्म मुनि व श्रावकका वताया गया है, परन्तु निश्चयधर्मके विना वह मोक्षमार्ग नहीं हो सक्ता है। उपादान या मुल कारण आत्माके स्वरूपाचरणका यह आत्मा स्वयं है। जैसे सुवर्णके शुद्ध होनेका मूल कारण स्वयं सुवर्ण है, अग्नि आदि निमित्त है, वैसे व्यवहारधर्म मात्र निमित्त है। जबतक कायकी पूर्णता न हो दोनों कारणोंकी आवश्यक्ता है।

हे भव्य! ऐसा धर्मका स्वरूप समझकर तू निश्चित हो और एकान्तमें बैठकर अपने परमात्मदेवको अपने देहमंदिरमें तिष्ठा हुआ देख। उसकी ही भाव लगाकर पुजा कर। जब तू उसे दृष्टिभर देखेगा तेरी दृष्टि उसमें तन्मयता पाएगी। दृष्टा, दृश्यका भेद तब मिट जायगा, द्वैत भावका अद्वैत हो जायगा, भिन्न योगसे एक योग हो जायगा, ध्याता व ध्येयसे एक ध्यानमय हो जायगा, तब त्याग ग्रहणकी कल्पना मिटायगा। जो आप है वही आपमें प्रकाशमान

हो जायगा। मानो यह आत्मीक उपयोग अपने ही सुख समुद्रमें डूब जायगा और उसीके सुधामय शांत जलका पानकर परम तृप्ति बढ़ायगा।

(१३)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स! तू अच्छी तरह इस ससार नाटकका स्वरूप विचार कर इससे उदासीन होजा। यह ससार अपने निज स्वरूपको भूलकर परपदार्थोंसे मोह बढाकर निरंतर दुःख उठाया करता है। संसारमें रागद्वेषका कारण यह विश्वास है कि इंद्रियोंके विषयभोगोसे सुखशांतिकी प्राप्ति होगी। इसी रुचिके वश अनादिसे यह अज्ञानी जीव जिस जिस शरीरको प्राप्त होता है और जिसमें जितनी इंद्रियां प्राप्त करता है उनकी इच्छाओंकी पूर्तिमें दिनरात लगा रहता है। बहुतोकी इच्छा पूरी नहीं होती है। यदि किसीकी इच्छा पूरी होती है तो जिस पदार्थका सयोग होता है उसका थिर रहना व एक दशामें रहना बहुत ही दुर्लभ है। देखतेर उस पदार्थका वियोग होजाता है व वह पदार्थ उसकी इच्छानुसार वर्तन नही करता है। फल यह होता है कि वह उस पदार्थके वियोगकी चिंताके कारण अथाह दुःखके समुद्रमें डूब जाता है तथा एक इच्छाके पूरी होते ही उसी जातिकी दूसरी इच्छा बड़े वेगसे उठ जाती है। फिर उसकी पूर्तिमें और दूसरी पहलेकी अनेक इच्छाए मौजूद हैं उनकी पूर्तिमें चेष्टावान रहता है। पूरी नहीं होनेतक महा आकुलव्याकुल रहता है। यदि कोई फिर पूरी होजाती है तो फिर भी और कोई पैदा होजाती है। इधर इच्छाएं बढ़ती जाती हैं उधर शरीर दिनपर

दिन जीर्ण होता जाता है। जरा घेर लेती है और यह यकायक देखता ही रह जाता है। इच्छाओंकी पूर्तिकी आशा हीमें रहता है कि इस शरीरको छोडकर अन्य शरीरको प्राप्त होजाता है। वहां फिर वही इच्छाओंकी पूर्तिका चक्कर चलता है। इस तरह एकेन्द्रियसे पचेन्द्रिय तकके शरीरोंको धार बार कर इस जीवने बड़े२ कष्ट व संकट उठाए हैं, कभी भी सुखशांतिका लाभ नहीं किया है। प्रिय भव्य जीव! जो सुखशांति अपने ही आत्मामें मौजूद है उसका इसने किंचित् भी ख्याल नहीं किया है। इस अज्ञानीकी दशा वही रही है जैसे अपने हाथमें सुवर्णकी मुद्रिका होते हुए भी भूल जावे और उसकी तलाश सब जगह कर आवे। पर वह तो तब ही मिले जब "अपने हाथमें ही मुद्रिका है" ऐसी सुध आवे। इसलिये तू इन इंद्रियोंके दासत्वका परित्याग कर, इन इंद्रियोंकी इच्छाओंको रोग जान इनसे बच और सुखशांतिके लिये अपने ही आत्माके निर्मल बागमें क्रीड़ा कर। तू जब अन्य अनात्माओंसे छूटकर अपने निज आत्म वनमें प्रवेश ही करेगा कि तुझे सुखशांति मिलना शुरू होजायगी। तू जबतक आत्म उपवनमें रहेगा कभी भी दुःख और अशांतिका भोग नहीं करेगा। वहां दुःखके कारण मोह राग द्वेष प्रवेश ही नहीं कर सकते हैं। वहा वीतरागताकी ठडक ऐसी बढ़िया रहती है कि सब इंद्रिय-विषयकी चाहकी दाह तुर्त शांत होजाती है। तू इस उपवनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि गुणरूपी वृक्षोंकी शोभा देख और इनकी छायामें विश्राम कर व इनके स्वानुभवरसपूर्ण फल खा। हे आत्मन्! तू इस अपने ही आत्मारूपी वनमें विहार कर, यहीं स्थान जमा, यहीं आराम कर।

तुझे अतीन्द्रिय आनन्दका जो अपूर्व लाभ होगा उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता है । बस, दिलको फेर और सुखी होजा ।

(१४)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैं:—

रे वत्स ! तूने क्या उस सूक्ष्म शरीरपर ध्यान नहीं दिया है जो इस जीवके साथ अनादिकालसे चला आरहा है, जिसको कार्मण शरीर कहते हैं ? यह सूक्ष्म पुद्गल वर्गणाओंका पिंड है। ऐसी वर्गणाएं अनन्त परमाणुओंके बंधनसे बनती हुई लोकभरमें व्याप्त हैं। इनमें तैजस वर्गणाओंमें जिनको बिजलीके पुद्गल कह सक्ते हैं उनसे अनन्तगुणी अधिक शक्ति है । यही पुण्य व पाप कर्मका बना देह है । इस शरीरमें हरसमय हमारे आत्माके प्रदेशोंके सकम्प होनेसे ये कर्मवर्गणाएं खिंचकर आती हैं और हमारे भीतर क्रोध, मान, माया या लोभका जितना बल अधिक या मन्द होता है उतने अधिक या कम कालतक बंधनरूप होकर आत्माके प्रदेशोंमें ठहर जाती हैं और ये ही अपने समयके भीतर बंटकर समय२ झड़ती रहती हैं। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इनके फलके अनुकूल होता है तब तो ये फल प्रगट कर, नहीं तो योंही झड़ जाती हैं। कभी २ हम अपने वीतराग भावोंके कारण इन बंधे हुए कर्मोंको अपनी आत्मासे उनके फल देनेके समयके पहले ही छुड़ा डालते हैं, कभी हम उसकी पाप प्रकृतिको पुण्यमें या पुण्यको पापमें बदल देते हैं, कभी हम अपने भावोंसे बंधे हुए कर्मोंका बल घटा या बढा देते हैं और कभी हम उनकी म्यादको कम या अधिक कर देते हैं । जैसे स्थूल शरीरमें लिये हुए हवा, पानी, भोजनादि स्वयं पचते रहते हैं, रस, रुधिरादि

बनते रहते, शरीर यंत्रको शक्ति देते रहते और झड़ते हैं उसी तरह सूक्ष्म कार्मण शरीरमें कर्म पुद्गल स्वयं बंधते पचते, फल देते व झड़ जाते हैं। इन कर्मोंके आठ मुख्य या मूल स्वभाव या प्रकृति हैं। ज्ञानावरण कर्म आत्माके ज्ञानबलको प्रगट होनेसे रोकता है, दर्शनावरण कर्म आत्माके सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन गुणको प्रगट होनेसे रोकता है, वेदनीयकर्म सांसारिक साता व असाता पानेका निमित्त जोड़ता है, मोहनीयकर्म आत्माके श्रद्धान व चारित्र (वीतरागभाव) को बिगाड़ता है, आयुकर्म किसी जन्ममें लेजाकर रोक रखता है, नामकर्म शरीरकी अच्छी या बुरी रचना करता है, गोत्रकर्म लोकपूजित या निंदित कुलमें सम्बंध कराता है तथा अंतराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (उत्साह)में विघ्न करता है। ये आठों ही कर्म आत्माकी स्वाधीनताके बाधक हैं। जो इन सबसे छूट जाते हैं वे ही मुक्तात्मा या सिद्ध कहलाते हैं। इन सबका गुरु मोहनीयकर्म है। क्योंकि मोहके कारण यह जीव संसारके पदार्थोंमें उलझकर रागद्वेष कर लेता है, राग, द्वेष, मोह हीसे कर्मोंका बंध हुआ करता है। जो मोहको जीत लेते हैं वे ही सच्चे जैनी हैं।

प्रिय भव्य! तू इसी शत्रुके विजयका यत्न कर। इसके विजयका उपाय अपने ही शुद्ध आत्माके असली स्वभावको पहचानना, उसपर ही रुचि बढ़ाना व उसका ही ध्यान करना है। निश्चयनयसे आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमवीतराग अमूर्तीक व परमानंद मई शुद्ध जलके समान हैं। अपने ही शरीर भरमें व्यापक है। यह परिणमनशील अर्थात् भावोंके पलटनेकी शक्ति रखता हुआ भी अविनाशी व अकृत्रिम है, इसकी ओर चित्तके जोड़नेसे ही परम

सुख होता है। आवश्यक यह है कि तू अपने मनको सब ओरसे खींचकर हठपूर्वक मोहके परिवारसे हटाकर अपने स्वरूपमें जमानेका अभ्यास कर। नित्य एकांत सेवन कर स्वस्वरूपकी श्रद्धारूपी गुफामें तिष्ठकर जागता रह और स्वस्वरूपको ही आठ कर्मोंसे रहित देखता रह। यही अपने परमकल्याणका उपाय है।

(१५)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते है:—

हे वत्स! यह संसार संयोग वियोग रूप है, इसहीसे महान् दुःख रूप है। यह अज्ञानी प्राणी अपने सच्चे आत्मिक सुखको भूले हुए रात दिन इन्द्रियोंके विषयाधीन सुखमें उन्मत्त है। यह सुख पराधीन है—बाहरी पदार्थोंके संयोग द्वारा अनुभव किया जाता है। जब इच्छित पदार्थका सयोग होजाता है तब इसका रागभाव अधिक बढ़ जाता है जिससे यह रागी जीव उस ही पदार्थका वार वार सम्बन्ध होना चाहता है। वार वार सम्बन्ध होजाने पर भी अवश्य कई अवसर आते है जब कुछ कालके लिये उसका वियोग होजाता है अथवा कभी ऐसा वियोग होजाता है कि फिर उस पदार्थका उस रूपमें मिलना ही असम्भव होजाता है। बस यह अपूर्ण या पूर्ण वियोग ही महान् दुःखका कारण होजाता है। स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु, धन, राज्य, यौवन, बल, शरीर आदि सब पदार्थ सयोग वियोगरूप हैं। सयोग सुखरूप व वियोग दुःखरूप होजाता है क्योकि संयोगके पीछे वियोग होता है इसलिये दुःखकी मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। रोग, आपत्ति, दारिद्रय, शत्रु आदिके संयोग तो महान् दुःखरूप होजाते हैं। अनिष्ट सयोग भी वैसा ही

दुःखरूप है। ये दोनों ही कर्माधीन मानवके लिये अवश्य प्राप्त होते हैं। बस, शरीरधारीको कभी निराकुलता प्राप्त नहीं होती है। आत्मा अमूर्तीक व अविनाशी है। इसीसे न खंडित होता है न नष्ट होता है। संसारचक्रमें पुनः पुनः पाप व पुण्यके अनुसार एकेंद्रियसे ले पचेन्द्रिय तकके शरीरोंको धारण कर अतृप्तिकारी क्षणिक सुख तथा इष्टवियोग अनिष्ट संयोगका अपार दुःख उठाया करता है। जबतक तीव्र मोहका उदय है तबतक यह प्राणी कभी भी सुखी नहीं होसक्ता है इसलिये हे भव्य! तू निज आत्माकी और उसके स्वाभाविक आत्मीक सुखकी पहचान कर! जिनको स्वस्वरूपका सच्चा ज्ञान व श्रद्धान होजाता है और जो स्वाधीन आनदमें विलास करने लग जाते हैं उनको ही शरीरमें रहते हुए भी सच्चा सुख मिलता है तथा उनको ही सयोग व वियोगके दुःख अधिक पीड़ित नहीं करते हैं। जितना२ उनका स्वात्मानुभव बढ़ता जाता है उतना २ ही उनका सुख भी बढता जाता है और दुःख घटता जाता है। इसलिये तू सिद्ध समान अपनेको मानकर द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे भिन्न शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र व आनन्दका पुञ्ज अपनेको अनुभव कर—अपना उपयोग सम्पूर्ण परसे हटाकर एक निज शुद्धस्वरूपमें जमादे। यहीं विश्राति पाले, बस सच्चा सुख पावेगा, दुःख घटावेगा और शनैः२ स्वाधीनताका स्वामी हो जावेगा।

(१६)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैः—

हे वत्स! इस जगतमें वही आत्मा सुखी रह सक्ता है जो बाहरी जगतमें रहता हुआ भी उससे मोह नहीं करके अंतरंग

जगतमें प्रेम बढ़ाता हुआ उसीका अवलोकन करनेवाला बना रहता है। शरीर व उसके सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्ब, धन, मकान, रुपया, आदि बाहरी जगत है जिनका सयोग व वियोग होता हुआ सबके देखनेमें प्रगट आता है इसके सिवाय ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मोका बना हुआ कार्मण देह जिसका उपादान कारण सूक्ष्म इंद्रिय अगोचर कार्मण पुद्गल स्कंध है तथा तैजस शरीर जो तैजस जातिके पुद्गल स्कंधोंका बना हुआ है ये दोनों भी बाहरी जगत हैं क्योंकि आत्माके बाहर पुद्गल द्रव्यसे बने हुए है।

आठ कर्मोके कारण जो अज्ञान, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अनुत्साह, प्रमाद, आदि औपाधिक औदयिक हैं ये भी बाहरी जगत हैं—क्योंकि यह सब कर्मोका भाव ही विकार है—कर्मोका ही मल है, कर्मोके स्कंधोंमें ही रही हुई अनुभाग शक्तिका ही परिणाम है। अंतरग जगत अपने आत्माके असख्यात शुद्ध आत्मप्रदेश हैं जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आदि अनेक गुण कल्लोल कर रहे हैं— जिनमें सर्व अतरंग बहिरग जगतके जानने व देखनेकी शक्ति है। वास्तवमें लोकालोकका ज्ञायक आत्मा ही अपना अंतरग जगत है। यह वास्तवमें एक ऐसा दर्पण है जहां सर्व कुछ ज्योंका त्यो दिखता है। अंतरग जगतके प्रेममें सदा निराकुलता व आनन्द है जबकि बहिरंग जगतके प्रेममें सदा चिन्ता, खेद और दुःख है। हे वत्स! जो अंतरंग जगतके दृष्टा हैं वे ही अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि हैं—वे मोक्षमार्गी हैं, ससारसे उन्मुख हैं, वे ही महात्मा हैं, वे ही योगी हैं जिन्होंने अपना योग या संयोग अपने ही आप जोड़ लिया है।

जो बाहरी जगतसे बिलकुल मोह नहीं करते हुए बिलकुल

अपने अंतरंग जगतमें ही एकाग्रभावसे लीन होजाते हैं वे ही साधु या यति हैं, वेही अरहंत परमात्मा होजाते हैं तथा वेही सर्व बाहरी जगतके सम्बन्धसे छूटकर मात्र अंतरंग जगतरूप केवल आत्मस्वभावरूप ही रह जाते हैं जिनको सिद्ध परमात्मा कहते हैं।

तू उनहीका भजन कर, उनहीका पूजन कर, उनहीका सेवन कर, उनहीकी भक्ति कर जिन्होंने अंतरंग जगतमें ही विश्राम प्राप्त किया है और निरंतर यही भावना कर कि मेरा आत्मा भी इस ही प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त होजावे। ये अरहंत, सिद्ध, साधु आदि तेरे लिये एक नमूना है, तेरे लिये एक आदर्श है, तू इनके समान बन, यही तेरा निर्मल ध्येय रहना उचित है। इनका आश्रय ले और तू भी अपने अंतरंग जगतके अवलोकनका अभ्यास कर। तू अपना श्रद्धान ऐसा ही बना ले। और तु अपने भावोंमें यही भाव जमा ले और निरंतर समय निकालकर व निश्चिन्त होकर तू अपने शरीरमें व्यापक अपने ही आत्माका अवलोकन कर। ज्ञानदृष्टिसे श्रद्धाद्वारा उसीका दर्शन कर। मन कपिको वैराग्यके खंभेमें बांधदे, एकचित्त हो उसी शांत व आनन्दमई ज्ञाताद्रष्टा तत्वका ध्यान कर, अंतरंग जगतका ही प्रेमालु होजा, उसीमें ही विश्रांति पा जा, उसीमें ही तन्मयता जमाले, इस ही मार्गसे तू सुखिया होजायगा और सर्व आपत्तियोंसे रहित एक स्वानुभूतिमई शांतभावका स्वामी होजायगा।

(१७)

श्रीगुरु परम दयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स! इस जगतमें वे ही धन्य हैं जो सम्यक्तसे विभूषित होते हैं, जिनके भावोंमें सर्व ही पदार्थ जैसेके तैसे झलकते हैं। यद्यपि

वे अल्पज्ञ हैं तथापि सर्वज्ञ तुल्य जो कुछ जानते हैं वह यथार्थ जानते हैं। सम्यक्त्वकी महिमा अगाध है। सम्यक्त्वका धारी यद्यपि अविरति है तो भी मोक्षमार्गी है। उनके सर्व ही भाव ज्ञानमई होते हैं, उसका ध्येय शुद्ध आत्मीक भाव होता है। अशुद्ध भावसे उदासीनता उसके दिलपर पूर्णतया छाजाती है। यद्यपि सम्यक्त्वी पूर्वबद्ध कषाय नाम मोहकर्मके उदयसे इंद्रियके विषयोंमें प्रवृत्त होता है तथापि उस कर्मके उदयको व अपनी विषयकी प्रवृत्तिको दोषरूप समझता है, उसे रोग जानता है, इसलिये इस रोगसे मुक्त होना चाहता है। सम्यक्त्वीके अंतरङ्ग भावोंमें अपने आत्माका यथार्थ श्रद्धान होजाता है कि यह आत्मा सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म व रागद्वेषादि भावकर्मोंसे जुदा है, यह शुद्ध चित्पिंड, शरीर प्रमाण आकारधारी, परमवीतरागी, परमसुखी व परमपदार्थ है। यह आत्मा जब ज्ञाता और ज्ञेय दोनों रूप है तब पांच अजीव पदार्थ मात्र ज्ञेयरूप हैं। इस आत्माकी सत्ता हीके द्वारा अन्य पदार्थोंकी सत्ताका बोध होता है। जैसे हंसको पानी और दूध भिन्न२ भासता है, जौहरीको सच्चा झूठा नगीना अलग२ दीखता है, सुवर्णकारको सोना और चांदीकी मिश्रित पिंडमें भी सोना और चांदी अलग२ मालूम होते हैं, प्रवीण वैद्यको एक औषधिकी गोलीमें जितनी दवाइयां हैं वे सब जुदी२ प्रगट होती हैं, इसी तरह सम्यक्त्वीको अजीव पदार्थोंके मध्यमें छिपे हुए आत्माका भी यथार्थ व सबसे भिन्न एकरूप श्रद्धान होता है। सम्यक्त्वीके कल्लोल करनेका क्रीडावन अपना ही आत्मीक उपवन होता है जहांके गुणरूपी वृक्ष परम शोभाको विस्तारते हैं। उसका घर-अपने आत्माका ही स्थान होता है, उसका भोजन स्वात्मानुभू-

तिसे उत्पन्न अपूर्व सुखामृत होता है, उसका विश्राम अपने ही स्वभावकी शय्यामें होता है, उसका कार्य आत्मस्वरूपकी सर्व परसे रक्षा करते हुए आत्मबलकी वृद्धिसे स्वरूपश्रद्धानमें अटलरूपसे जमे रहना होता है। दर्शन मोहका अनल उसे दग्धायमान नहीं कर सक्ता है। हे भव्य ! तू जिस तरह बने इस सम्यक्त्व—रत्नका लाभ कर। इसका उपाय यही है कि तू नित्य कुछ देरके लिये एकान्त-सेवी होकर भेदविज्ञानका मनन कर कि मैं भिन्न हूं और सब मुझसे परे मुझसे अन्य है, अन्य थे व अन्य रहेंगे, न मेरे कभी कर्मका बंध था न है व न कभी होवेगा। इसीका मनन तेरी मिथ्यात्वकी कालिमाको मिटावेगा, अनन्तानुबंधी कषायका दमन करेगा और तुझे संसारके अंधकारसे शनैः२ लेजाकर मोक्षके प्रकाशमें पहुंचा देवेगा।

(१८)

श्रीगुरु परम दयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स ! तू गंभीरतासे विचार कर। यह जगतका नाटक मात्र हर्ष विषादका कारण है। जैसे नाटकके कार्य चिर नहीं रहते हैं वैसे जगतके दृश्य अस्थिर हैं। जिन दृश्योंको देखकर यह अज्ञानी हर्षायमान होता है उनही दृश्योंका विलय इसे विषाद प्रदान करता है। जिनके अंतरंगमें सम्यग्दृष्टि जाग्रत होगई है जिनको आत्मीक सुखका स्वाद आने लग गया है, उन महात्माओंके मन दर्पणके समान विकार रहित रहते हैं, वे दृश्योंके मात्र दृष्टा व ज्ञाता ही रहते हैं। उनके रूपमें मोहित होकर राग व द्वेष नहीं करते हैं, जैसे समझदार प्राणी सूर्यकी अतापको थिर नहीं जानकर उसके रहनेपर हर्ष व चले जानेपर शोक नहीं करते हैं।

उसी तरह ज्ञानी सर्व जगतकी अवस्थाको अथिर व चंचल जानकर उनके प्रगट होनेपर हर्ष व उनके विलय होनेपर खेद नहीं करते हैं। ज्ञानी द्रव्यकी दृष्टिसे जगतको देखते हैं। उनके भीतर यह निश्चयनयकी दृष्टि जाग्रत रहती है जिससे वे इस जगतको सदा ही शुद्ध, निर्विकार देखते है। उनको इस जगतमें भरे हुए छहों द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल सब भिन्न२ अपने स्वभावमें प्रगट होते हैं। जीव यद्यपि अनन्तानंत हैं तथापि ज्ञानीकी दृष्टिमें सब ही एक आकार, शुद्ध, एक स्वभाववाले दीखते हैं। सब सिद्ध परमात्मा ही हैं, इस द्रव्यकी दृष्टिसे देखते हुए शत्रु या मित्रका भाव नहीं रहता है। न कोई लघु न कोई दीर्घ दिखता है, न कोई सेवक न स्वामी नजर आता है, न कोई देव न नारकी न पशु न मनुष्य दिखते हैं, न कोई राजी न कोई नाराज नजर आता है। सब ही जीव परमानन्दमें निमग्न परम वीतरागी दृष्टि पड़ते हैं। क्याही मनोहर दृष्टि है? इसी दृष्टिमें समताभाव जग जाता है। यही सच्चा चारित्र है। यही मुक्तिका सोपान है। यही आनन्दका स्थान है। यही रत्नत्रयमार्गके एकत्वका ज्ञान है। बस हे भव्य! तू किधर मोह करके क्लेशित हो रहा है? उठ, जागृत हो और बलपूर्वक मोहको हटाले। अपनेमें ही अपने आपको देख। मैं शुद्ध चित्पिड, अखंड, अविनाशी हूं, मैं ही ज्ञाता हूं, मैं ही ज्ञेय हूं, मैं ही दृष्टा हूं, मैं ही दृश्य हूं, मैं ही भोक्ता हूं, मैं ही भोग्य हूं, मैं ही सेवक हूं, मैं ही सेव्य हूं। अथवा मैं इस विचार तरंगावलीसे भी परे एक अक्षोभित समुद्रसम परम गंभीर आप आपमें मगन हूं। क्या हूं क्या नहीं हूं, इस विक-

रसे भी दूर हूं। हे शिष्य ! जब तेरा चंचल मन लवणकी डलीके समान आत्माके स्वभाव रूप पवित्र जलमें घुल जायगा और उस स्वाभाविक जलरूप एकमेक हो जायगा तब ही तू अपने तत्वको पायगा, स्वात्मानुभव जगायगा और सच्चे सुखका स्वाद पाता हुआ परम तृप्त हो जायगा।

(१९)

परमगुरु परमदयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स ! इस जगतमें वे ही सुखी हैं जो निश्चयनय और व्यवहारनयके द्वारा पदार्थकी व्यवस्थाको भले प्रकार समझकर निर्मल ज्ञानी होजाते हैं। निश्चयनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है। जैसा कोई पदार्थ सदासे अपने स्वभावमें है उसे ही दिखलाना निश्चयनयका काम है। यह एक पदार्थका ही अवलम्बन लेकर उसीका स्वरूप झलकाता है—व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है—पदार्थकी परके निमित्तसे होनेवाली अवस्थाओंको बतानेवाला है। निश्चयनयसे यदि विचार किया करता है तो यह अपना आत्मा बिलकुल आत्मरूप है। इसमें न राग है न द्वेष है न कर्म है न नोकर्म है। यह परम शुद्ध निरंजन निर्विकार अपने शुद्ध स्वाभाविक गुण और पर्यायोंसे पूर्ण है। यह आत्मा स्वयं ही परमात्मा है, परमेश्वर है, महाप्रभु है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, परमशांत है और परम आनन्दमई है। यह अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेशमई आकारका धारी है। निश्चयनय बताता है कि जैसा मेरा आत्मा शुद्ध है वैसा हरएक आत्मा स्वभावसे शुद्ध है। निश्चयनयमें संसारी और सिद्ध आत्माका भेद नहीं, इस जन्म व परजन्मका भेद नहीं, आश्रव बंध व संवर निर्ज-

राकी कल्पना नहीं, श्रावक, मुनि, केवली व मुक्त आत्माका भेद नहीं। निश्चयनयसे देखते हुए राग, द्वेष, मोहका कहीं पता नहीं। कर्म, नोकर्मका कहीं झलकाव नहीं। मात्र आत्मा आत्मरूप ही झलकता है। जीवाजीवादी सात तत्वका सर्व ही प्रबंध व्यवहारनयसे है। व्यवहारनयकी दृष्टिसे देखते हुए रागद्वेष होना संभव है, निश्चयनयकी दृष्टिमें मात्र साम्यभाव है। जो इस नयका सहारा लेते हैं वे शुद्ध आत्माके परम मनोहर उपवनमें पहुच जाते हैं और वहांकी सुख शांतिका अपूर्व लाभ पाते है। जिस निर्बल आत्माका मन निश्चयनयसे दिखाए हुए शुद्धात्माकी ओर जमा नहीं रह सक्ता है वही व्यवहारनयका आश्रय लेता है। हे भव्य! सुखशांतिमय जीवन बितानेका उपाय निश्चयनयका आलम्बन है। इसीके प्रतापसे अभेदरत्नत्रयका रूप निर्विकल्प समाधिका लाभ होता है। मोहके प्रपचजालोंमें फसे हुए मनको निकासकर आत्माके उपवनमें क्रीड़ा कराना यही प्रयत्न सराहनीय है। तू निश्चिन्त होकर नित्य दो घड़ीके लिये सबसे किनारा कस और एक भावसे एक अपने ही आपमें दृष्टि धर। अपने आत्माको वीतरागमय आनन्दका सागर समझ। उसीमें डुबकी लगाकर वारवार स्नान कर। यही उपाय तेरे सांजन आत्माको निरंजन वना देनेवाला है।

(२०)

श्री गुरुपरमदयालु हो समझाते हैं—

हे शिष्य! जो जीव सम्यक्त गुणसे विभूषित होते हैं, जिसके भीतर आत्मा और अनात्माका भेदविज्ञान जग जाता है, जो अतीन्द्रिय आनन्दका मजा पालेते हैं, जो संसारको आत्माके लिये वंधन

मान लेते हैं, जो स्वाधीनताको ही आत्मीक सम्पत्ति स्वीकार करते हैं, जिनको सब जगतकी आत्माएं अपने समान निश्चयनयसे झल-कती हैं, जो व्यवहारनयसे भी अपने दुःखोंके समान परको दुःखी करना बुरा समझते हैं, जो सर्व जीव मात्रपर दयालु हो सबके साथ प्रेमालु हैं, और सब जीवोंका भला चाहते हैं, जिनकी दृष्टि निज आत्माके विकाश करने और उसे पूर्ण शुद्ध बनानेपर है ऐसे सम्य-ग्दृष्टि जीव प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य इन चार लक्षणोंसे लक्षित होते हैं। उनका मन शांतभावसे वासित होता है। वे निर-तर शांतिके उपासक होते हैं। वे क्रोधादि कषायोंके कारणोंके होने पर ज्ञानबलसे विचार करके व्यवहार करते हैं, वे अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे अन्याययुक्त क्रोध नहीं करते हैं। उनका मन भी तीव्रमानसे कठोर नहीं होता है। अति लोभके आनेसे उनमें संतो-षका गुण पैदा होजाता है। वे तीव्र मायाचार न करके यथासंभव सरल वर्ताव रखते हैं। उनके मनमें शांतभाव, उनके वचनोंमें शांत भाव, उनके मुखपर शांतभाव व उनकी शरीरकी चेष्टामें शांतभाव झलकता है—जिस परमशांत परमात्मा समान अपनेको जानता है, उसकी छायाका दृश्य उसके बाहरी अंगोपांगोंपर प्रकाशमान रहता है। संसार दुःखमय है, शरीर अपवित्र व नाशवंत है, भोग अतृ-प्तिकारी हैं, यह भाव संवेग है, धर्म ही सुखदाई है, मोक्ष ही पवित्र है। आत्मानन्द भोग ही तृप्तिकारी है। यह भाव भी संवेग है। इस भावके कारण सदा ही भवजालके कारणोंसे बचनेका उद्यम करता है। अनुकम्पा अर्थात् दया तो उसकी अपूर्व होती है। कोई प्राणी एकेन्द्रियसे ले पंचेन्द्रियतक मेरे मन, वचन, कायके द्वारा कष्ट न

पावे, मै यथासंभव सबका रक्षण करू व जो शक्तिया मेरे पास मेरे पुण्यके उदयसे प्राप्त हैं, उनसे मै सर्व प्राणीमात्रका यथासभव उपकार करूं, यह भाव उसको दयाभावसे वर्तन कराता है। यह खानपानादि व्यवहारसे यथासभव अन्य प्राणियोंको बहुत अल्पकष्ट देता हुआ अपना काम चलाता है—वृक्षा पीड़ा नहीं पहुचता है। आहार, औषधि, अभय व विद्यादानमें सदा उद्यत रहता है। जीवमात्रको आत्मज्ञानी बनानेका प्रेम इस ज्ञानीके हृदयमें पैदा हो जाता है। आस्तिक्य भाव यहातक है कि इस ज्ञानीको आपेक्षिक नास्तिक्यके सिवाय सर्वथा नास्तित्व कहीं दिखता नहीं है। वह जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल इन छः द्रव्योंकी मूल सत्ताको स्वीकार करता है, उनकी अवस्थाओंका बदलना ही ससार है। एक द्रव्यका दूसरेमें, एक गुणका दूसरे गुणमें, एक पर्यायका दूसरे पर्यायमें ही नास्तित्व मानता है। वह आत्माके नित्य अस्तित्वको मानते हुए जब यह मानवदेहसे अन्य देहमें प्राप्त होता है तब पर्यायकी दृष्टिसे अन्य देहमें मानव देहका व अन्य देहमें बसे हुए आत्माकी अवस्थामें मानव देहमें बसे हुए आत्माकी अवस्थाका नास्तित्व मानता है। ऐसा सम्यक्ती जीव ही सुख—शातिका भोग कर सक्ता है। हे भव्य! तू भी इस सम्यक्त गुणको दीप्तमान करनेका उद्यम कर। इसके लिये एक मात्र उपाय भेदविज्ञानका मनन है। तू एकांतमें बैठकर यही विचार कर कि जैसे भूमिसे चावल अलग है वैसे मेरे शरीरादि व रागादिसे मेरा शुद्ध आत्मा अलग है। मेरा आत्मा ही मैं हूं। अन्य सर्वपर है। निज आत्माको लक्ष्यमें ले, श्रद्धापूर्वक उसे परमात्मा समान विकार रहित देखें, तथा इस

विचारके समान अन्य आत्माओंको भी अपने समान व परमात्माके समान शुद्ध देख । इस भावनाके फलसे परम समताभावको और पुनः पुनः "मैं शुद्ध स्वरूप हूं" इस भावका मनन कर । बस यह भाव जमते जमते जब कभी तू अपने आत्माके स्वभावको पकड लेगा, परमानन्दका भोग करेगा और तब ही मिथ्यात्वीसे सम्यक्ती हो जायगा ।

(२१.)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स ! इस असार समुद्रका पार नही है। इसमें इस ससारी जीवने वार वार परिवर्तन किये हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव इन पांच प्रकार परिवर्तनोंमें निरतर घूमते हुए इस जीवने अनन्त-काल नाना प्रकारकी कर्मकी पराधीनतामें पड़े हुए व क्लेश उठाते हुए बिता दिये है। पुद्गलकी कर्म व नोकर्म वर्गणाओंको इस जीवने वार वार ग्रहण कर करके त्यागा है। अनत चक्रोंमें शायद ही कोई वर्गणा बची हो जो इसने ग्रहण न की हो। लोकाकाशके असख्यात प्रदेश है । ऐसा कोई प्रदेश शेष नहीं रहा है, जहा इसने जन्म ले लेकर पूर्ण न किया हो । उत्सर्पिणी अवसर्पिणीका काल बीस कोड़ाकोड़ी सागरका है। इस कालके हरएक सूक्ष्म समयमें यह जीव वार वार जन्म तथा मरण कर चुका है । नारकीके जघन्य भव १०००० वर्षकी आयुसे लेकर उत्कृष्ट भव तेतीस सागरतक जितने एक एक समय बढ़ती आयुके भेद हैं उतनी२ आयुके धारक अनेक भव वारवार धारण कर चुका है । इसी तरह देवकी १०००० आयुके जघन्य भवसे नवमें ग्रैवेयकके ३१ सागर तकके व तिर्यंच

तथा मनुष्यके प्रत्येकके श्वांसके अठारहवें भागके जघन्य भवसे लेकर तीन पल्यके उत्कृष्ट भवतक एक एक समय बढ़ते ऐसे अनेक भव वार वार धारण कर चुका है। तो भी आजतक इसका संसारभ्रमण नहीं मिटा है। इन भवोंमें इस जीवने जन्म, मरण, रोग, शोक, वियोग आदिके अनेक असहनीय शारीरिक और मानसिक क्लेश, उठाए हैं, इच्छित पदार्थोंकी लब्धि न होनेसे बहुत ही आकुलित होचुका है। इष्ट पदार्थोंके वियोगसे बहुत ही परेशान रहा है। इस भवभ्रमण मिटानेका उपाय एक मात्र अपने आत्माके स्वरूपकी पहचान है। यह आत्मा स्वयं सुखका भण्डार व परम ज्ञानी है व इसीके रमणमें ही आनदका लाभ है। यह श्रद्धा इस आत्माके उपयोगको अन्य सर्व विभावोंसे हटानेके लिये एक प्रबल यत्न है। जो आत्माके विचारसे निज आत्माका अनुभव प्राप्त कर लेते हैं उनको ससारसे वैराग्य और मुक्तिसे प्रेम पैदा होजाता है। वे ही परम सन्तोषी रहते हुए सुन्दर जीवन वितानेवाले हैं। इसलिये हे भव्य! तू सर्व ससार प्रपचको नाटकका खेल समझ और एक भावके साथ अपने आत्म स्वरूपमें विश्राम कर। स्वरूपमें रमणता ही सर्व दोषोंको दूर करनेवाली है, सर्व दुःखोंको मिटानेवाली है— भवसागरके कर्मरूपी जलको सुखानेवाली है व निजानंद बढानेवाली है।

(२२)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैं—

वत्स! इस जगतमें वही सुखी है जिनके भावोंमें सम्यग्दर्शनकी भूमिका बन गई है, जिन्होने अपने आत्माको परमात्माके समान शक्तिशाली जानकर निश्चय कर लिया है, जिनको अपने

आत्मामें और परमात्मामें स्वभावकी समानता झलक रही है, जिन्होंने सच्चे आत्मीक सुखको ही सुख जाना है तथा उसका वास अपने आत्मामें ही माना है, जिन्होंने निश्चय रत्नत्रयस्वरूप ही तीर्थको धर्म समझा है, जिनके परिणामोंमें यह दृढ़ विश्वास है कि आत्मानुभव ही मुक्ति सोपान है व आत्मानुभव ही मुक्ति है। जिनकी दृष्टिमें संसारी आत्माओंके भीतर भी परमात्माका ही भाव प्रकाशमान होता है। ऐसे सम्यग्दृष्टी जीव निरंतर व्यवहारमें चार लक्षणोंसे लक्षित होते हैं। उनके भावोंमें प्रशम भाव जाग्रत रहता है जिससे शांति उनके भीतर बड़े प्रेमसे विश्राम करती है, अशांति उनसे विलकुल दूर भागती है। वे सदा इस वातकी चेष्टा करते है कि उनके भावोंमें क्रोध, मान, माया, व लोभ कषायोंकी तीव्रता न रहे। यकायक कषायके वशमें होजाना, इस आदतसे उनका चित्त विरक्त होता है, संवेग उनके गलेका हार होता है, धर्मप्रेम व ससारसे भय उनको अत्यन्त प्यारा होता है। धर्मकार्योंमें शामिल होना वे शातिकी प्राप्तिका स्थान समझते है, दया उनके चित्तमें सदा कल्लोल करती है, दूसरे प्राणियोंको दुःखित देखकर उनका भाव सकम्प और दयार्द्र होजाता है, वे दूसरोंके दुःखोंको अपना दुःख समझते हैं, उनकी प्रवृत्ति जैसे अपने दुःखोंके निवारणमें होती है वैसे दूसरोंके दुःखोंके हटानेमें रहती है, वे जीवमात्रके प्रेमी व उपकारी होते हैं, आस्तिक्यभाव उनका परममित्र रहता है, नास्तिक्यभावकी कालिमा उनके भावोंसे विलकुल दूर रहती है, उनको पूर्ण विश्वास है कि जगत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश इन छः सत् द्रव्योंका समुदाय है। पर्यायोंका नाश व उत्पाद होता रहे तोभी

द्रव्योंका अस्तित्व सदासे है। जैसे वे आत्माका बना रहना, उसका परलोकगमन, उसमें पुण्य तथा पापका बन्धन, उसका मोक्ष होना मानते हैं वैसे वे पुद्गलको भी नित्य जानते हैं। अभावपना उनकी निर्मल बुद्धिमें मात्र आपेक्षिक होता है। ऐसे आस्तिक्यभावके प्रतापसे वे परमात्माके सच्चे भक्त बने रहते हैं और अपने आत्माको उन्नत बनानेकी सदा चेष्टा किया करते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव ही मानव जीवनका फल पाते हैं। हे वत्स! तू जिस तरह होसके इस सम्यक्त रत्नको देख जो तेरे ही आत्मामें है, मात्र उसके ऊपर मिथ्यात्व और अनतानुबन्धी कषायका परदा पड़ा है जिससे तुझे दिखता नहीं है। इस परदेको दूर करनेका यत्न तुझे करना उचित है और वह यह है कि तू भेद विज्ञानके विचारका मनन कर। एकांतमें बैठकर यह सोच कि मैं आत्मा अविनाशी, ज्ञाता दृष्टा, आनन्दमई, परम शांत, अमूर्तीक हू, मैं रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी नहीं हूं। संसारके भेष मात्र पुद्गलके सम्बन्धसे है। मैं सिद्ध समान शुद्ध हू, मैं निर्मल जलके समान परमपवित्र हूं। अपने भीतर तू परम स्वच्छ आत्मगगाका प्रवाह बहाकर तथा अपनेको सर्व स्थानोके भ्रमणसे बचाकर उस ही आत्मगगामें मज्जनकर अपने इस मिथ्यात्वादि कर्मोंके मैलको हटानेका प्रयास कर। हे भव्य जीव! इस प्रयत्नमें तू सदा सुखी रहेगा, तेरे सब क्लेश मिट जायेंगे और अनादिसे बिछुड़े हुए अपने सम्यक्त्व रत्नका तू स्वामी होजायगा।

(२३)

श्रीपरमगुरु परमदयाभावसे समझाते है—

हे वत्स! इस जगतमें जो सम्यग्दृष्टी हैं वे किसी तरहका

मद नहीं करते हैं। कुल (पितापक्ष), जाति (माता पक्ष), धन, आज्ञा, रूप, बल, तप व विद्या इन आठ प्रकारकी योग्यता होनेपर भी ज्ञानी पुरुष इन क्षणभंगुर पदार्थोंके सम्बन्धको कुछ भी महत्त्व नहीं देते हैं। वे अपने सिद्धात्माको अपना पिता व अपनी स्वानु-भूतिको ही अपनी माता मानते हैं। वे ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि गुणोंको ही अपना धन जानते हैं, चित्तको स्वात्म सन्मुख रखना ही उनकी एक दृढ़ आज्ञा है। आत्माका शुद्ध, अमूर्तीक निर्विकार स्वरूप ही उनका रूप है। अनंत आत्मीक अमिट वीर्य ही उनका बल है। आत्मानुभवकी अग्निमें तपना ही तप है। आत्मज्ञान ही जिनकी गाढ़ विद्या है। ऐसे सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव कर्मोंके उदयसे प्राप्त होनेवाली अवस्थाओंको देख क्यों मद करेंगे? उनको तो निज आत्म स्वभाव ही परमप्रिय वस्तु है, वे उसीमें संतोषी हैं तथा उनकी निश्चयकी दृष्टि अन्य प्राणियोंको भी अपने समान शुद्ध आत्मस्वभावमई ही दिखलाती है। इसीसे उनमें न राग है न द्वेष है। सम्यग्ज्ञानियोंकी दृष्टिमें ये जगतके सकल दृश्य नाटकके खेलके समान क्षणिक और मात्र दर्शनीय हैं—अनुरंजनीय नहीं हैं इसलिये हे वत्स! यदि तू सुख शान्तिको भोगना चाहता है तो तू सर्व पर पदार्थोंसे मोह त्याग दे और निश्चिन्त होकर आत्माकी रमणताकी रुचि उत्पन्न कर। जहां रुचि पैदा होती है वहां आत्म-लाभ होना सुगम होजाता है। यदि तेरे पास धन आदि सामग्री है तो तू उससे मोह न कर किन्तु जबतक उनकी प्राप्ति मौजूद है तबतक इन पदार्थोंसे परका उपकार कर। अपनी मानी हुई सर्व सम्पत्तिको परके कल्याणके निमित्त समझ मद करना मेरा स्वभाव

नहीं है, इस श्रद्धा व ज्ञानसे वासित होकर तू परमानन्दमई निज आत्माके आसन पर विराजमान होकर अपनी शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे जगतको देख और उसमेंसे चेतन्य जातिको पृथक् करके ग्रहण कर और उसके सर्व सामान्य गुणोंमें तन्मय होकर परमसंतोष और सुख व शांतिका उपभोग कर।

(२४)

श्री परमगुरु परमदयालु हो समझाते है—

हे वत्स ! आज तुझे चौवीसवा व्याख्यान देना है, तेरा ध्यान २४ तीर्थंकरोंके जीवनचरित्र पर आकर्षण करना है। तीर्थंकर नामकर्मका बंध दर्शनविशुद्धि आदि १६ कारण भावनाओंके दृढ़तापूर्वक विचार करनेसे होता है। इन भावनाओंमें दर्शनविशुद्धि मुख्य है। जिसके सम्यग्दर्शन रूपी रत्नकी प्राप्ति होजाती है वही तीर्थंकर कर्म बाधता है। जिसके मनमें अपने आत्माका सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्मसे भिन्न दर्शन होजाता है अर्थात् इस बातकी गाढ़ रूचि होजाती है कि मैं ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई सिद्ध समान शुद्ध स्वभावका धारी हू, मेरा स्वभाव कभी मिटा नहीं और न मिट सक्ता है, सच्चा सुख मेरे ही आत्माका स्वभाव है, मेरा आत्मा परम वीतरागताका भडार है, जिसके भीतर आत्माके सुख और इन्द्रियसुखसे भेद विज्ञान पैदा होगया है। जैसे मीठे और खारे पानीमे भेद है वैसे आत्मिक सुख और इद्रिय सुखमें भेद है. ऐसा स्पष्ट भिन्न २ स्वाद झलक गया है वही सम्यग्दृष्टि है। इस सम्यग्दर्शनके अपूर्व भावके प्रतापसे प्राणी मात्रपर दयाका भाव भी पैदा होजाता है जिस दयाभावसे यह ज्ञानी जैसे अपना उद्धार

चाहता है, जैसे अपनेको नरकगतिसे पार कर निर्वाण द्वीपमें पहुंचाना चाहता है वैसे सर्व जीवमात्रका हित चाहता है। सर्वको परम सुखी देखना चाहता है, सर्व प्राणी मात्र मोक्षमार्गका भक्त होना और उनके परम सुखका लाभ चाहना एक ऐसा शुभोपयोग है जो तीर्थंकर सदृश पुण्यबंधका कारण है। तीर्थंकरोंने सर्व प्रकारका इन्द्रिय सुख पाया तथापि उस सुखको त्यागा और आत्मिक सुखके निरंतर लाभ होनेके लिये परम वैराग्य धारकर मुनिपद अंगीकार किया। उनका यह मार्ग मेरे लिये भी भव्य आदर्श है। यही वह पथ है जिधर बुद्धिमान आत्माओंका गमन होता है। इन २४ तीर्थंकरोंने अपने जीवनसे दिखा दिया है कि एक विचारशील प्राणीको मानवजन्ममें क्या करना चाहिये। इनमेंसे श्रीवासुपूज्य. मल्लि, नेमि, पार्श्व तथा महावीरने कुमारवयमें ही मुनिपद धारा, शेष १९ ने राज्य करके त्याग धर्म स्वीकारा, दोनों ही प्रकारके जीवनोंमें त्याग धर्मका ही महत्त्व बताया। मेरे कल्याण निमित्त मुझे यही तीर्थंकरोंका मार्ग सेवनीय है, यही आदरणीय है। बस अब तू सर्व राग द्वेष वर्द्धक व अज्ञान मूलक मार्गोंकी रुचि दिलसे हटादे और एक वीतराग विज्ञानमय मार्गकी श्रद्धा जमा ले। आत्मामें सम्यग्दर्शनकी ज्योतिका प्रकाश पानेके लिये भेद विज्ञानका अभ्यास कर। यही मिथ्यात्व भ्रमको हटाएगा, यही स्वानुभूतिको जागृत करेगा व यही निजानन्दका स्वाद दिलाएगा। मै ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमई, सर्व विभावोंसे जुदा एक अद्भुत समुद्र हूं जहां निर्मल ज्ञानरूपी जल परमानन्दके स्वाद व वीतरागताकी शीतलतासे वासित भरा हुआ है। मैं सर्व तरफसे

हटकर एक इसी समुद्रमें गोता लगाता हूं, इसीमें वारम्वार स्नान करता हू, इसीमें निश्चय करता हूं, यही भाव मेरे कल्याणका परम बीज है।

(२९)

श्रीगुरु परम दयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स! मिथ्यात्वरूपी विषको उतारनेके लिये तथा सम्यक्त रूपी प्रकाशको पानेके लिये अपनी पूर्ण शक्तिके प्रयोगकी आवश्यक्ता है। विना उद्योगके किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होसक्ती है इसलिये तू निश्चिन्त होकर सम्यक्तकी प्राप्तिका यत्न कर। श्री गुरुने वहुत गम्भीर अनुभवके पीछे यही शिक्षा दी है कि भेद विज्ञानका मनन ही स्वश्रद्धाकी जागृतिका कारण है। अनादिकालीन भ्रम वासनाके कारण आत्माका असल स्वभाव अपनी बुद्धिसे वाहर होरहा है, उसी असल स्वभावका पता पा लेना ही एक कार्य है। जैसे मलीन कपड़ेका दर्शन ज्ञानी जीवको कपड़ेसे मैलकी भिन्नताका ज्ञान कराता है व सुवर्ण रजतकी मिश्रित वस्तुको परखनेवाला सोनेके स्वभावका चांदीके स्वभावसे भेदविज्ञान रखता है व जैसे प्रवीण वैद्य एक गुटकेमें मिश्रित अनेक औषधियोंको भिन्न२ जानता है व रंगीन रुईका वस्त्र प्रवीण मानवकी बुद्धिमें रंग और वस्त्रका भेदज्ञान झलकाता है इसी तरह निश्चयनयकी दृष्टिसे आत्मा और अनात्माका भेद ज्ञान प्रकाशमान होजाता है। निश्चयनय दिखाता है कि यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र सम्यक्त आदि विशेष गुणोंका व अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व तथा प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणोंका एक

अमिट चेतन्यमई समुदाय द्रव्य है। उसका स्वभाव क्रोधादि विकारोंसे शून्य है, वह परम शात व आनन्दमई शुद्धात्मा या परमात्माके समान है। रागादिकी कलुषना कर्मवर्गणाओंमें प्राप्त अनुभाग है। कार्मण शरीर जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बना है सूक्ष्म पुद्गलोंका समुदाय अचेतन है। यह बाहरी स्थूल औदारिक शरीर व तैजस शरीर सब पुद्गलसे रचा हुआ है। आत्मा इनसे निराला है। मै चितपिंड, अखंड, अविनाशी, परमवीतराग व परमसुखी हूं, अन्य सर्व अवस्थाए पुद्गल कृत हैं, मेरे स्वभावसे भिन्न हैं। जैसे धान्यके भीतर सफेद चावल अलग है तथा उसका भीतरी व बाहरी छिलका अलग है वेसे मै शुद्ध चेतन्यमई आत्म द्रव्य भिन्न हूं और अन्य सब कर्मादि भिन्न है। इसतरह भेदविज्ञानका अभ्यास करते करते अनादिकालिन मिथ्यात्वका संस्कार घटता जाता है और परिणाम आत्मरुचिके सन्मुख आता जाता है इसलिये अब तू निश्चिन्त होकर एकातमें इसी भेदविज्ञानका अभ्यास कर, यही औषधि तेरी निर्बलताको हटावेगी और तुझे सच्चा ज्ञानी, तथा सच्चा चारित्रवान और मोक्षमार्गी बनाएगी। तू अपने शरीरमें विराजित आतमदेवका दर्शन कर और सुखी रह।

(२६)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स! इस संसारमें वही मानव सुखी होता है जो निश्चयनयसे देखनेका अभ्यास करता है तथा वही समताभावको प्राप्त करता है। जहां समताभाव है वहीं सुख शांतिका प्रचार है। आज तुम्हें इस निश्चयनयका महात्म्य बताता हूं। जिस दृष्टिसे पदार्थ

सर्व अन्य पदार्थोंसे छूटकर एक रूप दीखता है जिस दृष्टिसे पदार्थ अन्य द्रव्योंके असरसे शून्य अपने स्वभावमें झलकता है, फिर दृष्टिसे अनेक परकृत अवस्थाओसे भिन्न पदार्थ मालूम होता है उस दृष्टिको निश्चय नय कहते हैं। यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्योका समुदाय है। कोई प्रदेश लोकाकाशका ऐसा नही है जहां इनकी सत्ता न पाई जावे। इन-मेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल यद्यपि एक क्षेत्रमें हैं तथापि अपने स्वभावको बदलकर विभावरूप नहीं होते हैं परन्तु संसारी जीव पुद्गलके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धको प्राप्त होते हुए परस्पर विभावरूप परिणमन करते हैं। उसीके जीवमें रागद्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव हैं तथा पुद्गल पुद्गलसे मिलकर अनेक प्रकार स्कन्धरूप होजाते है। इसीसे पर्वत, टीले, चट्टानादि स्थूल व अनेक सूक्ष्म स्कंध बनजाते हैं। हम जब एक घनां-गुल मात्र क्षेत्रको देखते हैं तो वहां शुद्ध द्रव्य आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायके प्रदेश तथा असख्यातकालाणु भिन्न २ हैं। तथा अशुद्ध द्रव्य अनेक सूक्ष्म व कोई २ बादर जीव है और बहुत प्रकारकी आहारक, तैजस, कार्मण, भाषा, मनो आदि वर्गणाओंका समुदाय है। इस छः द्रव्योंके समूहमें एक२ द्रव्यको भिन्न२ अपने२ स्व-भावमें जिस दृष्टिसें देखा जावे उसे ही निश्चयनय कहते हैं। रागद्वेष पैदा होनेके बाहरी निमित्त कारण रागी द्वेषी जीवोंको देख-कर उनमें रागद्वेष करना है। जीवोंका अशुद्ध व रागद्वेपमय व अनेक नरनारक देव तिर्यचके भवोंमें देखना जिस दृष्टिसे होता है, उसको व्यवहारनय कहते हैं। इस नयको गौणकर जहां निश्चय-

नयसे देखा जाता है वहां सर्व जीव चाहे किसी भी सांसारिक भेष या पर्यायमें हों बिलकुल शुद्ध वीतराग परमानंदमई ही दीखते हैं। सर्व ही एकाकार परमात्मा मालूम होते हैं । उनमें न रागद्वेष है न ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बन्ध है। न शरीरादि नोकर्मोंका सम्बंध है । सर्व ही आत्माएं शुद्ध स्फटिकमणिकी मूर्तिके समान परम स्वच्छ झलकती हैं। इस दृष्टिसे देखते हुए न कोई लघु है न दीर्घ है, न कोई राजा है, न प्रजा है, न स्वामी है, न सेवक है, न कोई पशु है, न कोई मनुष्य है । भले ही लोकमें अनतानंत जीव हैं, परन्तु वे सर्व ही एक समान स्वभावधारी ही झलकते हैं तथा अन्य पांच द्रव्य उनसे छूटे हुए अलग२ अपने२ स्वभावमें चमक रहे हैं । यह निश्चयनयकी दृष्टि यकायक परम समताभावको पैदा कर देती है, मोहके अन्धकारको मिटा देती है, अज्ञानकी कालिमाको धो देती है । वास्तवमें सर्व लोकाकाशमें फैले हुए अनंतानंत जीवोंके स्वभावका दृश्य एक ऐसा मनोहर सुख शांति और विज्ञानका समुद्र बन जाता है और वह समुद्र तीन लोक व्यापी अथाह रूप प्रगट होता है । ज्ञानी आत्मा इस निश्चयनयसे दीखनेवाले सुख समुद्रमें ज्यों ही डुबकी लगाता है, निश्चयनयको भी भूल जाता है और परम अद्भुत स्वानुभूतिको प्राप्त कर लेता है। यही अपूर्व लाभ है, यहीं समताका दर्शाव है व यही सुखशांतिका भोग है । बस हे शिष्य ! तू इस निश्चयनयसे इस लोकके पदार्थोंके देखनेका अभ्यास कर। जैसे अनेक मसालोंसे बनी हुई तरकारीके भीतर नोन, मिर्च, जीरा आदि व तरकारी सब अपने भिन्न२ स्वादको दिखलाते हैं व अनेक जड़ीबूटियोंकी औषधियोंसे बनी हुई

गोलीको चाखते हुए एक प्रवीण वैद्यको हरएक औषधि भिन्न २ झलकती है। अथवा जैसे नाटकके खेलमें अनेक तरहके भेषोंमें आनेवाले पात्र एक जानकार व्यक्तिको मात्र भेष मालूम होते हैं तथा वे खेलनेवाले पात्र अलग ही दीखते हैं। यदि वे ब्राह्मणके पुत्र हैं तो उनका ब्राह्मणपना यद्यपि छिपा है तथापि उसे स्पष्ट मालूम होता है। इसी तरह निश्चयनयसे देखनेवालेको सर्व द्रव्य अपने स्वभावमें दिखते हैं। प्रिय वत्स! कर्मबंधके कारण राग द्वेष मोह हैं। निश्चयनयसे देखते हुए ये विभाव विदा होजाते हैं, कर्मबंधका अभाव होजाता है। तथा साम्यभाव जागृत होकर परम सुख व शांतिका स्वाद आता है। बस! हे वत्स! तू इस अपूर्व भावकी लब्धिका यत्न कर। यही सम्यक्त रत्नके लाभका व उसके रस लेनेका उपाय है।

(२७)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैं—

हे वत्स! इस जगतमें वे ही प्राणी सुखी रहते हैं जो सदा आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं। आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है, आत्मध्यान ही वह नौका है जिसपर चढ़कर एक सम्यग्दृष्टि जीव भवसमुद्रसे पार होजाता है। आत्मध्यानसे ही सुख व शांतिका लाभ होता है। आत्मध्यान ही वह साधन है जिससे मुक्तिरूपी साध्यकी सिद्धि होती है। आत्मध्यान ही मुनियोंके मनका लाल है। आत्मध्यान ही वह मसाला है जिससे आत्माका कर्म मैल छुड़ाया जाता है। आत्मध्यान ही वह गुफा है जिसमें प्रवेश करनेसे जगतके प्रपंचजालकी आकुलताएं नहीं सताती हैं। साधुजन

निरन्तर इस ही गुफामें विश्राम करते हुए परम सुखी रहते हैं। आत्मध्यान ही धर्म है । इस धर्मको छोड़कर और कोई धर्म न हुआ है न होगा न है। अध्यात्मध्यान ही जैनधर्म है । आत्मध्यान ही सर्व सांसारिक रोगोंको मिटानेकी परम औषधि है। सर्व ओरसे ज्ञानोपयोगको रोककर आत्माके द्रव्यमें, आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि गुणोंमें व आत्माकी सिद्धमई शुद्ध पर्यायमें जमाना आत्मध्यान है। यदि कोई अपने मनको एक सिकण्डके लिये भी आत्मीक गुणोंमें जोड़ता है वह परम सुखदाई आत्मध्यानका लाभ करलेता है। आत्मध्यानकी प्राप्तिके लिये आत्माके स्वभावको जाननेकी व उसपर श्रद्धा लानेकी आवश्यक्ता है । जहां बुद्धिबलसे श्री गुरु द्वारा बताए हुए आत्माके गुणोंका विचार किया जाता है वहीं आत्माकी श्रद्धा या रुचि पैदा होजाती है । हम जानते हैं इसी लिये हम अनजान पदार्थोंसे भिन्न हैं । ज्ञान हमारा स्वभाव है इसीलिये हम आत्मा हैं। जो कुछ जानने योग्य है उस सबको जान लेना ज्ञानका धर्म है । इसीलिये आत्मा स्वभावसे सर्वज्ञ है । क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय भाव आत्माके ज्ञानको बिगाड़ देते हैं। इसलिये ये कषाय आत्माके स्वभाव नहीं हैं, परन्तु उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौचादि स्वभाव ज्ञानके सहकारी हैं इसलिये ज्ञानके साथ रहनेवाले आत्माके अनेक गुण हैं। वास्तवमें शांति आत्माका स्वभाव है जब कि अशांति विभाव है—त्यागने योग्य है । यह आत्मा जैसा पूर्ण ज्ञानमई है व पूर्ण शांतिमय है वैसा यह आत्मा पूर्ण सुखमई है । यह आत्मा आनंदका समुद्र है । यदि आत्माका स्वभाव सुख नहीं होता तो परमात्मा भगवान कभी भी अनंतसुखी

नहीं होता। यह आत्मा रूप रस गंध वर्णसे रहित अमूर्तीक है। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है, दीपकके प्रकाशके समान सुख शरीरमें रहता है, उसीमें व्याप जाता है। आत्मध्यानके चाहनेवालेको योग्य है कि अपने ही शरीररूपी मंदिरमें व्याप्त अपने आत्माको देखे। यह देखे कि मैं निर्मल जलके समान पूर्णज्ञानी, परम शांत, परमानन्दमई अमूर्तीक एक शुद्ध व निर्दोष पदार्थ हूं। इसी निर्मल जलमें वारवार अपने ज्ञानाभासको डुवकी लगावे यही आत्मध्यान है, यह सर्व सकटोंको टालनेवाला व सुख शांतिको प्रदान करनेवाला है।

(२८)

श्रीगुरु परमदयालु हो समझाते हैं:—

हे वत्स ! श्री जिनेन्द्रकी देशनाको तूने इतने दिन श्रवण किया है। इससे तेरे अन्तरङ्गका अज्ञान पटल अवश्य दूर हुआ होगा। और सच्चे वस्तु स्वरूपको तूने प्राप्त कर लिया होगा। आगे मैं तुझे प्रेमका स्वरूप बताता हूं। यहां प्रेमसे प्रयोजन शुद्ध प्रेमसे है। सर्व जीव मात्रको निश्चयनयसे शुद्ध सिद्ध समान देखकर समान भाव रखना, परम समताभाव जागृत करना, यह मुख्य प्रेम है। इस प्रेममें कोई तरहका द्वेष भाव नहीं है। यह शुद्ध प्रेम आत्मामें अनुभव प्राप्त करनेका कारण है। आत्मध्यानके लिये इसी प्रेमकी आवश्यक्ता है। व्यवहार नयसे भी ज्ञानी जीवको सर्व ही प्राणियोंसे मैत्रीभाव रखना चाहिये और प्रेमालु होकर उनके कल्याणकी भावना भानी चाहिये। इसी भावपर अहिंसा तत्व निर्भर है, यह प्रेम बताता है कि दूसरोंके कष्टको अपना कष्ट जानो। जैसे अपने कष्टोंके मिटानेका ध्यान अपनेको होता

है, वैसे दूसरोंके कष्टोंके मिटानेका ध्यान होना चाहिये। इस प्रेमके अभ्यासमें एक ज्ञानी जीव निरर्थक किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करता है, किसीको असत्य बोलकर ठगता नहीं है। नीतिसे वर्ताव रखना—यही प्रेमका पाठ सिखाता है। परोपकार करना, दान देना यही इस प्रेमके बाहरी चिह्न हैं। विचारवान प्राणीको उचित है कि वह अपनी सर्व शक्ति तन मन धन वचन आदिको परके हितार्थ काममें आनेको ही उनके होनेकी सफलता समझे। ज्ञानी जीव विद्याविहीनोंको देख नहीं सक्ता है। उनको जिस तिस प्रकार विद्या सम्पन्न करना यही इसका ध्येय हो जाता है। वह भूखोंको तड़पते हुए देख नहीं सक्ता है। आप चाहे कम खाता है परन्तु भूखसे आतुर प्राणियोंकी भूख मेट देता है। वह रोगियोंको रोगसे पीड़ित देखकर बहुत कष्ट मानता है, अपनी शक्तिके अनुसार उनके रोग शमनका प्रबन्ध करके ही संतोष मानता है। मिष्ट वचनका दान तो इसका हरएकके लिये होता है। नीच ऊंच पशु पक्षी भी इसकी मिष्ट वाणीके दानसे तृप्त होजाते हैं। प्रेमपूर्ण हृदय परके सुखमें सुखी व परके दुःखमें दुःखी होजाता है। व्यवहार नयसे प्रेमका पाठ मानवोंको न्यायमार्गी, दयावान, हितकारी बना देता है। हे शिष्य ! जगतके प्राणियोंके साथ व्यवहार करते हुए तुम इस प्रेमसे काम लो, परन्तु आत्मानंदके लाभके लिये व्यवहार प्रेमको छोड़कर निश्चय प्रेमपर आरूढ़ होजाओ। भूल जाओ, कोई बड़ा है या छोटा है, राजा है या प्रजा है, मानव है या पशु है, जीवोंके सम्पूर्ण भेषोंको उतार डालो। मात्र सबको एकाएक शुद्ध अवलोकन करो व अपनेको भी उसी रूप देखो। यही प्रेम समताभावमेंका

करेगा, निराकुलता लाएगा व आत्मानुभव जाग्रत कराकर परमानंद प्राप्त कराएगा । हे वत्स ! तू प्रेमालु होनेकी चेष्टाकर । प्रेमको परम सुखकारी जान, अपनेको दुःखकारी जान । बस, निश्चिंत होकर तू एकांतमें अपने शुद्ध स्वरूपका ध्यानकर । यही सम्यक्तका कारण व मोक्षका उपाय है ।

प्रायोग्यलब्धि ।

(१)

देशनालब्धिके प्रतापसे इस भव्य जीवने श्रीगुरुके उपदेशसे तत्वज्ञानको प्राप्तकर उसके मननके अभ्याससे ऐसी शक्ति प्राप्त की कि धीरे२ आयुकर्मके सिवाय सात कर्मोंकी स्थिति एक कोड़ाकोड़ी सागरसे भीतर तककी कर दी । पहले ७० कोड़ाकोडी सागर थी सो कटकर इतनी ही शेष रह गई । अब इस जीवने प्रायोग्यलब्धिमें अपनी उन्नति की है। इस लब्धिके कालमें ऐसी परिणामोंकी उज्वलता रखता है कि घातिया कर्मोंमें अनुभाग या फलदान शक्ति जो अस्थि या पाषाण रूप थी उसको घटाकर लता तथा दारु (काष्ठ) रूप कर देता है तथा अघातिया कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंमें जो विष हलाहल शक्ति थी उसको कम करके मात्र निम्ब व कांजी रूप ही रहने देता है तथा प्रायोग्यलब्धिवाला जीव आयु सिवाय ७ कर्मोंकी स्थिति भी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरसे अधिककी नहीं बांधता है। हरएक अन्तर्मुहूर्तमें पल्यका संख्यातवा मात्र कम स्थिति बाधे । जब ७०० या ८०० सागर कम स्थिति बाधे तबतक एक प्रकृतिबन्धपसिरण कहलाता है । इस तरह पल्यके संख्यातवें भाग

कम कम स्थितिबन्ध करते जब फिर ७०० या ८०० सागर कम स्थिति बांधे तब दूसरा प्रकृतिबंधापसरण होवे। इस तरह ३४ बंधापसरण करें। इन ३४ स्थानोंके प्रभावसे क्रमसे ४६ प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति कर देता है अर्थात् ११७ जो मिथ्यात्वमें बंधती थीं उनमें ये ४६ घटाके मात्र ७१ का ही बन्ध रह जाता है। ३४ स्थानोंमें ४६ प्रकृतियोंकी कहां व्युच्छित्ति है—

१ में (१) नरक आयु   २ में (२) तिर्यंच आयु
३ „ (३) मनुष्य „   ४ „ (४) देवायु „
५ „ (५) नर्कगति और (६) नर्कगत्यानुपूर्वी   ६ „ (७) सूक्ष्म (८) अपर्याप्त (९) साधारण
७ में प्रत्येक सूक्ष्म अपर्याप्त सहित
८ „ बादर अपर्याप्त साधारण सहित
९ „ बादर अपर्याप्त प्रत्येक
१० „ (१०) द्वीन्द्रिय जाति अप्रर्याप्त सहित
११ „ (११) तेन्द्रिय „ „
१२ „ (१२) चौन्द्रिय „ „
१३ „ असैनी पचेंद्रिय „ १४ में सैनी पचेंद्रिय पर्याप्त
१५ „ सूक्ष्म पर्याप्त साधारण १६ „ सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक
१७ „ बादर „ „
१८ „ (१३) आताप   (१४) स्थावर बादर पर्याप्त प्रत्येक (१५) एकेंद्रिय सहित
१९ „ द्वीन्द्रिय पर्याप्त   २० में तेन्द्रिय पर्याप्त
२१ में चौंद्रिय पर्याप्त   २२ „ असैनी पंचेंद्रिय पर्याप्त

२३ में (१६) तिर्यंचगति (१७) ति० गत्यानुपूर्वी (१८) उद्योत
२४ ,, (१९) नीच गोत्र २५ में (२०) अप्रशस्तविहायोगति
(२१) दुर्भग (२२) दुःस्वर (२३) अनादेय
२६ में (२४) हुंडक संस्थान (२५) सृपाटिकासंहनन
२७ ,, (२६) नपुंसक वेद
२८ ,, (२७) वामन सं० (२८) कीलक संहनन
२९ ,, (२९) कुब्जक संस्थान (३०) अर्धनाराच सं०
३० ,, (३१) स्त्रीवेद। ३१ में (३२) स्वाति संस्थान
(३३) नाराच संहनन
३२ में (३४) न्यग्रोध सं० (३५) वज्रनाराच संहनन
३३ ,, (३६) मनुष्यगति (३७) मनुष्य गत्या०
(३८) औदारिक श०
(३९) औदा० अंगोपांग (४०) वज्रवृषभ नाराच सं०
३४ में (४१) अस्थिर (४२) अशुभ (४३) अयश (४४) अरति
(४५) शोक (४६) असाता

प्रायोग्यलब्धिके समयमें ज्ञानी जीवकी प्रवृत्ति अपने हितकी तरफ अत्यन्त उत्कट होती है। किसी भी तरह उद्योग करके मैं सम्यग्दर्शनका पात्र होजाऊँ ऐसी भावना जागृत होजाती है। यद्यपि यह लब्धि भव्य तथा अभव्य दोनोंके होती है तथापि अपने स्वात्म हितकी कामना दोनोंके होती है। भव्यजीव उस कर्म पटलको जो आगे चढ़ने नहीं देता है दूर कर देता है। जब कि अभव्य जीव नहीं दूर कर सक्ता। भव्यजीव वारवार श्रीगुरुके उपदेशको विचार कर यह चेष्टा करता है कि मैं किसी भी तरह शुद्ध निश्चयनयके

विषयभूत अपने शुद्धात्माका दर्शन प्राप्त करूँ । इस अभिरुचिसे भी वह कुछ सच्चे सुख शांतिका लाभ कर पाता है । वास्तवमें जहां आत्मविचार है वहीं सुख व शांति है ।

(२)

एक आत्मखोजी वीर पुरुष प्रायोग्यलब्धिमें तिष्ठकर परिणामोंकी उन्नति कर रहा है । इस लब्धिके प्रतापसे जैसा पहले कहा गया है ४६ प्रकृतियां जो पहले बंधको प्राप्त होसक्ती थीं, ३४ बन्ध अपसरणोंके द्वारा धीरे २ बंधसे शून्य होजाती हैं । इनमें चारों आयु भी हैं । इससे प्रगट होता है कि प्रायोग्यलब्धिके प्रारम्भसे जब तक उपशम सम्यग्दर्शन पैदा होकर अंतर्मुहूर्त तक ठहरता है किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता । उसी तरह देवगतिको छोड़कर तीन गतिका भी बंध नहीं होता और न एकेन्द्रियसे ले चौन्द्रिय जातिका न असैनी पंचेन्द्रियका बंध होता है, न नपुंसक व स्त्री वेदका बंध होता है, न नीच गोत्रका होता है, न छहों सहननका होता है । संस्थानोंमें केवल समचतुरस्र संस्थानका बंध होता है । न असाता वेदनीयका होता है और न अन्य कई अशुभ प्रकृतियोंका बंध होता है । वास्तवमें यहासे लेकर इस जीवके भाव उत्तरोत्तर बढ़ते हुए चले जाते है । जिसको सम्यग्दर्शन प्राप्त होना होता है वह बराबर भावोंकी उज्वलतामें बढ़ता जाता है, परन्तु जिसको सम्यक्तकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है या जो अभव्य होता है वह प्रायोग्यलब्धिके कालके पीछे अवश्य गिर जाता है । जो उपदेश श्रीगुरुने भेदविज्ञानका दिया था उसकी यह बराबर स्मृति करता है और अपने आत्माके स्वरूपके अनात्मभा-

वोंसे भिन्न विचारता है। उसके सामने शुद्ध निश्चयनयका भाव पुनः पुनः आकर नृत्य करता है। यद्यपि यह अभी स्वानुभव नहीं कर सकता है तथापि इसके भावोंमें यह खटका पुनः पुनः होता है कि मैं ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तीक, सिद्धके समान शुद्ध हूं। यही मनन इसके भावोंकी ऊपर चढ़नेकी सीढ़ी है। धन्य हैं वे महात्मा जो इस सीढ़ीपर चढ़ते हुए चले जाते हैं और यकायक सम्यक्तभावको जाग्रत करके सर्व परभावोसे रहित अपने शुद्ध आत्मा अर्थात् समयसारका अनुभव कर पाते हैं। वे ही निजानं-दामृतका स्वाद लेते हुए परम तृप्तिके स्वामी होकर अपने उद्यमको सफल कर पाते हैं।

(३)

इस प्रायोग्यलब्धिमें तिष्ठा हुआ आत्मा सर्व विभाव भावोंसे रहित होनेका और शुद्ध आत्माके गुणोंकि विचारका उत्साह दिखला रहा है। इसके मनमें यह उमग है कि मैं किस तरह ससारसे जन्म मरणादि दुःखोंसे रहित होकर निर्वाणके परम आनन्दमई अविनाशी सुखका विलास करूं, किस तरह शरीरके पिंजरेसे छूटूं व किस तरह शुद्धज्ञानके अभ्यासमें रत होऊं। इसकी आत्मामें श्रीगुरुका परम कल्याणकारी उपदेश अपना प्रभाव विकसित कर रहा है, श्री जिनेन्द्रकी देशना इसके मनको सुवासित कर रही है। चतुर्गतिके दुःख इसकी आत्मामें संसारसे निर्वेद भाव पैदा कर रहे हैं, तत्वोंका विचार इसके मनको रंजायमान कर रहा है, इसकी उपादेय बुद्धि एक मात्र आत्मतत्वपर होरही है। इसे नव पदार्थोंके भीतर एक आत्म पदार्थ ही प्रिय मालूम होरहा है।

इसकी स्मृति आत्माके सामान्य और विशेष गुणोंपर झुक रही है। मैं दर्शन ज्ञान सुख वीर्यमई हूं, अमूर्तीक हूं, अविनाशी हूं। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभसे शून्य हूं, जितने विभावभाव हैं सब मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं, मोहकर्म पुद्गलमई है, आत्मासे सर्वथा भिन्न द्रव्य है। यह निर्मल ज्ञान इसके भावोंको प्रकाशमान कर रहा है। यह जब अपनी पिछली अज्ञान दशाको याद करता है तो अपनी अत्यधिक निन्दा करता है, इसके भावोंमें उपशमकी शांत छाया आती जाती है और तीव्र कषायोंकी कड़ी धूप हटती जाती है। इसके मनमें उन महात्माओंकी तरफ परम भक्तिभाव है जिन्होंने संसारके वाससे मुक्ति प्राप्त की है। दया तो इसके गलेकी माला बन गई है, यह किसी प्राणीको दुःखी रहना नहीं चाहता है, जीव मात्र इसके ज्ञानमें भाईके समान झलकते हैं, औरोंके कष्टोंको यह अपना कष्ट मान रहा है। समान भावधारी धर्मात्माओंकी तरफ इसका परम वात्सल्यभाव है। प्रयोजन यह है कि इस लब्धिमें इसके भावोंकी भूमिका ऐसी बन गई है कि जिससे यह भव्य जीव शीघ्र ही करणलब्धिके द्वारा सम्यक्त्वरूपी रत्नमहलमें पहुंच जायगा। इसके प्रदेशोंमें अनंतानुबंधी कषाय भी अति मन्द भावको प्राप्त होरहा है, मिथ्यात्वका रस भी अति अल्प रह गया है, अशुभ भावोंके स्थानोंमें शुभ भाव अपना अड्डा जमा रहे हैं। इसीसे पापप्रकृतियोंको न बांध कर यह जीव पुण्यप्रकृतियोंका बंध कर रहा है।

इसकी दशा उसी पुरुषके समान होरही है जिसका सम्बंध किसी इष्ट कन्याके साथ परिपक्व होरहा हो। यह भव्यजीव अवश्य

सम्यक्त्वी होगा तब इसकी सगाई मुक्तिरूपी कन्यासे अति दृढ़ हो जायगी। वास्तवमें धन्य है यह ज्ञानी जीव जिसने उस मार्गका पता पा लिया है। जिसके विना पाए यह अनादिकालसे भटकता था, रागद्वेषकी उत्कट तरगोंमें व्याकुल होरहा था। अब यह जीव अपनी दृष्टि शुद्ध आत्माकी प्राप्तिपर लगाए हुए यह भावना भारहा है कि किसी तरह अपने आत्मप्रभुकी झलकको हासिल करलू। इसकी यह आत्मानन्दकी चाह ही इसे परम संतोषित कर रही है। यह इस संतोषभावमें तिष्ठा हुआ आगे बढ़नेका उत्साही होकर अपने जन्मको सफल कर रहा है।

(४)

एक ज्ञानी भव्यजीव देशनालब्धिके पीछे प्रायोग्यलब्धिमें विश्राम करता हुआ अपने भावोंकी समय २ उन्नति कर रहा है। यह शीघ्र ही करणलब्धिमें जानेवाला है। इसके भावोंमें शुभ भावनाए स्वच्छतासे कल्लोल कर रही है। यह इस समय दशलक्षण धर्मका महत्व विचार रहा है। उत्तम क्षमा आत्माकी परम प्यारी सखी है। इसके प्रभावके सामने क्रोध पिशाच एक क्षण भी ठहर नहीं सक्ता है। उत्तम क्षमा आत्मभुमिको शांततामें रखती है, क्रोध आत्म स्वभावसे भिन्न है। क्रोध नाम कषायका मल है। उत्तम मार्दव मेरा स्वभाव है, मान भाव इससे विपरीत है। विनय और कोमलता आत्माको सद्‌गुणका भाजन बनाए रखते हैं, उत्तम आर्जव आत्माके परिणामोंको सरलतामें रखता है, माया दुष्टनी इसे देखकर तुर्त भाग जाती है। ऋजुता सर्व दोषोंको निवारण करनेवाली है। उत्तम सत्य आत्म वस्तुका स्वभाव है, अनेक धर्ममई

पदार्थ है, ऐसा ही ज्ञान करानेवाला उत्तम सत्य है। जहां कपटका जाल नहीं होता वहां उत्तम सत्यका साम्राज्य रहता है। सत्यता सर्व गुणोंको शोभित करनेवाली है। उत्तम शौच आत्माको पवित्र रखनेमें निर्मल पवनका काम करता है। लोभकी रज इसके सामने विलकुल नहीं ठहरती है। उत्तम संयम आत्माकी भूमिकामें उच्छ्-खलता और अदयाके पैर नहीं टिकने देता है। इसके प्रतापसे आत्मा अपने गुणोंका भोग स्वतंत्रतासे करता रहता है। उत्तम तप ध्यानकी अग्निमें उन सर्व कर्मोंको जलाता रहता है जो आत्माके गुणोंके विकाशमें हर्ज करते हैं। तपके महात्म्यसे आत्मा शुद्ध सुवर्णके समान चमकता है। उत्तम त्याग आत्माको सर्व प्रकार अनात्मभावोंसे हटाता है तथा आत्माको अपने गुणोंसे परका उप-कार करनेके लिये प्रेरित करता है। उत्तम आकिंचन आत्माको आत्मतत्वमें ही गुप्त रखता हुआ सर्व ही परके आक्रमणसे इसे बचाता है। उत्तम ब्रह्मचर्य ब्रह्मभावमें आत्माको स्थापित करता हुआ उसे परमानंदका भोग कराता है, अब्रह्मकी कालिमाको नहीं लगने देता है। इस तरह दसलाक्षणी धर्मके महात्म्यको विचारता हुआ यह ज्ञानी जीव अपनी शुद्ध परिणतिको ही अपना परिणमन मानता है। सर्व प्रकार अशुद्ध परिणतिसे अपनेको बचे रहनेकी भावना करता है। यह ज्ञानी आत्मा देशनालब्धिमें जो उपदेश प्राप्त हुआ था उसको वारवार याद करता हुआ परम संतुष्ट होरहा है और जिनवाणी माताके उपकारको यादकर उसके मनोहर तत्व-ज्ञानमें परम शोभायमान होरहा है। इसके भावोंमें सम्यग्दर्शनकी जागृति होनेवाली है इसलिये इसका परम भाग्य है जो यह इस

शुभ भावनामें अपना काल यापन कररहा है । धन्य है तत्वज्ञानकी महिमा । यही सर्व कालिमाओंको धोनेवाला और परम निर्मलतामें आत्माको रखनेवाला है ।

(९)

निश्चयनयसे ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा परमात्मासे किसी तरह कमती गुणोको न रखनेवाला, व्यवहारनयसे कर्मबंधोंके मध्यमें पड़ा हुआ व मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें रहा हुआ तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उद्यम करता हुआ प्रायोग्यलब्धिमें विद्यमान है। इस समय इसका भाव उसी तरह चढ़ रहा है जिस तरह समुद्रका पानी चन्द्रमाकी कलाकी वृद्धिके साथ चढ़ता है । यह ज्ञानी जीव सर्व तरहसे आत्मधर्मका प्रेमी होकर धार्मिक तत्वोंकी भावनामें तल्लीन है, इस समय यह मुनि-धर्मकी भावना भारहा है । यह तेरह प्रकारके चारित्रका विचार कर रहा है । अहिंसा महाव्रत क्या ही अच्छा व्रत है जहांपर भावोंमें ऐसा कषायरहित भाव है कि कितना भी कोई उपसर्ग करे तथापि क्रोधादिकी कलुषता नही होती है न सांसारिक विषयवासनाओंका लोभ आत्मभूमिको मलीन करता है । द्रव्य प्राणोंकी रक्षाका इतना अधिक भाव है कि वे साधुगण किसी एकेंद्रिय जीवको भी दु.खित नहीं करते हैं । सर्व प्राणियोंकी रक्षार्थ वे यत्नाचार पूर्वक वर्तन करते हैं । सत्यमहाव्रतके पालनमें वे शास्त्रोंके अनुकूल बहुत सम्हाल करके योग्य प्रियवचन बोलते हैं व वस्तुके स्वभावका यथार्थ रूपमें चिन्तवन करते हैं । अचौर्य महाव्रतमें वे किसी भी वस्तुको विना दी हुई ग्रहण नहीं करते हैं यहांतक कि वे तृणमात्रको भी विना दिया हुआ नहीं

लेते हैं। ब्रह्मचर्य महाव्रतमें वे शीलव्रतका पूर्णतया पालन करते हैं। काष्ठ, चित्राम, धातु पाषाणकी अचेतन व किसी प्रकारकी चेतन स्त्रीका भी विचार अपने मन, वचन, कायसे नहीं करते हैं। परिग्रह त्याग महाव्रतमें वे काष्ठकमण्डल, पीछी व शास्त्र इन तीन धर्मोपकारणके सिवाय किसी भी वस्त्रादि परिग्रहको नहीं रखते हैं न इन विकार पैदा करनेवाले पदार्थोंकी तरफ किंचित् भी मूर्छा-भाव करते हैं। इनही पांच महाव्रतोंकी दृढ़ताके लिये वे पांच समितियें पालते हैं। ईर्या समितिमें वे सदा प्रासुक भूमिपर दिनमें आंखोंसे चार हाथ जगह आगे देखते हुए व किसी जंतुको मेरे निमित्तसे पीड़ा न पहुंचे इस दयाभावको मनमें रखते हुए विहार करते हैं। भाषा समितिमें वे ज्ञानी जीव सदा मिष्ट, कोमल, सभ्यतापूर्ण वचनोंको बोलते हैं। उनके मुखसे गाली गलौनकी कोई बात भी नहीं निकलती है। एषणा समितिमें वे छ्यालीस दोष व बत्तीस अन्तराय रहित उसी भोजनको समताभाव पूर्वक लेते हैं जो श्रावक या श्राविका अपने कुटुम्बके लिये तय्यार करते हैं और भक्तिपूर्वक मुनिके हाथपर रखते हैं। आदाननिक्षेपण समितिमें वे अपने शरीरको व शास्त्र या पीछी कमण्डल आदि उपकरणको देख करके उठाते व रखते हैं जिसमें किसी क्षुद्र जन्तुको भी कोई बाधा न पहुंचे। प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समितिमें वे मलमूत्र आदि मलोंको भूमि देखकर निर्जंतु स्थानमें क्षेपण करते हैं। इस तरह परम दयालु साधु इन पांच समितियोंको पालते हैं।

मनोगुप्तिमें वे मनके हरतोंपर इतना कड़ा अंकुश रखते हैं कि वे उस मनको अपनी आधीनतामें अपने हितकारी मार्गमें

चलाते हैं, उसे किसी भी तरह स्वच्छन्द नहीं होने देते हैं। वचनगुप्तिमें वे अधिकतर मौन साधते हैं। अवसर पड़नेपर ही कभी कोई अल्प वचन बोलते हैं। कायगुप्तिमें वे साधुजन कायको निश्चल रखते हैं। एक नियमित आसनसे नियमित कालतक वे बैठते या शयन करते हैं। इस तरह वे साधु धन्य हैं जो ऊपर कहेके अनुसार तेरह तरहका चारित्र पालते हैं। कब ऐसा समय हो जब मैं भी सर्व गृहस्थकी चिन्ताओंसे छूटु और निराकुल होकर ऐसे साधुओंकी चरणरज मस्तक पर लगाऊ और उनकी सेवा करूं तथा उनके मुखारविंदसे आध्यात्मिक चर्चाको सुनूं। वे साधु इस व्यवहार धर्मके निमित्तसे निश्चय धर्मपर पहुच जाते हैं और सर्व संकल्प विकल्प जालोंसे छूटकर अपने आत्मा ही पर एक मन हो आरूढ़ होजाते हैं। तब वहां सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्रकी एकता होजाती है। निश्चय रत्नत्रयमई मात्र स्वात्मानुभूतिरूप है। उसमें जमते हुए सिवाय आत्मानदके भोगके और कोई ध्यान नहीं रहता है, परम अमृतका प्रवाह बहने लगता है। धन्य हैं वे स्वानुभूतिके रमैया साधु! मैं कब इस योग्य हूंगा जो इस भावमें निरन्तर जमा रहूं और परमपदको पहुचूं।

करणलब्धि।

(१)

एक भव्य जीव सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर आत्मोन्नतिके मार्गमें जा रहा है। प्रायोग्य लब्धिके द्वारा भावोंकी चढ़नको प्राप्त करता हुआ यह आत्मा करणलब्धिमें प्रवेश कर रहा है। अब अतर्मुहूर्तमें ही यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्नका स्वामी होजायगा।

यह अनंतानुबन्धीय क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यादर्शनके उदयको हटा देगा और अपनी आत्मविभूतिका निश्चयात्मक दर्शन प्राप्त कर लेगा। जहां समय समय परिणामोंकी उज्वलता अनंतगुणी बढ़ती चली जावे उसे करणलब्धि कहते हैं। जो परिणाम सम्यग्दर्शनके होनेमें अवश्यमेव कारण होते हैं उनको करण कहते हैं, उन भावोंके लाभको करणलब्धि कहते हैं। निश्चयनयके आश्रयसे यह ज्ञान तथा श्रद्धान होरहा है कि "मैं पूर्णज्ञानका धारी, वीतरागी, परमानन्दमई परम शुद्ध निर्विकार, अमूर्तीक आत्मा हूं, मेरेमें और सिद्ध परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है, राग द्वेषादि भाव मेरे स्वाभाविक भाव नहीं है, आठ कर्मोका बधन आत्माकी स्वतंत्रताका बाधक है। शरीर पुद्गलमई विनाशीक है। संसारके भोग अतृप्तिकारी तथा आकुलताके कारण हैं, आत्मस्वभावमें थिरता ही सुखशांतिप्रद है, स्वरूपका लाभ करना ही उचित है। यही भाव इस भव्यात्माके भावोंकी उन्नतिमें साधक है। इस समय यह इसीतरह आत्मविकाशके उद्योगमें प्रयत्नशील है जिस तरह एक कारीगर एकदिल होकर बंद सन्दूकको खोलनेके प्रयत्नमें लग जाता है। इस समय यह सर्व सांसारिक वासनाओंसे हटा हुआ है। इसका परिणाम तलवारकी धारके समान काम करता हुआ सम्यक्त्वके बाधक कर्मोकी सेनाको भगा रहा है। यह अपनी सन्मुखता आत्मारामसे कर रहा है। इसका लक्ष्य मात्र निज आत्मद्रव्य पर है। आत्माकी सुन्दरता जिसे इसने श्री जिनेन्द्रकी देशनासे जाना है इसके मनको मोहित कर रही है, यह शांत भावका उपासक हो रहा है, इसके स्वादमें सुखकी अपूर्व झलक आरही है।

यह ज्ञानी षड्द्रव्योंसे भरे हुए लोकके भीतर जीव पुद्गलादि द्रव्योंको जानता हुआ भी इस समय सबसे उदासीन होकर एक निज आत्माहीके सन्मुख होरहा है। वास्तवमें मुक्तिकीसी स्वाधीनता इसके सामने है, पराधीनता इसके पीछे है। करणलब्धिमें प्राप्त महात्माकी महिमा वचन अगोचर है। मिथ्यात्व शत्रु जो अनादिकालसे अज्ञानमें फंसा रहा था इस पुरुषार्थी आत्माके पुरुषार्थके आगे लज्जित होरहा है। अनंतानुबंधी कषाय इसके परिणामोंके बाणोंकी चोटसे घबड़ा रहे हैं। यह पुरुषार्थी सिंहके समान सम्यक्त्वको लेजानेवाली सीढ़ी पर चढ़ा चला जारहा है। यह स्वात्म रस पान करता हुआ व षट्रसके मोहसे छूटा हुआ परम तृप्तिका लाभ कर रहा है। वास्तवमें इस पुरुषार्थीका पुरुषार्थ सराहनीय है।

(२)

क्या ही आनन्दका समय है। एक चिरकालका दलिद्री थोड़ी देर पीछे अमूल्य सम्यग्दर्शन रूपी रत्नका स्वामी होजायगा। इस भव्य जीवका पुरुषार्थ सफल होनेवाला है। यह अधःकरण लब्धिके अन्तर्मुहूर्तमें वर्तता हुआ समय २ अपने परिणामोंकी विशुद्धताको बढ़ा रहा है। इस लब्धिमें इस जातिकी विशुद्धता बढ़ती है कि यदि कोई जीव कुछ देर पीछे भी इस अधःकरणमें प्रवेश करे तो वह अपनेसे पहलेवालेके बराबर अपने भावोंकी विशुद्धता करसक्ता है। इस समय इस उत्साहीका लक्ष्यविन्दु एक निज आत्माके विकाशपर है। इसने जो स्वाधीनताका गुणानुवाद सुना था, जो सिद्धोंका अपूर्व सुख इसके सुननेमें आया था, जो आत्मीक आन-

न्दकी बहारकी शोभा दूसरोंसे जानी थी, उसी स्वाधीनता व सच्चे आनन्दके उद्देश्यको लिए हुए किसतरह मैं उसे प्राप्त करूं यह भावना दिलमें रखता हुआ भेद विज्ञानके द्वारा आत्मा और अनात्माका पृथक् पृथक् लक्षण ध्यानमें ले रहा है, संसारका राग घट रहा है, मोक्षका प्रेम बढ़ रहा है, विषय भोगकी कलुषिता विषयोंसे हट रही है जब कि आत्मिक आनन्दकी स्वच्छता दिलको खींच रही है। इस दशामें यह ज्ञानी जीव चार आवश्यक बातोंको हल कर रहा है। एक तो यह कि इसके भाव समय २ अनंत गुणे विशुद्ध हो रहे हैं, दूसरे यह कि जो कर्मोंकी स्थिति थी वह समय २ घट रही है। सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंके रसको गुड़, खांड, शक्कर तथा अमृतके समान जोरदार समय २ बांध रहा है जब कि असाता वेदनीय आदि पाप प्रकृतियोंका रस विष व हालाहल रूप बंध नहीं होकर मात्र निम्ब कांजी रूप ही बंध होरहा है। वास्तवमें स्वच्छ भावोंका ऐसा ही बढ़िया प्रताप है। यह प्राणी पुण्यका खजाना इकट्ठा कर रहा है और पापका रस दबा रहा है। ऐसा यह वीर पुरुष एकचित्त हो मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायोंके वश करनेमें तल्लीन है। इन्हीं पांच शत्रुओंने इसके सम्यक्त रत्नको दबा रक्खा है।

जो साहसी वीर शत्रुओंके पराजयका दृढ़ मनसूबा बांध लेता है वह अवश्य साहस करके विजय पाता है। यही दशा इस वीरकी है, यह इस समय व्यवहारनयको गौणकर निश्चयनयके विचारपर आरूढ़ है। इसे जगतके सर्व जीव बिना किसी भेदके एक रूप दिख रहे हैं। एकेंद्रियादि पचेंद्रिय तकके भेदोंका भय-

काश इसके विचारमें नहीं है। सर्व ही जीव शुद्ध ज्ञायक भाव-धारी परम निर्विकार और आनन्दमई भास रहे हैं। वास्तवमें क्या ही मनोहर दृष्टि है! इस दृष्टिसे देखनेपर रागद्वेषका क्षोभ मिट जाता है और परम शुद्ध साम्यभावका प्रकाश होजाता है। इस साम्यभावमें ही आत्मरसका आनन्द आता है। धन्य है यह वीर प्राणी जो इस तरह दृढ़ पुरुषार्थ करके अपनी आत्मोन्नतिकी तरफ बढता हुआ परम सतोषको पारहा है और निजानन्दी नगरकी भूमिको पानेका पूर्ण साहस कर रहा है।

(३)

यह वीर आत्मा इस समय उन विशेष परिणामोंमें उन्नति कर रहा है जिनके निमित्तसे सम्यग्दर्शनके बाधक शत्रुओंकी कमर ढीली की जाती है। इन परिणामोंको करण इसी लिये कहते हैं क्योंकि इनके द्वारा नियमसे मिथ्यात्व रूपी तमका नाश होता है और सम्यग्दर्शन रूपी सूर्यका प्रकाश होता है। अधःकरण लब्धिमें संभवित विशुद्धिकी उन्नति करके अब यह अपूर्णकरणमें चढ़ गया है। अंतर्मुहूर्त अधःप्रवृत्तकरणको पूर्ण करके अपूर्वकरणके परिणामोंमें भी अंतर्मुहूर्त रहता है। इस कालमें ऐसे विशुद्ध भाव इस साहसी आत्माके होते हैं कि जिनकी बराबरी वह जीव कभी नहीं कर सक्ता जिसने इसके पीछे इस अपूर्वकरण सम्बन्धी परिणामोंकी विशुद्धताके लाभको प्रारम्भ किया है। परन्तु जो एक साथ कई जीव इस प्रकारकी विशुद्धताको शुरू करनेवाले होते हैं उनकी उन्नति बराबर समान भी होती है तथा असमान भी होती है—अर्थात् एक साथ अपूर्वकरणके भावोंको प्राप्त होनेवाले जीव

समय समय अनंतगुणी भावोंकी उज्वलता करते रहते है तो भी कोई २ तो समान उन्नति करते हैं, कोई कुछ आगे पीछे होजाते हैं तथापि इतना अन्तर उनकी विशुद्धताका नहीं होता है जिससे कि पीछेसे प्रारम्भ करनेवाला उनके समान होजावे। अपूर्वकरणके भावोंमें जो आत्मा वर्तता है उसके चार आवश्यक होते हैं— **गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन** तथा **अनुभागखंडन**। अर्थात् समय समय असंख्यातगुणी कर्मवर्गणाएं झड़ती जाती हैं, यह गुणश्रेणी निर्जरा है। बहुतसी कर्मकी प्रकृतिया अपनी समान जातिमें बदल जाती हैं जैसे असाताका सातामें पलट जाना, यह गुणसंक्रमण है। कर्मोंकी स्थिति अधिक टूट जाती है यह स्थितिखंडन है। असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियोंका रस अधिक २ सूखता जाता है व हलका होता जाता है यह अनुभागखंडन है।

वास्तवमें जीवके परिणामोंकी विचित्र गति है। परिणामोंहीसे बंधन होता है और परिणामों हीसे बंधन कटता है। इस समय इस वीर आत्माके परिणाम आत्मतत्वके रसमें भीजे हुए हैं, इसके भावोंमें आत्माकी सुन्दरताकी तरफ घोर आसक्त बुद्धि हो रही है—आत्माका शुद्ध स्वभाव सिद्ध परमात्माके समान पूर्णज्ञान घन, वीतराग तथा आनन्दमई है। यही ग्रहण करने योग्य है। यही सुखशांतिका मूल है ऐसा भाव उस देशनाके प्रतापसे इसके भीतर जाग्रत हो रहा है। जो देशना श्रीगुरुके उपदेशसे व शास्त्र-द्वारा इसने प्राप्त की थी व किसीके पूर्व संस्कारवश स्वतः ही ऐसी बुद्धि उठ आई थी। कर्म बंधनके मध्य पड़ा हुआ आत्मा अब बलमें

भटकता है, तृष्णाकी दाहका सताया हुआ विषयभोगोंकी ओर पुनः पुनः दौड़कर जाता है परन्तु अपनी तृषाको बुझानेकी अपेक्षा बढ़ा लेता है, उसको सच्ची सुखशांति कभी नहीं प्राप्त होती है। यह उपदेश जो इसने ग्रहण किया था वह इसे भीतरसे प्रेरणा कर रहा है जिससे इसकी श्रद्धा ससार वाससे हट रही है और मुक्तिकी स्वाधीनताकी प्राप्तिपर जम रही है, इसीलिये यह जीव बहुत ही आदरके योग्य है क्योंकि यह अवश्य सम्यग्दर्शनको प्रकाश करके एक दिन उन्नत होते २ परमपवित्र परमात्मा हो जायगा। वास्तवमें आत्माके शुद्ध स्वभावकी चर्चा ही जब मनको आल्हादित करती है तब उस शुद्ध स्वभावकी ओर लक्ष रखते हुए उधर रुचिका जमते रहना जैसा कि इस लब्धिमें संभव है कैसा आनन्द उस वीरको देता होगा यह बात उसीके ही अनुभवगोचर है। धन्य है यह वीर जो एक तानसे व एक मनसे आगे बढ़ा जारहा है।

(४)

एक ज्ञानके रसका लोभी आत्मा सर्व चिन्ताओंको त्यागकर आत्मिक पुरुषार्थके साधनमें तल्लीन होरहा है। इसका लक्ष्य मात्र शुद्ध भावकी रुचिपर टिका हुआ है। इसके अपूर्वकरण सम्बन्धी परिणामोंके प्रतापसे इसमें विशुद्धता बढती चली जारही है। अब यह एकदमसे अनिवृत्तिकरणके परिणामोंमें चढ़ गया है। इस कारणके भावोंमें तलवारकी धारके समान शक्ति है। इनहीके प्रभावसे मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषायकी वर्गणाएं अपना असर देना बंद कर देती हैं और कमसे कम अंतर्मुहूर्तके लिये तो दब ही जाती हैं। इस कारणमें इस जातिके भाव होते है कि

जितने जीव एक समयमें इस करणको प्रारंभ करते हैं उन सबके परिणाम समान रूपसे विशुद्ध होते हैं तथा इसमें सब जीवोंके परिणामोंकी शुद्धिकी वृद्धि भी समानरूपसे होती है। वास्तवमें ये परिणाम सब एक जातिके हैं। जितनी उज्वलता परिणामोंकी उन पांच प्रकृतियोंके उपशमके लिये आवश्यक होती हैं उतनी उज्वलता हरएकको प्राप्त करनी ही पड़ती है। विना इतनी बलिष्ठ ताकतके अनादिके शत्रु नहीं जीते जासक्ते हैं। अपूर्वकरणलब्धिके समान इस लब्धिमें भी चार आवश्यक होते हैं—गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन व अनुभागखंडन।

इस जातिके परिणामोंमें परिणमनेवाला आत्मा सर्व पुद्गलकृत पर्यायोंसे अपना ध्यान हटाकर मात्र आत्माके उन गुणोंपर ध्यान जमा रहा है कि जिनका स्वरूप इसने देशनालब्धिमें शास्त्र व गुरुके द्वारा जाना था व युक्तिके बलसे जिनपर गहरा विचार किया था। इसकी दृष्टिके सामने शुद्ध निश्चयनयका लक्ष्य बिन्दु कल्लोल कर रहा है। मैं शुद्ध ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी आनंदमय और वीतराग हूं, मैं शुद्ध द्रव्य हूं, सहज ही वीतराग विज्ञानमय हूं, मैं वास्तवमें शब्दका विषय नहीं, संकल्प विकल्पमय मनके संचारका विषय नहीं, शरीरके-हलनचलन व थिरताका विषय नहीं। मैं तो आप आपका विषय हूं, मैं तो मात्र स्वानुभवगम्य हूं। जहां निश्चयनय और व्यवहारनयके विकल्प नहीं रहते, जहां नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव निक्षेपकी कल्पना नहीं उठती, जहां परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रमाणकी तरंगें नहीं आतीं, जहां मन, वचन, कायकी मानों जुदाई ही होजाती है वहां ही आत्माका दर्शन

होता है। आत्मदर्शनमें ही रत्नत्रयका दृश्य रहता है। इस तरहके ज्ञान व श्रद्धानमें भीजा हुआ यह वीर आत्मा समय समय अनन्तगुणी परिणामोंकी विशुद्धतापर चढ़ रहा है और अपने शुद्ध भावोंके प्रतापसे सम्यग्दर्शनके विरोधी कर्मोंको अपने सामनेसे हटा रहा है। इस तरह एक वीर आत्मा उन्नतिके मार्गपर आरूढ़ होकर दुःख व श्रमसे रहित परम आल्हादरूप भावमें ही जागृत होरहा है।

उपशम सम्यक्त।

(१)

एक ज्ञानी भव्य आत्मा अनिवृत्तिकरणके अंत समयमें दर्शन-मोह और अनतानुबन्धी कषायके द्रव्यको अंतर्मुहूर्तके लिये उदयके अयोग्य करके उपशम सम्यक्तको प्राप्त होता है। यह सम्यक्त शुभ लेश्यामें होता है। देवोंके तो पर्याप्त अवस्थामें शुभ लेश्या ही रहती है। मनुष्य व तिर्यंचोंके जघन्य तेज लेश्यामें व नारकियोंके शुभ लेश्या नहीं होती है तौ भी अति मंद अशुभ लेश्यामें सम्य-क्तकी उत्पत्ति होती है। वास्तवमें जहां अत्यन्त धर्मानुराग व आत्महितकी ओर सन्मुखता होती है वहीं सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। यह जीव जब अनादि कालसे ढके हुए सम्यक्त रत्नका लाभ कर लेता है तब यह परमात्मपदकी प्राप्तिकी आशाका अवश्य तृप्त करनेवाला होजाता है। मानो इसकी दर्शनी हुंडी लिख जाती है। यह सम्यग्दर्शन अपने अनुपम प्रभावसे वस्तुके स्वरूपको यथावत प्रकाश कर देता है। आत्मा अनातमाके यथार्थ परिज्ञान

व निश्चितिमें जो भ्रम था वह सम्यक्तके प्रभावसे निकल जाता है। इसकी बुद्धिमें यह जगत् सदाकाल रहनेवाले सत् पदार्थोंका समुदाय झलकता है। भले ही इनमें अवस्थाएं होवें वे नष्ट होवें तथापि जिनमें पर्याय होती हैं वे मूल द्रव्य त्रिकाल सदा अविनाशी बने रहते हैं। उनका न कभी जन्म होता है न कभी नाश होता है। जीव तथा अजीव द्रव्य एक ऐसे अगुरुलघु गुणको रखते हैं जिसके कारण हरएक द्रव्य जितने गुणोंका वह अखंड तथा अमिट समुदाय है उतने गुणोंको न कभी त्यागता है और न कोई नया गुण किसी अन्य द्रव्यका अपनेमें प्रवेश कर सक्ता है। सर्व द्रव्य अपने समस्त गुणोंको अपनेमें सदा पीये हुए रहते हैं। परके संयोगरूप व्यवहार दृष्टिसे देखते हुए पदार्थ कुछका कुछ दिखता है परन्तु जब शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयदृष्टिसे देखा जाता है तब सर्व द्रव्य भिन्न२ अपने गुणोंमें मस्त दिखते हैं। कोईका मानो कोईसे कुछ संबंध ही नहीं है जैसे एक रकाबीमें फैले हुए हीरेके रत्न भिन्न २ दिखते हैं। सम्यक्ती जीवको जगतमें अनंत प्राणियोंकी आत्माएं भी अनात्मासे भिन्न भिन्न २ दीखती हैं तथापि सर्व एक सदृश गुणोंकी धारण करनेवाली ही चमकती हैं। सर्व आत्माओंमें पूर्ण चारित्र, पूर्ण सुख, पूर्ण वीर्य इत्यादि सर्वगुण परिपूर्ण ही प्रकट हो रहे हैं। जैसे एक सांचेमें ढले हुए चांदीके कलश व चांदीके पुतले दिखते हों ऐसे ही एक समान सम्पूर्ण आत्माए परब्रह्म स्वरूप दीखती हैं। असंख्यात प्रदेशोंकी समानताकी अपेक्षा सबके आकार भी समान दिखते हैं। सम्यक्ती जीव इस दृष्टिसे देखते हुए व्यवहारके प्रपंच-जालोंको उल्लंघ जाता है। पिता पुत्र, भार्या, पति, भ्राता, भगिनी,

स्वामी सेवककी कल्पनाओंसे पार होजाता है, रागद्वेष मोहके पिंज-रेसे निकल जाता है और एक परम साम्यभावमें विश्रांति पा लेता है। फिर चाहे आपको देखे चाहे सबको देखे, शुद्ध द्रव्यके अनु-भवको पा लेता है और उस समय जिस अपूर्व आनन्दका भोग करता है उसका कथन कोई शब्दोंसे कर नहीं सक्ता है। धन्य है वह सम्यक्ती जीव जो सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्रकी तरंगोंमें मस्त होता हुआ जीवन्मुक्त सम होरहा है।

(२)

उपशम सम्यग्दर्शनके मनोहर रंगमें मस्त एक वीर आत्मा परमानंदका अनुभव कर रहा है। इसकी दृष्टि पहले किसी और मजेमें थी अब इसकी दृष्टि किसी और ही स्वादमें है। जहां पहले इंद्रिय विषय-विकारकी उलझन थी वहां अब शांत रस पानका अनु-भव है। जहां पहले सर्व पुरुषार्थ पुद्गलकी सेवार्थ था वहां अब सब पुरुषार्थ आत्माके लिये समर्पित है। पहले संसारके संकल्प-विकल्प रूप बाग अच्छे मालूम पडते थे अब आत्माका मनोहर उपवन क्रीडागृह होरहा है। पहले जहां कषायकी कालिमाके मेट-नेकी तरफ उपेक्षा थी अब यहां वीतरागता ही इष्ट होरही है। पहले जहा क्षणिक ज्ञानकी तरफ लक्ष्य था अब यहां एकाकार अखंड ज्ञान गुणकी तरफ रुचि है, जिस ज्ञानमें न भेद हैं न खण्ड हैं न क्षपवर्तीपना है। पहले एकांत नयका हठ चित्तको हठधर्मी बनाए हुआ था अब अनेकांतकी दृष्टिमें इसके चित्तको माध्यस्थभावमें आरूढ़ कर दिया है। पहले जगतके स्त्री पुत्र मित्रादिक अपने ही सम्बंधी दिखलाई पड़ते थे अब वे शरीरके साथी मालूम पड़ते हैं।

हां, उनकी आत्मा इसे भ्राताके समान मालूम होती है। उनकी आत्माओंके हितमें इसका भाव है, शरीरके ऊपरसे शारीरिक मोह विदा होचुका है। पहले यह मनोहर गद्दोंपर विश्राम करके व अति कोमल वस्त्रोंसे अलंकृत सज्जापर आराम करके चैन मानता था अब यह आत्माकी शुद्ध परिणतिरूपी शय्यापर ही आनंद मान रहा है। पहिले जहां अनेक अतर फुलेलकी वासका अदर था, अब यहां आत्मवनके गुण-पुष्पोंके मननसे उठी वस्तुस्वरूपताकी गंधमें ही आसक्तता है। पहले यह धनकी वृद्धिसे वृद्धि समझता था अब यह आत्मीकज्ञान वैराग्य और आनंदकी वृद्धिको धन समझता है। पहले अनेक नगरोंकी शोभा देखनेमें ही अपना जन्म सफल मानता था अब यह इस लोकके षट्द्रव्यमयी दृश्यको व उनके स्वरूपकी शोभाको देखकर ही तृप्त होरहा है। पहले यह नानाप्रकार पंचेंद्रियके विषयोंको पुष्ट करनेवाले अनेक प्रकार वार्तालाप व गानादि सुननेमें लवलीन था अब इसे आत्माके गुणोंके कहनेवाले मनोहर पद भजनोंकी ध्वनि ही इष्ट है। वास्तवमें उपशम सम्यक्तीकी परिणति ही पलट गई है, बाईं करवटसे दाहनी हो गई है, संसार कीचसे निकलकर धर्मकी नौकामें आरूढ़ होगई है। इसकी दशाका अनुभव यातो इस ज्ञानी जीवको है या केवलज्ञानी जानते हैं। हम इस सुखिया जीवकी अनुमोदना करते हुए सम्यक्तरत्नके प्रकाशकी उमंग रखते हैं और यही भावना भाते हैं कि कब हम परमानंदमई निज महलमें विश्राम कर आकुलताओंके झझटोंसे निवृत्त हों।

(२)

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मतत्वका समझनेवाला एक धर्मात्मा,

जीव करणलब्धिके प्रतापसे चतुर्थ गुणस्थान अर्थात् अविरत सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें विराजमान होकर उपशम सम्यक्तका स्वाद ले रहा है। इस अवस्थाका रहना अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं होसक्ता है। इसके आत्मबलने उतनी ही देरके लिये उन कर्मोंको दबाया है जो सम्यक्त गुणको विपरीत कर रहे थे। इसकी सत्तामें सम्यक्तके शत्रु अभी जीते जागते विद्यमान हैं–परन्तु इसके भावोंके प्रभावसे मिथ्यात्व कर्मकी वर्गणाओं (कर्मोंके ढेर विशेषको वर्गणा कहते हैं) के तीन खड होजाते है जिनमें मिथ्यात्वकी शक्ति अतिशय अल्प रह जाती है। उस कर्मसमूहको सम्यक्त प्रकृति कहते हैं तथा एक खंड मिश्र प्रकृतिका होजाता है यह बीचके नंबरका है। तीसरा वही मिथ्यात्वरूप ही रहता है। अब इसकी सत्तामें सम्यक्तके घातक सात होगए हैं अर्थात् चार अनंतानुबंधी कषाय और तीन दर्शन मोहके भेद। यह काम इस भव्य जीवकी बुद्धिपूर्वक ही हो जाता है जैसे हमारा लिया हुआ भोजन मोटा पतला रस रुधिर आदि रूप स्वयं परिणमन कर जाता है अर्थात बदल जाता है। वह भव्य जीव तो आत्माके दर्शन व आत्मरस वेदनमें ऐसा मग्न है कि इसका किसी अन्य बातकी ओर लक्ष्य नहीं है। वास्तवमें यह स्वानुभव दशा है जहां इसके चित्तमें मैं कौन हू, क्या मेरा स्वभाव है–पुद्गल भिन्न है, मैं भिन्न हू इत्यादि जितने भी विकल्प हैं वे गुम होजाते हैं। जैसे जिह्वासे स्वाद लेनेमें मगन जीव और रसोंका स्वाद नहीं लेता है ऐसे ही आत्म रस वेदी जीव सिवाय आत्माके अन्य रसका न तो स्वाद लेता है न अन्य ओर अपना लक्ष्य ही लगाता है। जैसे भौंरा कमलकी सुगंधमें, हिरण गानकी,

तान सुननेमें, पतंग दीपककी लौको देखनेमें, मछली जिह्वा द्वारा स्वादके लेनेमें, हाथी हस्तनीके स्पर्शमें, मुनीम रोकड़की विधि मिलानेमें, वीर योद्धा सामने खड़े हुए शत्रुके विध्वंश करनेमें, स्त्री दर्पणमें अपना श्रृंगार देखनेमें तथा गवैया गानकी ध्वनिमें मस्त और बेखबर होजाता है वैसे यह आत्मज्ञानी सम्यक्ती जीव नीजानन्दके भोगमें तन्मय रहता है। इसमें न हां है न ना है न दोनों हैं, न अवक्तव्य है। यहां सप्तभंग नय व प्रमाणादिका प्रवेश ही नहीं है। यहां तो जो वस्तु है वह है। स्वानुभवीके कुछ भी झगडा नहीं है। वह तो निज रसमें ही आसक्त है।

क्षयोपशम सम्यक्त ।

(१)

एक ज्ञानी आत्मा उपशमसम्यक्तके कालको समाप्त कर यकायक सम्यक्त मोहनी प्रकृतिके उदयसे क्षयोपशम सम्यक्तमें बदल जाता है। परिणामोंकी विचित्र गति है। आत्मानंदके निर्मल स्वादसे विचलित होजाता है। इस सम्यक्तमें वह निर्मलता नहीं, वह एकाग्रता नहीं, वह दृढ़ता नहीं। इस दर्शनमोहकी देशघाती प्रकृतिके उदयके प्रभावसे इसके भावोंमें चल, मल, अगाढ़ तीन दोष विद्यमान हैं। सर्व अर्हंत, सर्व सिद्ध, सर्व आचार्य, सर्व उपाध्याय, सर्व साधु एक समान विनययोग्य होते हुए भी किसीमें कम किसीमें अधिक आदर करना, अपने श्रद्धानमें किसीसे अधिक लाभ होना समझ लेना व सर्व आत्माओंका स्वभाव निश्चयनयसे समान है तो भी कम व अधिक श्रद्धान करना सो चल नामा दोष है—वस्तुके

स्वरूपमें चंचलताका द्योतक है। मल नामा दोष सम्यक्तभावमें पांच तरहका अतीचार लगाता है। १—कभी कभी जिनप्रणीत तत्वोंमें शंका हो उठती है फिर मिट जाती है, २—कभी२ इंद्रियोंके भोगोंकी श्रद्धा होजाती है कि इनसे भी सुख होता है, ३—कभी २ धर्मात्माओंसे भी ग्लानि व गरीब दुःखित मांदे प्राणियोंपर भी जुगुप्सा भाव आजाता है, ४—कभी २ मनमें मिथ्या तत्वोंके ज्ञाताओं द्वारा सम्यक् धर्मसे विपरीत कोई कार्य दान पूजा आदिका देखकर उनकी मनमें प्रशंसा होजाती है, ५—व उनकी प्रशसा चार आदमियोंमें कर दीजाती है। ये पांचों अतीचार हैं। जैसे बुढेकेड़ हाथमें लकड़ी चचल रहती है इसी तरह श्रद्धानमें ढीलेपनेको अगाढ़ दोष कहते हैं। सम्यग्दृष्टी ऐसी शुद्ध परिणतिका होता है कि अपने द्रव्यसे तय्यार किये हुए मदिरमें व धर्मायतनमें व शास्त्र आदिमें अपनेपनेकी बुद्धि नहीं रखता है। इस क्षयोपशम सम्यक्तीके भावोंमें इनसे विशेष ममत्व होजाता है जिससे वह कभी २ अन्य जिन मंदिरादिकी ओर उतना आदरभाव नहीं रखता है जितना वह अपने द्वारा निर्मित पदार्थोंमें रखता है। सम्यक्त प्रकृतिका यह कार्य है, जबतक इसका उदय है तबतक सम्यक्त भावकी निर्मलता नहीं होती है।

यद्यपि यह क्षयोपशमसम्यक्ती अशुचिताकी छायामें पड़ा है तथापि इसका सम्यक्त—भाव इसके पास बना हुआ है। इस कारण इसके भावोंमें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य ये चार भाव अपनी सुन्दरता बता रहे हैं। यह ज्ञानी यकायक क्रोध नहीं कर लेता है—किसीके किये हुए अपराधका कारण ढूंढ निकालता है

और उसको विचार क्षमा-भाव करता है। शांत-भाव उसके स्वभावमें दृढ़तासे बसा हुआ है। क्रोधका करना महापाप समझता है। संसारके दुःखोंमें यह आत्मा क्लेशित न हों इससे संसारमें उदासीन भाव रखता है, समस्त जगतके प्राणियोंसे इसके प्रेमभाव होता है, किसीको भी क्लेशित देखकर उसके दुःखको अपना दुःख समझता है और यथाशक्य दया करके उसके दुःखोंको दूर करनेकी पूरी चेष्टा करता है। आत्मा व कर्मसिद्धांत आदिके अस्तित्वमें अश्रद्धा भाव नहीं होता है, पूर्ण अस्तिक्यका धारी होता है, यद्यपि यह अभी गृहस्थ है। यह धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थोंको साधन कर रहा है तथापि समय निकाल करके भाव निक्षेपरूप सम्यक्तको जागृत करके आत्माका मनन करता है और आत्मानुभवके सारभूत रसका पान करता है। यह वीर, धीर रहकर अपनी आत्मपरिणतिको अपनेमें जागृत किये रहता है और अटल वैराग्यभावसे अपने आत्मामें भरे हुए स्वात्मानुभवरूपी अमृतका पान करता है।

क्षायिक सम्यक्त।

(१)

एक वही ज्ञानी वीर अब चौथे गुणस्थानमें ही ठहरा हुआ सम्यग्दर्शन नामा गुणके घातक चार अनंतानुबंधी कषाय और दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंके क्षय करनेका उद्यम करनेपर तैयार हो गया है—इसके पुण्यके उदयसे इसे श्री वर्द्धमान तीर्थंकरके समवशरणका समागम प्राप्त होगया है। यह बड़े आनंदसे प्रभुके दर्शनके लिये जाता है—नमस्कार करके मनुष्योंकी सभामें बैठ जाता

है। कुछ देर पीछे श्री महावीर भगवानकी दिव्यवाणीका उदय होता है। महावीर भगवानका आकाशमें निराधार आसन इस क्षयोपशम सम्यग्दृष्टीके चित्तमें अपना अपूर्व प्रभाव जमा रहा है—प्रभुकी ध्वनिसे मोक्षकी सुन्दरता और संसारकी असुन्दरता सुनके यह चकित होजाता है। संसार तृष्णाको बढ़ानेका कारण है—दावानलके समान है जिसमें पड़ा हुआ प्राणी निरतर कष्ट पाता है। यह संसार आत्माकी निज संपत्ति जो सुख शांति है उसको जलानेवाला है, सुखके लिये भ्रमण करा करके भी सुखकी लब्धिसे दूर ही रखनेवाला है। जब कि मोक्ष आत्माका निज भाव है, वहां पूर्ण आकुलताका अभाव है—वहां निरंतर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त और चारित्रादि गुणोंकी सत्ता पाई जाती है। वहां रागद्वेष मोहके बाघ प्रवेश नहीं कर सक्ते, वहां ईर्षा और कपटके भयानक सर्प लोट नहीं सक्ते। वहा कर्मोंके बन्धन आत्माको बांध नहीं सक्ते। वहां एक आत्मा अकेला ही अपने शुद्ध स्वरूपमें कल्लोल करता है। वहा स्वात्मानुभवका स्रोत सदा चलता रहता है जिससे अतींद्रिय आनन्दका स्वाद सदा आता रहता है। उस अवस्थाका फिर पतन नहीं होता क्योंकि उसके विरोधी कर्मोंकी वहां सत्ता ही नहीं रहती। वहा स्वाधीनताका पूर्ण साम्राज्य है। वह वास्तवमें एक ऐसा आराम है जहा आत्माको सदा ही आराम मिलता है। इस कथनको सुनकर यह भव्य जीव अत्यन्त प्रसन्न होजाता है, उठकर नमस्कार करता है तथा यकायक भामण्डलमें कुछ नाटक देख लेता है—उसको अपने तीन भव आगेके व तीन भव पिछले दिख जाते हैं व वर्तमान भवका भी सब चारित्र नमर

आता है। इस आश्चर्यकारी महात्माको देखकर उसका श्रद्धान अत्यन्त निर्मल होजाता है। यह सभा-मंडपसे बाहर आकर चैत्य वृक्षके नीचे भगवानको नमस्कार करके बैठ जाता है और अपने आत्माका स्वरूप चिन्तवन करने लग जाता है-तुर्त 'करणलब्धिके परिणामोंकी प्राप्ति होने लगती है जिससे अनन्तानुबन्धी कषायका कर्म द्रव्य पलट कर अप्रत्याख्यानादि १२ कषाय और हास्यादि नो कषायोंमें पलटने लगता है। यह अपने आत्माके स्वरूपके विचारमें एकचित्त है। इस समय आत्मीक मननसे प्राप्त होनेवाली सुख शांति इसके अनुभवमें आती है और इसके सर्व अंगको आनन्दके समुद्रमें मगन कर देती है।

(२)

तत्त्व विचारमें लीन वेदक सम्यग्दृष्टी जीव श्री महावीर भगवानके समवशरणके भीतर चैत्य वृक्षके नीचे बैठा हुआ परिणामोंकी उज्वलता कर रहा है। अनंतानुबन्धी कषायका विसंयोजन करके अन्य कषायरूप कर्म द्रव्यको पलटा करके अंतर्मुहूर्त तक साम्यभावमें लीन होता हुआ फिर परिणामोंकी उज्वलताको बढ़ाता है और अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणको क्रमसे करता हुआ तथा मिथ्यात्वके द्रव्यको मिश्ररूप, मिश्रके द्रव्यको सम्यक्तमोहनीरूप करता हुआ व स्थिति घटाता हुआ चला जाता है। यहांतक कि अनिवृत्तिकरणके अंतमें सर्व दर्शन मोहनीयके द्रव्यको सत्तासे हटाता हुआ अत्यन्त निर्मल क्षायिकसम्यग्दृष्टि होजाता है। धन्य है यह वीर आत्मा जिसने आध्यात्मिक सोपान पर चढ़नेकी इतनी वीरता दिखाई है कि इसने ऐसी सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें अपना

पग जमा दिया है कि फिर वहासे इसका पग हटानेको कोई कारण ही शेष नहीं रहा। वास्तवमें इसने उन आत्माके शत्रुओंका संहार कर डाला है जो अनादिकालसे इस त्रिलोकज्ञ प्रभुको अनेक संसारकी कुयोनियोंमें सुखकी तृष्णासे तृषातुर रखते हुए भ्रमण करा रहे थे। उनके भीतर कर्मत्व शक्ति नष्ट होगई है—वे मात्र पुद्गलके पिंड रह गए हैं। मोहकी सेनामें ये ही सात योद्धा बडे प्रबल थे। जो इनको नाश कर डालता है उसको फिर मोहके नाश करनेमें कोई संशय शेष नहीं रह जाता है। वह यथासभव मोहका नाश करके अवश्य केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा होजाता है। इस क्षायिकसम्यक्तके प्रभावसे इस भव्य आत्माको तत्वोंका ऐसा गाढ़ निश्चय होगया है कि जिस निश्चयको कोई भी विद्वान या इन्द्र या अहमिन्द्र कोई भी अनेक प्रयत्न करनेपर भी नहीं हटा सक्ता। इसने निर्मल आत्माका अनुभव प्राप्त कर लिया है। यह निज आत्मासे उत्पन्न आनन्द अमृतके स्वादमें मगन है। इसको संसारके विषय रस खारी जलके समान अतृप्तिकारी झलक रहे हैं। यह शिवसुन्दरीके विलासका प्रेम बढ़ाता हुआ उसीके स्नेहमें रात्रिदिन उन्मत्त होता हुआ, जगतके पदार्थोंसे मोहको हटाता हुआ जिस स्थितिमें मौजूद है उसका दिग्दर्शन वचनअगोचर है। इसकी महिमा अपार है। यह परमात्मावेदी परम संतोषी रहता हुआ चौथे दरजेमें ही बड़ा सुखी व तत्वज्ञानी होरहा है।

(३)

एक ज्ञानी गृहस्थने श्रीमहावीर तीर्थङ्करके महान् प्रभावसे प्रभावित हो अपने भावोंकी शुद्धताके द्वारा क्षायिकसम्यक्त प्राप्त कर

किया है। अब यह परम दृढ़ श्रद्धावान होगया है। इसके भावमें मिथ्यात्वकी किंचित् भी कालिमा नहीं रही है—इसकी दृष्टिमें यह लोक छः द्रव्योंका समुदाय पृथक् २ झलकता है। यद्यपि संसारी प्राणी एकेंद्रियादि पंचेंद्रिय पर्यंत सब मलीन हैं, पुद्गलके साथ दूध जलके समान मिले हुए है तथापि इस ज्ञानी जीवको जीव पुद्गलसे भिन्न शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई झलक रहा है। जैसे उसको अपना आत्मा शुद्ध दिखता है वैसे अन्य सब आतमाए शुद्ध दिखती हैं। उनकी दृष्टिमें राग द्वेष मोहादि सब पुद्गल कर्मोंके विकार औपाधिक भाव प्रगट होते हैं। इसको अपना ही सुखका समुद्र प्रतीत होता है। यह अपने आत्मरसका ऐसा प्रेमी होजाता है कि अन्य जगतके सब रस इसको फीके दिखने हैं। यह भी अविरत-सम्यग्दृष्टि है, चौथी श्रेणीमें है। इसके अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय भी उपशम नहीं हुआ है जिससे यह श्रावकके व्रतोंको भी नहीं पाल सक्ता है। यह गृहस्थके कारबारमें फंसा है—क्षत्रीकी वृत्तिमें अनेक देशोंकी, सेनाकी व प्रजाकी सम्हालके प्रबन्धमें दत्त-चित्त है, वैश्यकी वृत्तिमें यह कृषि, मसि व वाणिज्य कर्ममें लगा हुआ है. शूद्रकी वृत्तिमें यह मकानादि बनानेके काममें व्यस्त है। यह पैसा कमाता है तथापि नीतिको उल्लंघन नहीं करता है, इसके चित्तमें जगतके जीवोंसे प्रेमभाव रहता है जिससे यह किसीसे अन्यायसे पैसा पैदा करना नहीं चाहता है। यह अत्यन्त अनुकंपावान है, दूसरोंके कष्टोंको अपना कष्ट समझता है। इस प्रकार नीति व सदाचारसे सारा जीवन बिताता है, पैसेको व्यर्थ खर्च नहीं करता है। अपने आवश्यक खर्चसे बचाकर उसको ज्ञानके प्रचारमें व

आवश्यक परोपकार तथा दानमें लगाता है। स्त्री पुत्रादिसे यद्यपि प्रेमालु है परन्तु जितना प्रेम उनकी आत्माओंसे है उतना शरीरसे नहीं है। उसको यह स्वतंत्रता रहती है कि इतनी आत्माए जो मेरे आधीन रहती हैं इनको सुख शांतिका उपाय प्राप्त हो—ये भी मेरे समान सन्तोषानन्दको भोग सकें। उसका व्यवहार ऐसा उचित होता है कि कोई प्राणी उसके वर्तनसे कष्ट नहीं पाता है। वह अपने घरमें एक चन्द्रमाके समान प्रकाश करता है। जिससे सब घरवाले सुख पाते हैं व उसको देखकर आनदित होते हैं। यह अनायास ही प्रतिदिन समय निकालकर एकातमें बैठता है और कुछ देर अपनी आत्मानुभूतिसे संगत करके सर्वको भूलकर एक आत्मरसमें ऐसा मगन हो जाता है कि इसका कथन नहीं होसक्ता।

(४)

जिस ज्ञानी गृहस्थने श्री महावीर भगवानके सगसे क्षायिक-सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है वह ज्ञानी चोथी अविरतसम्यग्द-र्शनकी श्रेणीमें रहते हुए भी आठ महान् गुणोंसे विभूषित है। जैसा कहा है—

संवेओ णिव्वेओ णिन्दा गर्हा उवसमो भत्ती।
वच्छलं अणुकम्पा गुणट्ठ सम्मत्त जुत्तस्स॥

इस ज्ञानी गृहस्थके भावमें धर्मानुराग कूट कूट कर भरा है। परम सवेग भावके द्वारा इसका आत्मा धर्मरसको हरसमय टपकाता रहता है—वीतरागभावके प्रेमीके लिये वीतराग ही उपादेय भासता है। संसार असार भ्रम जालमय है, आकुलता व चिंतासे पूर्ण है, इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोगरूप है। शरीर अपवित्र मल मूत्रादि

कृमियोंका घर है, बाह्यद्रव्यके पोषणके व आयुकर्मके आधीन है, एक दिन अकस्मात् नष्ट होनेवाला है। इन्द्रियोंके भोग अतृप्तिजनक हैं, तृष्णारूपी रोगको बढ़ानेवाले हैं, नाशवंत है, अत इनका आकुलतासे पूर्ण है, पाप बंधके कारण है तथा आत्मानंदके भोगसे छुडानेवाले हैं ऐसा भाव निर्वेद गुण है जो सम्यग्दृष्टीके भावमें भले प्रकार जागा करता है। मैं तीन लोकका स्वामी, अनंतज्ञानी, अनंतदर्शनी, अनत वीर्यवान व अनंत सुखी होकर भी कर्मबंधके प्रयोगसे हीन शक्तिवाला होरहा हूं। मैं महा दीन, कायर व अपुरुषार्थी हू। जबतक निज स्वभावको न प्राप्त करूं तबतक मैं अपनेको अति निन्दनीय समझता हूं। इसतरह अपने मनमें अपनी प्रशसा करे तो उसके सामने अपनी निन्दा कर देता है कि मैं इस योग्य नहीं हू। धन्य हैं वे साधु जो अंतरग कषायादिको जीतकर और बाहरमें परिग्रहसे मोह छोड़कर परम वैराग्यको भजते हुए व अनेक उपसर्ग तथा परिषह सहते हुए आत्मध्यानमें जागृत रहते है। इस तरह सम्यग्दृष्टिके भीतर निन्दा और गर्हा गुण रहता है। यह क्षायिकसम्यग्दृष्टि तो ऐसा शांत है मानो कषायोंको इसने विजय ही कर लिया है। आत्म ज्ञान और विवेकके कारण व अपने समान सब जंतु है इस भावके कारण यह यकायक क्रोधमें जाज्वल्यमान नहीं होता है—इसके मनमें क्षमा भाव है, मुखपर शांति है, शरीरमें शांतता है। कभी क्रोध झलकता भी है तो मात्र बाहरसे किसी प्राणीको सुमार्ग पर लानेके ही कारण झलकता है। इस उपशम गुणके कारण यह नवीन कर्मबंध बहुत कम स्थितिके लिये करता है। भक्तिगुण भी अपूर्व है। देव, गुरु, धर्मकी सच्ची

भक्ति इस ज्ञानी आत्माके भीतर रहती है, यह तत्वोंका जानने-वाला है इसलिये गुणवानोंका अति आदर करता हुआ उनके गुणोंके समान गुण प्राप्तिकी भावना रखता है। यह ज्ञानी चाहे धीरे ही स्तुति व शांततासे नमन करे इसमें जितनी भक्ति है उतनी भक्ति उस सम्यक्तहीन प्राणीमें नहीं है जो वादित्र बजाकर व जोरसे चिल्लाकर भगवानकी भक्तिमें पाठ पढता है। वात्सल्यगुणके कारण यह सर्व साधर्मी भाई वहिनोंको अपने सगे पुत्रसे अधिक देखता है, उनके सङ्कटको अपना सङ्कट समझता है, इनके दु खोंके निवा-रणमें यथाशक्ति उद्यम करता है। परके हितार्थ अपनी हानि भी सह लेता है। वह किसी साधर्मीको अपनेसे अधिक धनवान, विद्यावान, राज्यवान देखकर मनमें शोकित नहीं होता है किन्तु उनके पुण्यका उदय मानकर उनसे किसी तरह अप्रेम नहीं करता है किन्तु उनके भीतर धार्मिक भाव बढे, वे अधिक दान धर्म जप तपमें उन्नति करें ऐसी भावना रखता है, अनुकम्पा गुण भी अपूर्व होता है जिससे यह क्षायिकसम्यग्दृष्टी जीव सर्व प्राणी मात्रपर दयाभाव रखता हुआ सर्वका उपकार यथाशक्ति करता है। सबसे अधिक दया मनुष्यों पर फिर पशु पक्षियोंपर फिर एकेन्द्रियादि जीवोंपर रखके उनके संकटोंको मेटनेका व उनको वृथा कष्ट न देनेका सदा ध्यान रखता है। सर्व जीव सुखी रहें यह प्रेम व दया उसके भीतर जागृत रहती है। इस तरह यह सम्यग्दृष्टी जीव इन अपूर्व आठ गुणोंसे शोभायमान होता हुआ अपने भीतर आत्मानदके स्वादको स्वात्मानुभवके द्वारा लेता हुआ परम सुखी तथा संतोषी होरहा है।

(५)

यह ज्ञानी गृहस्थ अपने गृहके कार्योंमें निरत है तथापि इसकी धारणामें भेदज्ञान और आत्मज्ञानकी रुचि यथावत् विद्यमान है। यह इस गृह प्रपचको कर्मोका नाटक समझकर कर रहा है- अपने आत्माके कार्यसे इसे विपरीत जान रहा है। कषायोंके वेगमें उन्मत्त चेष्टा है ऐसा जान रहा है। कषाय कर्मजनित विकार है, पुद्गलका असर है जिसने मादक पदार्थकी तरह शुद्ध शांतभावको चञ्चल और क्षोभित कर दिया है। यकायक सुनता है कि शत्रुने आक्रमण किया है। देश, धर्म, व साधु संतकी रक्षा करना कर्तव्य है ऐसा निश्चय करके एक प्रवीण दूतको भेजता है कि वह जाकर शत्रुको समझावे, उसे ठीक मार्गपर लावे, उसके विरोधसे देशको विच्छिन्न होनेसे बचावे। दूत जाता है, उसे समझाता है परन्तु वह नहीं मानता है। उसकी लालसा है कि इस देशके शासकको परास्त करूं, इसे राज्यच्युत करूं, अपना साम्राज्य स्थापित करूँ- वह कहला भेजता है कि यातो आधीनता स्वीकार करो, मेरी सेवकाई करो या यदि बल हो तो युद्धके लिये सामने आओ। दूत यह सदेश इस क्षायिकसम्यग्दृष्टिको सुनाता है। यदि इसके प्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होगया होता तब तो यह सर्व परिग्रह त्याग साधु ही होगया होता परन्तु इसके तो अभी अप्र- त्याख्यानावरण कषायका भी अति प्रबल वेग है। दूतके यह वचन सुन स्वयं क्रोधित होजाता है और अन्यायकारी शत्रुके दमनार्थ सेनाको सज्जित होनेके लिये आज्ञा देता है। यद्यपि यह स्वात्मा- नुभवके कालमें परम वैरागी व शांत स्वभावी होजाता है क्योंकि

उस समय बलपूर्वक उपयोगको हटाकर अपने परम रुचिकर कार्य स्वात्म विचारपर लगा देता है तथापि इस समय अत्यन्त क्रूर व क्रोधित है, कृष्णलेश्यासे भरपूर है, अन्यायकारी शत्रुके संहारका दृढ़ संकल्प करके दलबल सहित निकलता है और झट शत्रुके सामने सेना सहित खड़ा होजाता है। युद्ध प्रारम्भ होनेका चिह्न होता है। युद्धके बाजे बजते है, जिनकी ध्वनिसे सिपाहियोंकि मनमें वीरत्व उमड़ आता है। शत्रुको दमन करना, मारना, मरना किन्तु पीछे नहीं हठना यह भाव जम जाता है। यद्यपि शत्रु बलात्कार राज्य लेना चाहता है तथापि युद्धके नियमोंके अनुसार ही युद्ध होता है। यह युद्ध उसी समय प्रारम्भ होता है जब प्रातःकालकी धर्म व भोजनक्रिया सब सिपाही कर चुकते हैं व संध्याके इतने समय पहले बन्द कर दिया जाता है कि सर्व योद्धागण स्वच्छ हो दिनहीमें भोजनपान कर सकें। रात्रिको विश्राम होता है व मत्र कार्य होता है कि शत्रुको दबानेके लिये सेनाकी रचना किस प्रकार की जाय। किस योद्धाको आगे व किसको पीछे रक्खा जावे। युद्धके समय खड्ग, बरछी, भाला, तीर आदिसे योद्धागण परस्पर लड़ते हैं। जब किसी सेनाका पति गिर जाता है वह सेना पीछे चल देती है। क्षायिकसम्यग्दष्टीकी नीति और आत्मबल व साहसमें अपूर्वता थी। इसकी शक्तिके सामने शत्रुकी शक्ति कम न होने लगी। यद्यपि कई दिनों तक न्याययुक्त युद्ध हुआ तथापि शत्रुकी सेना दिनपरदिन क्षीण होने लगी। उसका साहस प्रबल होने लगा तथापि मानकी तीव्रताने उसको युद्धकार्यसे पीछा न किया। इस घोर युद्धमें जिस समय कोई योद्धा

घाव खाकर गिर जाता था तुर्त दोनों तरफके डाक्टरोंके सेवक विना इस भेदभावको किये कि यह हमारा है या शत्रुका है उठा लेजाते हैं और दवाखानेमें पहुंचा आते हैं। जब कोई योद्धा गिरकर मरण निकट देख आत्ममनन करने लगता है तव भी कोई उसे छेड़ता नहीं है। हरकोई दयावान उसकी सेवामें उसे पानी पिलानेमें लग जाता है। यदि कोई युद्धसे कायर हो भाग जाता है तो कोई उसका पीछा करके मारता नहीं। यदि कोई हाथ जोडकर विनती करता है कि मुझे प्राणदान दो तो शत्रुका योद्धा दया कर जाता है। इस नीतिपूर्ण धर्मयुद्धके होते हुए कुछ काल पीछे शत्रुके छक्के छूट जाते हैं—क्षायिकसम्यक्तीकी धीरता, साहस व पुरुषार्थ व रणकुशलता शत्रुको वाध्य करती है कि वह संधि करले व क्षमा कराले। शत्रु दूत भेजता है, क्षमा व मित्रता रखनेकी प्रार्थना करता है। यह सम्यक्ती तुर्त मान जाता है तव युद्ध वंद होजाता है। शांति स्थापित होती है। शत्रुको वडे आदरसे वुलाता है। उसका भोजन सत्कार करता है और उसे धर्मोपदेश देकर धर्ममें दृढ करता है व न्यायपूर्वक राज्य करनेकी सम्मति देता है। अपने आधीन रखनेकी स्वीकारता लेकर उसे आदरपूर्वक विदा कर देता है। इसतरह यह क्षायिकसम्यक्ती राजा राज्यकार्य करता है तथापि इसे पर्यायका नाटक समझता है। इसे हजारोंवार अपनी प्रिय स्वात्मानुभूति नाम भार्याकी स्मृति इस युद्धकार्यके भीतर भी प्रवृत्त करते हुए भी होजाती थी। जब समय युद्धका नहीं होता था तव अधिक समय धर्मध्यानमें विताता था और कुछ देर तो निश्चिन्त हो स्वात्माके मनोहर उपवनमें प्रवेश कर जाता था। मन, वचन,

कायको गुप्तिमय तालेसे रोक देता था और एकतान हो स्वात्मानुभूतिके स्थानमें प्रयाण करके आत्मानंदके भोगमें मग्न होजाता था।

(६)

यह तत्त्वज्ञानी गृहस्थ चौथे अविरत सम्यग्दर्शन नामके गुणस्थानमें ठहरा हुआ यद्यपि क्षायिक सम्यक्ती है तथापि अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयकी तीव्रतासे इसने श्रावकके व्रतोंको भी नहीं धारण किया है। यह वैश्यवर्णके योग्य व्यापार धन्धेमें निरत है। इसने कपड़ोंके बनानेके वडे२ कारखाने खोल रक्खे हैं, इसके पास अनेक खेत है, अनेक गाय भैसे हैं, अनेक नौकर है। इसके पास कुछ जहाज भी है जो समुद्रमें व्यापारनिमित्त चलते है। यह कोटोंके द्रव्यका लेनदेन करता है। कपाससे सूत, सूतसे कपड़ा वनवाता है और अपने देशके व्यापारियोंको वेचनेके सिवाय परदेशमें वेचनेके लिये जहाजोंपर लादकर मिश्र, चीन, रोम आदि देशोंमें जाकर वेचता है। वहासे भारतके विक्री योग्य उन वस्तुओंको लाता है जो वहां सस्ती मिलती हैं व भारतको उपयोगी है। महान् व्यापारी व्यापारके प्रवधमें लगा हुआ भी इसको यह ध्यान रहता है कि मैं अनीतिसे न चलूं, मैं झूठ वोलकर न ठगूं, मैं जैसा कहूं—जैसा वादा करूँ वैसा ही पालन करूँ। यह जैसा मालका नमूना दिखाता है वैसा ही माल देता है या भेजता है। इसके इस सत्य व्यवहारके कारण इसकी प्रतीति जगतमें वैठ जाती है। अनेक ग्राहक विना किसी भयके कि हम ठग न जावें निःशंक इसकी कोठीमें आते हैं और थोडीसी देरमें लाखों हजारोंका माल खरीद लेते हैं। इसके यहां वस्तुओंके दाम नियत है।

नियत दाम देकर हरकोई विना भयके माल खरीद सक्ता है। यह धन बहुत प्रचुर कमाता है तथापि उसको अनीति व व्यर्थव्ययमें खरचनेसे बचाता है। गृह कुटुम्बमें सादा शुद्ध भोजन अपनी ही स्त्रियोंसे बनवाता है। भोजनार्थ प्रबंध सब महिलाओंके आधीन कर रक्खा है। वे ही भोजन सामग्री मगवातीं, शुद्ध करतीं व भोजन बनाती हैं। उसके यहा महिलाएं शास्त्रज्ञानसे भूषित हैं। शास्त्रोक्त मर्यादाका भोजन बनता है और निरंतर पात्रोंको दान दिया जाता है। वस्त्र भी शुद्ध सादा पहनना व पहनानेका रिवाज कर रक्खा है। विवाह शादी आदिमें थोड़ा ही आवश्यक खर्च करता है। प्रचुर धन बचाकर दान व परोपकारमें लगाता है। करुणाबुद्धि करके गरीबोंको अन्न व औषधि दान करता है। विद्या-प्रचारके लिये बड़े२ विद्यालय अपनी ओरसे इसने खोल रक्खे हैं। महिलाओंके लिये भी भिन्न आश्रम कर रक्खे हैं। निराश्रितोंके वासके लिये व उनका भय निवारणके लिये धर्मशाला बना रक्खी है। एक बड़ा भारी पुस्तकालय खोल रक्खा है जिसमें लाखों पुस्तकें अनेक विषयोंकी हैं जिनमें विद्वान व छात्रगण पठन करके ज्ञान लाभ करते हैं। परोपकारी संस्थाओंमें सदा ही दान किया करता है। मेरा द्रव्य मेरा नहीं है किंतु जगतके उपकारके लिये है, यह भाव उसको सदा ही उदार, दानी, व परोपकारी बनाए हुए है। सम्यक्तके प्रभावसे उसके भीतर अपूर्व अनुकम्पा है जिससे अपने आधीन किसी नौकर व पशुको किंचित् भी कष्ट नहीं होने देता है। मानवसमाजका हित करनेके सिवाय पशु समाजका भी हित करता है। दुर्बल, दुःखी व रोगी पशुओंके लिये

पशुशालाए खोल रक्खी हैं। चिकित्साघर भी बना दिया है जहां मानव व पशु रोगसे मुक्त होसकें। इस तरह यह एक मोटा व्यापारी क्षायिकसम्यग्दृष्टी यद्यपि प्रपचमें पडा हुआ अंतरगमें वैरागी है, इन सब कार्योंको कषायरूपी मदके आवेशसे किया हुआ जानता है। इन्हें आत्माका कार्य नहीं मानता है, अपना कार्य तो इसके निरंतर प्रकाशमान निज आत्मज्योतिका ध्यान है। यह नित्य पूजा, स्वाध्याय, सामायिकादि धर्मकार्योंके लिये समय निकालता है व कुछ देर बिलकुल निश्चिंत हो स्वात्मानुभवमें लीन होजाता है। इसकी दृष्टिमें यही कार्य परमानददाई व अपना काम भासता है। इस तरह यह ज्ञानी वैश्यके कार्योंको योग्यतापूर्वक करता हुआ भी जलमें कमलकी तरह उनसे अलिप्त रहता है और अपनी मगनता स्वात्माके मनोहर बागमें क्रीडा करनेमें ही रखता है। इस बागकी सैर करता हुआ व साम्यजलको पीता हुआ जो सतोष पा रहा है उसका वर्णन वचन अगोचर है, वह मात्र अनुभवगम्य है।

(७)

एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मा क्षायिकसम्यक्त्वकी बहार लेता हुआ, अविरतसम्यक्त्व नाम चौथे गुणस्थानमें निवास कर रहा है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र उदयसे श्रावकके व्रतोंका आचरण नहीं कर सक्ता है। यह एक गरीब मानव है, किसी कारखानेमें मजूरी करके पेट भरता है, इसके मनमें ऐसा न्यायका साम्राज्य है कि यह अपने नियत कामको बड़े प्रेमसे पूरा करता है। कभी मनमें आलस्य लाकर व अपने कर्तव्यको पूरा न करके एक पैसा भी लेना नहीं चाहता है। जो समय कारखानेमें आनेका नियत

है ठीक उसी समय हाजिर होजाता है। जो पैसा कमाता है अधिक कुटुम्ब होनेके कारण कमसे कम १० वां भाग धर्म व दानके लिये बचाकर शेषमें ही अपनी गृहस्थीका कुल खर्च करता है। यह कर्ज लेना महा आकुलताका कारण व जीवनको संकटमय बनानेवाला जानता है। भोजनपान सादा शुद्ध करता है। इसने घरमें गाय बाघ ली है उसकी नित्य सेवा करता है और उसके बच्चेको आवश्यक व उचित दूध पिलाकर शेष दूधसे ही अपना घरका खर्च चलाता है। यह दूधको दोहकर तुर्त गर्म कर लेता है जिससे बिगडने न पावे। ऐसे ही शुद्ध दूधका दही तय्यार करता है। थोड़ा २ भी घी दूध शुद्ध लेना अधिक अशुद्ध लेनेसे बहुत अच्छा समझता है। कभी बासी भोजन न खाता है न खिलाता है, कभी चनेकी कभी ज्वारकी कभी बाजरेकी रोटी खालेता है। कपड़े हाथके बुने स्वदेशी पहनता है जिससे चर्बी आदिके कारण हिंसा घटे। सर्व ही कुटुंबको ऐसे ही शुद्ध वस्त्र पहननेको देता है। हाथका बना कपडा यंत्रके बने वस्त्रकी अपेक्षा अधिक टिकाऊ होता है। जब कभी किसी विवाहादिका अवसर आता है यह बहुत कम खर्चसे सब काम निबाहता है। जिससे अपने पुत्र या पुत्रीका संबन्ध करता है उससे करार कर लेता है कि सबन्ध नरनारियोंका होना है पेसेके लेनदेनका कुछ प्रयोजन नहीं है। दोनों तरफसे बडी किफायतके साथ विना किसी शिकायतके काम होता है। दोनों संतुष्ट और प्रसन्न रहते हैं। इसतरह यह अतिकुटुम्बी होकर भी बड़ी ईमानदारीसे पैसा कमाता और सतोष व निराकुलताके साथ गृह व्यवहार चलाता है इसीसे परिणामोंमें आत्म-प्रेमकी

वासनाको सदा जाग्रत करता है। वास्तवमें यह तो आत्माके बागमें क्रीडा करनेका उतना प्रेमी है कि यह इस बातका सदा ही ध्यान रखता है कि कब समय मिले और कब सुख शांति प्रदायक आत्म-उपवनमें जाऊं। चौवीस घंटेके भीतर कई दफे यह समय निकाल लेता है और बड़े प्रेमसे निराकुल हो आत्माके मनोहर बागमें जाकर उसके भीतर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनुपम गुणरूपी वृक्षोंकी सैर किया करता है। इस समय यह सर्व सांसारिक भ्रम-जालोंको, अपने कुटुम्बादिको भूलकर एक आत्माहीमें उपयुक्त होजाता है। अब तो वह मानों सिद्धालयमें ही बैठा हुआ है और सिद्ध सम अतीन्द्रिय आनन्दका अनुपम स्वाद ले रहा है। वास्तवमें इसका जीवन उन सम्राटोंमें बहुत श्रेष्ठ है जो अति राज्य-सम्पत्तिके स्वामी हैं परन्तु सम्यक्तरूपी रत्नसे दलिद्री है। जो सम्यग्दृष्टी हैं वे मुक्ति–पथपर हैं, जो मिथ्यादृष्टी है वे संसार पथपर हैं।

(८)

यह क्षायिकसम्यग्दृष्टी जीव अप्रत्याख्यानवरण कषायके तीव्र उदयसे श्रावकके अणुव्रतोंको भी नहीं धारण कर रहा है। गृहस्थीमें पुत्र पौत्रोंके मध्यमें पड़ा हुआ उनकी सार सम्हाल व रक्षा शिक्षामें संलग्न है। अब इसको एक पुत्र तथा पुत्रीका विवाह करना है। यह बड़ा विचारशील है, इसने अपनी पुत्रीको धर्म-शास्त्रमें निपुण कर दी है। यह गृह संबंधी सर्व आवश्यक कार्योंमें दक्ष है। इसकी आयु १९ वर्षकी होगई है। अब यह युवती-पनेको प्राप्त है, शरीर भी दृढ़ है, यह नित्य श्री जिनेन्द्रकी पूजन

करती है, आहार बनाकर पात्रोंको दान देती है, इसकी बोली अत्यन्त मिष्ट है, यह सबसे सभ्यता व विनयसे वर्ताव करती है। इसको भजन गाना व बाजा बजाना भी याद है, इसने व्यायामके नियमोंको भी सीखा है व अभ्यास किया है। ब्रह्मचर्य तथा संयमके लाभ भली प्रकार जानती है। इसके विचारवान पिताने अपने घरमें परदेकी पद्धतिको उड़ा दिया है। इसकी गृहिणी छोटे पुत्र व पुत्रियोंको लेकर शामको कभी सवेरे आध घटेके लिये खुले मैदानमें टहलने जाती है। इसने अपनी लड़कीको लकड़ी फिराना भी सिखा दिया है। इसी तरह इसका एक पुत्र १९ वर्षका हो गया है, २० वां शुरू है। इसको भी अनेक प्रकार लौकिक और धार्मिक विद्यामें चतुर कर दिया है। व्यायाम व ब्रह्मचर्यके अभ्याससे व शस्त्रविद्याके ज्ञानसे वह एक वीर नवयुवक बन गया है। यद्यपि यह वैश्यवर्णमें है तथापि आत्मरक्षा व पर रक्षाका साधन इसने अपने पुत्रको भलेप्रकार बता दिया है। यह व्यापारकुशल भी होगया है। स्वतन्त्रतासे अच्छी कमाई कर सक्ता है, धार्मिक नियमोंमें भलेप्रकार सावधान है। इसतरह दृढ़-शरीर दोनोंको देखकर क्षायिकसम्यक्ती पिता इनका अब सम्बन्ध ढूढता है। पुत्रीके लिये एक सेठका पुत्र देखता है जो २० वर्षकी आयुवाला विद्यावान, कार्यदक्ष, व्यापारकुशल व धर्मात्मा है, परंतु धनवान नहीं है तौभी कभी पैसेसे दुःखी रहनेवाला नहीं है। वह ज्ञानी पिता यद्यपि धनवान है तथापि अपनी पुत्रीके सुखमय जीवन होनेके लिये उसे ही ठीक समझता है। पुत्रीसे भी एकांतमें सम्मति करता है, वह भी सहमत होजाती है। पुत्रका पिता भी अपने

पुत्रसे सम्मति करता है वह भी सहमत होजाता है, क्योंकि पति पत्नीको आयुभर निभाना होता है इसलिये जबतक उन दोनोंमें प्रेम न हो तबतक सुखमय गृहस्थ जीवन नहीं मिल सक्ता है। सगाई पक्की होजानेपर १६ वर्षके प्रारम्भमें पुत्रीका विवाह करता है।

यद्यपि धनवान है तथापि बहुत मामुली खर्चेसे इस कार्यको करता है। दूसरा सबन्धी भी समझदार है व गरीब है। वह १ बाजेके साथ कुछ बरातियोंको साथ लेकर आता है, फेरोंके समय जैनधर्मकी रीतिसे मंडपमें वरवधू बैठते है और मगलमय जिनपूजा व हवनके साथ विवाह होजाता है। दूसरे दिन ही सब बराति-योंका भोजनसत्कार करके व कन्याको कुछ आवश्यक धनरूप आभूषण देकर व वरको भी कुछ आवश्यक भेट देकर विदा कर देता है। ये वरवधू श्री जिनमदिरजीका दर्शन करके घर जाते हैं और सात दिन पीछे इनका परस्पर सहवास होता है जिससे गर्भकी प्राप्ति होजाती है।

इस क्षायिकसम्यक्ती पिताने अपने पुत्रके लिये भी किसी योग्य पढ़ी हुई धर्मात्मा कन्याको चुन लिया है जिसकी आयु १६ वर्षकी है। पुत्रकी सम्मति लेकर उसी तरह थोड़े खर्चमें लग्न कर देता है। पुत्रको विवाह कर वधूका सगम होनेसे उसकी वधूको गर्भ रह जाता है। गर्भावस्थामें वह रोशनीदार स्वच्छ मकानमें प्रसूतिका प्रबन्ध करता है व एक चतुर दाईको जो सतान जनन कार्यमें दक्ष है उसकी सेवाको नियत करता है। पुत्रीका लाभ होनेपर भी इसके घरमें वही आनन्द है जो पुत्रके लाभमें किया जाता है। यह समझता है कि जैसे जगतमें पुत्र आवश्यक

है वैसे पुत्री भी आवश्यक है, दोनोंका योग्य होना ही समाजका जीवन बनानेवाला है। इस तरह यह क्षायिकसम्यग्दृष्टी आदर्श गृहस्थ जीवन विताता हुआ इन सब कार्योंको मात्र 'कषायका नाटक है' ऐसा समझता है, उनमें लिप्त नहीं होता है। अपने धार्मिक नियमोंमें सदा सावधान रहता है और निरंतर भावना करता है कि कब वह दिन आवे जब मैं उदास होकर वनमें मात्र आत्मध्यानका पूर्ण अभ्यास करूँ। तथापि यह भव्य जीव अपनी दिनचर्यामें कितना ही समय निकाल लेता है। जब यह श्री जिनेन्द्रका पूजन, भजन, स्वाध्याय करता है और एकांतमें बैठकर अपनी प्रियतमा स्वात्मानुभूतिकी तरफ ऐसा तन्मय होजाता है कि उसके रंगमें रंगा हुआ सर्व विश्वको भुलाकर एक मात्र अद्वैत परब्रह्म भावमें लय होता है। यही क्षायिकसम्यक्तकी महिमा है।

(९)

एक क्षायिक सम्यक्तधारी अविरती गुणस्थानवर्ती आत्मा इस समय सर्व गृहप्रपंचोंसे उपयोगको हटाकर अपने आपके स्वादमें उपयुक्त हो आत्माकी सच्ची प्रभावना कर रहा है। जहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन रत्नोंका प्रकाश हो वहीं आत्म प्रभावना होती है। इसको पूर्ण निश्चय है कि स्वाधीनता सार है, पराधीनता असार है, आत्मसुख उपादेय है, विषयसुख हेय है; आत्मा स्वभावसे शुद्ध है, पुद्गलके द्वारा होनेवाले रागादि विकारोंसे शून्य है; अमूर्तीक है, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमई है तथा असंख्यात प्रदेशी होकर भी मेरे शरीररूपी मंदिरमें शरीर प्रमाण आकारको धरे व्याप्त है। यह वास्तवमें अरहंत है, सिद्ध है,

आचार्य है, उपाध्याय है और साधु है। यही स्वय उत्तम क्षमारूप है, मार्दव स्वरूप है, आर्जव गुण कूप है, शौचनिधि भूप है, सत्य धर्म स्तूप है, संयमका स्वामी है, बड़ा तपस्वी निष्कामी है, त्याग-धर्म जगनामी है, आकिंचन्य धर्मललामी है तथा ब्रह्मचर्य मई शिवधामी है। यही आत्मा अनन्त गुणभंडार है, अनादि अनन्त सत्ताका धर्ता है, पर पदार्थोंके मध्यमें होकर भी निज सम्पत्तिका पूर्णपने रक्षा कर्ता है। यह आत्मा इंद्रियोंका विषय नहीं है, मनके संकल्पोंके भी आधीन नहीं है। यह तो मात्र स्वानुभवगोचर है ऐसा ही दृढ श्रद्धान है व ऐसा ही दृढ़ ज्ञानके एकाकार रूप भावमें यह लवलीन है इससे सम्यक्चारित्रवान भी है। इस तरह यह ज्ञानी गृहस्थ एकान्तमें बैठे हुए अपनी ही वस्तुको पुनः २ देखकर हर्षायमान होरहा है। तथा जो आनन्द भोग रहा है वह वचनातीत है। यद्यपि यह अव्रती है तथापि इस समय तो व्रती ही होरहा है। जहा आत्माका आत्मामें लय होना हो वहा किस बातका अभाव कहें? वहां मानो पांचों ही व्रत विद्यमान हैं। निज आत्माके मनोहर उपवनमें कल्लोल करके जहां यह उपयोगकी थिरताकी कमीसे बाहर आताहै तब पुनः २ आत्मभोगके आन्दोलनको स्मरण करके अपने मनमें यह करुणाभाव लारहाहै कि मैं इस आनन्दका स्वाद अन्य प्रेमी जीवोंको भी पिलानेका उद्यम करूं, बस परमपवित्र जैनधर्मकी प्रभावना करनेका उत्साह बांध लेताहै। अपने कुछ धर्मात्मा मित्रोंको साथ लेकर एक पन्द्रह दिनका दौरा करने लगता है। अजैन और जैन दोनोंमें आत्मानन्दके लाभकी रीतियें जैन धर्मानुकूल बताता है। उनको सुनकर अनेक जैन व

अजैन मोहित होजाते हैं । और आत्मानन्दकी प्राप्तिके अभ्यासमें अनुरक्त होनेका संकल्प कर लेते हैं । जो अजैन बन्धु हैं वे इस सम्यक्तीके उपदेशसे जैनधर्म धारण करलेते हैं । जीवाजीवास्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष इन सात तत्वोंको समझ लेतेहैं । यह क्षायिक सम्यक्ती परम प्रवीण जगत्को प्यार करनेवाला व्यक्ति है। यह बड़े प्रेमसे अजैन बन्धुओंको स्वीकार करता है । उनके चारित्र व व्यवसायके अनुसार उनका वर्ण स्थिर करदेता है । कई जैन ब्राह्मण, कई जैन क्षत्रिय, कई जैन वैश्य व कई जैन शूद्र होजाते है । वर्ण स्थापित करके वह और उसके मित्र ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य नवीन जैनोंके साथ एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करते हैं। और उन नवीण जैनोंसे उतना ही प्रेम दिखलाते है जितना पुरातन जैनोसे था । वे नवीन जैन इस संगतिमें अपना उचित सन्मान व प्रेम देखकर प्रसन्नचित्त होजाते हैं और अपना भाग्य वारवार सराहते हैं जो उनको ऐसी सगतिका लाभ हुआ है । वे नवीन जैनी अपने पुत्र व पुत्रियोंका सम्बन्ध भी पुरातन जैनियोंमे करते हैं । इस तरह पन्द्रह दिनोंके परिश्रमसे इसने एकसौ अजैन बन्धु-ओंको जैनधर्मकी दीक्षा देकर अबोध मार्गसे सुबोध मार्गमें रख दिया है, उनके आत्माके साथ परम उपकार किया है । वे भी व्यवहार सम्यक्तके अभ्यासके बलसे निश्चय सम्यक्तको एक दिन पालेते है और स्वानुभवके रसमें मग्न हो परमानन्दका लाभ करते हैं।

(१०)

यह क्षायिकसम्यग्दृष्टि आज श्री सम्मेदशिखरजीकी यात्रा कर रहा है । यद्यपि यह अपने आत्मदेवको अपने शरीररूपी मंदिरमें

देखनेवाला है तथापि इसको यह भी निश्चय है कि जबतक चारित्रमोहनीयका तीव्र उदय है तबतक उन निमित्तकारणोंकी आवश्यक्ता है जिनके द्वारा आत्माका भाव अधिक स्वरूप मननमें अग्रसर होसके। अतएव वे सिद्धक्षेत्र जहांसे तीर्थंकर आदि महापुरुषोंने मोक्ष प्राप्त की है व जहां उनके चरणचिह्न अंकित है उन महापुरुषोंकी शुद्ध आत्माके गुणोंके स्मरण करनेमें प्रबल निमित्त कारण है। इसीसे यह आज इस पवित्र स्थलपर आया है। इसने पवित्र अष्टद्रव्य शुद्धताके साथ धोकर लिये है। शुद्ध पानीसे कलश भरा है। शुद्ध खादीका छन्ना साथमें है, स्नानकर शुद्ध वस्त्र पहने हैं, नंगे पैर है, बहुत विनयसे चलता हुआ श्री कुंथुनाथ स्वामीकी टोंकपर आता है। इस पवित्र स्थलको देखकर गद्गद होजाता है। यकायक श्री कुंथुनाथस्वामीकी पवित्र स्मृति बडी दृढ़तासे हृदयपटलपर अंकित होजाती है। यह भीतर जाता है। मंगल पढ़कर व प्रछालकर मंत्र पढकर चरणचिह्नरूप स्थलकी जलसे प्रछाल करता है, छन्नेसे जल सोखता है। फिर बहुत विनयसे खड़े होकर श्री० कुंथुनाथ स्वामीकी पूजन करता है।

इसने श्री जिनेन्द्रकी पूजनेके निमित्तसे मानो अपने आत्मदेवकी ही पूजन करना प्रारम्भ किया है। मुखसे यद्यपि श्री० जिनेन्द्रके गुण उच्चारण करता है परन्तु भावोंमें अपने ही गुणस्मरण कर रहा हूं ऐसा समझता है। इसकी यह द्रव्यपूजा वास्तवमें भाव पूजाका निमित्त है। जल चढाते हुए यह भाव करता है कि जैसे जल मलको धोता है वैसे श्री० जिनेन्द्रके गुण स्मरण रूपी जल मेरे आत्माके कर्मरूपी मलको धोरहा है। चंदन चढ़ाते हुए यह

भाव करता है कि जैसे चदनके लगानेसे धूपका आताप शांत हो-जाता है वैसे श्री जिनेन्द्रका शांतभावरूप चंदन सांसारिक विषय-वासनाकी दाहको शांत कर देता है। अक्षत चढ़ाते हुए यह भाव करता है कि यद्यपि यह अक्षत तृप्तिकारी नहीं है तथापि श्री जिनेन्द्रके अक्षत ज्ञानादि गुणोका स्मरण तथा उनका ध्यान आत्माके अक्षत गुणोंका प्रकाशनेवाला है। पुष्प चढ़ाते हुए यह भाव करता है कि सांसारिक पुष्पोंके द्वारा कामका दाह शमन होनेकी अपेक्षा बढ़ जाता है परन्तु श्रीजिनेन्द्रके चरणकमलोंकी भक्तिमें यह शक्ति है कि शील भावरूपी पुष्प प्रफुल्लित होजाता है। नैवेद्य चढ़ाते हुए यह भाव करता है कि यद्यपि इन नैवेद्योंसे क्षुधाका रोग शांत नहीं होता है परन्तु श्रीजिनेन्द्रके गुणोंका मननरूपी भोजन अनुभवानन्दमई अमृतका प्रभाव ऐसा बहाता है कि जिस सुधाके पानसे परम सन्तोष होजाता है। दीपकसे पूजन करते हुए यह भाव करता है कि यद्यपि यह दीपकका प्रकाश मात्र बाहरी अन्धकारको हटानेवाला है, अतरंग तमका नाश नहीं कर सक्ता है तथापि श्री जिनेन्द्रके अनन्तज्ञानादि गुणोंको सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक जागृत होता हुआ अज्ञान व मोहके घोर अन्धकारको मिटा देता है और स्वसवेदन ज्ञानरूपी प्रचंड दीपकको प्रकाशवान कर देता है। धूपको अग्निमें खेते हुए व दीपककी लौमें जलाते हुए यह भाव करता है कि यद्यपि यह अग्नि मात्र चन्दन अगर आदि द्रव्योंको ही दग्ध करती है तथापि श्री जिनेन्द्रके पवित्र आत्माकी ध्यानरूपी अग्नि मेरे आत्माके पापरूपी ईंधनको जला देती है। फल चढ़ाते हुए यह भाव करता है कि यद्यपि ये फल क्षणभंगुर हैं

तथापि परमपूज्य परमात्माका आराधनरूपी वृक्ष परम अविनाशी मोक्षफलको उत्पन्न करता है। फिर अष्टद्रव्योंको मिलाकर अर्घ चढ़ाते हुए यह भाव करता है कि यद्यपि यह अर्घ प्रभूको भेट किया जाता है तथापि प्रभूके गुणोंमें अपने प्रेमभावकी भेट ही सर्व आत्मिक सुखोंकी द्योतक है। फिर आत्मीक उज्वल गुणोंकी माला भावके सूत्रमें गूँथकर प्रभुके चरणोंमें चढ़ाता है। इस तरह परममंगलमय पूजन करके मानो ससारकी वासनासे सरककर धीरे-धीरे आत्माके उपवनमें पहुच जाता है, तब वहा कल्लोल करता हुआ उसी जातिका आनन्द पाता है जो आनद श्री सिद्ध भगवान-को है। इस तरह अपना सर्वस्व श्री कुथुनाथजीकी भक्तिमें अर्प-णकर तीन प्रदक्षिणा देकर फिर ध्यानकर दडवत् करता है। पश्चात् ५ मिनिट निश्चल बैठकर तथा पूजक, पूज्य, ध्याताध्येयका भाव मिटाकर आपमें आपी तन्मय होजाता है और क्षायिकसम्यक्तका भावनिक्षेपरूप भाव पाकर जो आनन्द भोगता है उसका कथन हो नहीं सक्ता।

(११)

एक क्षायिक सम्यग्दृष्टी अविरती गृहस्थ अपने कुछ धर्मात्मा मित्रोंके साथ एक उपवनकी सैर कर रहा है। यह एक बहुत लंबा चौड़ा बाग है जहा कुछ पशुपक्षी भी पले हुए है। जहा एक प्रद-र्शनघर भी है जिसमें देश विदेशकी अनेक दर्शनीय वस्तुएं रक्खी हुई हैं। ज्योंही यह बागमें घुमता है यह मित्रोंसे वार्तालाप शुरू कर देता है। यह उपवन क्या है मानों कर्मसिद्धांतके पाठ करनेका स्थान है—नाम कर्मकी विचित्रतासे ही नाना प्रकारके वृक्ष, मनोहर

पत्तों व फलफूलोंसे शोभायमान दिख रहे हैं। ये वृक्ष यद्यपि एकेंद्रिय स्थावर पर्यायमें है जहा मात्र स्पर्शनेन्द्रियजनित ज्ञान ही है तथा लोकनिंदित नीच गोत्रका उदय है। तथापि सुभग नामकर्मकी प्रकृतिका भी उदय है जिससे यह मनमोहित कर रहे हे। वास्तवमें इनमेंसे जो अधिक मनमोह रहे है उन वृक्षोंके जीव अवश्य देवगतिसे आए होंगे जहा उन्होंने आर्त्तध्यान करके व शरीर छोडते समय घोर वियोगके दुःखसे पीड़ित हो करके तिर्यंच आयु बाध ली थी। क्योंकि दूसरे स्वर्ग तकके देव एकेंद्रिय हो सकते है। जैसा श्री अमृतचन्द्र आचार्य श्री तत्वार्थसारमें कहते हैं—

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः ॥ १६९ । २ ॥

सुभग नामकर्म उनकी सत्ता व उदय दोनोंमें था। स्थिति अधिक थी इससे यहां भी उसका उदय विद्यमान है। इन वृक्षोंके भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाए पाई जाती है—इन भावोंसे वशीभूत हो ये अपने आत्मवीर्यसे अपनी जड़ें उसी तरफ रखते हैं जहासे पानीको व मिट्टीको खींच सकें। देखो यह नारियलका वृक्ष कितना ऊँचा है और इसके शिखरपर कई नारियल लटक रहे हैं जिनमें बहुत बढ़िया स्वादिष्ट गूदा है व मीठा रसदार जल है। इतने ऊँचे पर इसने इन फलोंको कैसे बनाया—वास्तवमें नीचेसे मिट्टी व पानी खींचकर ही उन्हें इस अवस्थामें परिणमाया है—जैसे हम तुम खाते पीते है वैसे वे भी खाते पीते हैं। इनके लेपाहार है जिससे ये स्पर्शद्वारा ही अपना काम करलेते हैं। इन वृक्षोंको भय भी है। हाथके स्पर्शसे छुईमुईका वृक्ष सकुच जाता है इनके मैथुनका भाव भी है। नपुंसक वेदका उदय है जिससे एक

जीवके एक समयमें स्त्री पुरुषके सम्मिलित भाव होते हैं-यही कारण है जो इसमें कोई अग पुरुषरूप व कोई अंग स्त्रीरूप कहलाता है और जब वे दोनों स्पर्शित होते हैं तब फूल लगता है। जैसे स्त्री पुरुषवती रजस्वला होती है वैसे ही वृक्ष पुष्पवान होते हैं और तब ही फलोंको उसी तरह उत्पन्न करते हैं जिस तरह माताएं सन्तानोंको जन्म देती है। इनके परिग्रह भाव या ममत्व भाव भी हैं-ये भी मरना नहीं चाहते हैं-ये अपनेपनके मोहमें मगन हैं। यदि कोई इनको कष्ट देता है तो क्रोधमें भी भर जाते हैं। इनके चारोंही कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। इनके कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्याए पाई जाती हैं-कषायोंकी तीव्रता व मदताके कारण भावोके रग बदल जाते हैं- इनके भी भाव एक नहीं रहते हैं, कभी कोई ध्यानी मुनि किसी वृक्षके नीचे आत्मानुभव करके शांतभाव विस्तारते है उनके शरीरसे स्पर्शित पवन उस वृक्षके भीतर जाकर उसकी आत्मामें कषाय मद कर देता है तब वह वृक्षका जीव कापोतलेश्यामें प्रवर्तता हुआ मनुष्य आयु बांधकर मनुष्य होजाता है वृक्षोंके आश्रय निगोदिया जीव एकेन्द्रिय भी होते हैं। यही निगोद जीव मानव होकर उसी भवसे मुनि हो मुक्ति प्राप्त करलेता है, किसी जैन विद्वानकी इस उक्तिको सच्ची करदेता है। "नित्यनिगोद-माहिंते कढ़कर नर पर्याय पाय शिवरानी, सम्यक् लहे अंत मुहूर्तमें केवल पाय वरे शिनरानी"। कभी कहीं परम ऋद्धिधारी महात्मा किसी वनमें पहुंच जाते व केवली महाराज आजाते तब तो सब वन ही प्रफुल्लित होजाता। जैसे षटरितुके फल फूल फलते वैसे उनके भाव भी मदकषाय रूप शांत होजाते जिससे वे उन्नतिकारक

गति सम्बन्धी कर्म बांध लेते, इस तरह वृक्षोंको देखते हुए व कर्म-सिद्धांतकी चर्या करते हुए वह आत्मज्ञानी महात्मा एक वृक्षके नीचे बैठ जाता है। उसके साथी मित्र भी भिन्न २ वृक्षके नीचे तिष्ठते हैं। यह ज्ञानी महात्मा इस समय सर्व भावोंसे भिन्न एक निज आत्माके शुद्धभावकी परमगुप्तिमय गुफामें विश्राम करता है और भेद-विज्ञानके द्वारा स्वानुभूतिकी परम एकाग्ररूप नींदमें ऐसा वेहोश होजाता है कि इसको किसी वस्तुकी खबर नहीं रहती है। उस समय इसको यह विश्व द्वैत रूप परमशात ही झलकता है। वह सुख समुद्र ही में मानों डूब जाता है और अपने सम्यक्तके फलका स्वाद लेता है।

(१२)

एक क्षायिकसम्यक्ती अविरत गुणस्थानमें तिष्ठा हुआ एक उपवनकी सैर अपने धर्मात्मा मित्रोंके साथ कर रहा है। एक स्थानपर देखता है कि एक भ्रमर कमलके भीतर अति रागसे बैठा हुआ उस कमलकी सुगन्धमें मग्न है, तब ज्ञानी भ्रमरको देखकर कहता है कि देखो, मित्रो—यह चार इंद्रिय जीव है। यद्यपि इसके मन नहीं है तथापि इसकी आत्मा कषायोंसे आविष्ट है, यह चारों इंद्रियोंके विषयोकी तृष्णामें उन्मत्त हैं। इस समय इसके नासिका इंद्रियके विषयकी प्रबलता है, इसके अनंतानुबंधी लोभका तीव्र उदय है, कृष्णलेश्या सम्बन्धी गाढ़ परिणाम है। कुछ देरमें सूर्य अस्त होगा, कमल मुदित होगा, परन्तु यह रागकी प्रबलतासे उसी कमलके भीतर बन्द होजायगा। फल यह होगा कि रात्रिको इसका मरण भी होजायगा। वास्तवमें संसारी जीव शरीरके मोहमें ऐसे

तन्मय होजाते हैं कि उनको अपने आत्माकी सुध बिलकुल नहीं रहती है। असैनी जीव कभी भी स्वपर भेदविज्ञानको नही पासक्ते है क्योंकि तर्क करनेकी शक्ति मन द्वारा ही होती है। असैनी जीव गाढ़ मोहकी मदिरा पिए हुए जिस शरीरको पाते है उसीके द्वारा प्राप्त इद्रियोंकी चाहकी दाहमें जन्मभर जला करते हैं और गतिसे गत्यन्तरमें भ्रमण किया करते हैं।

आगे चलकर देखता है तो एक छोटे बच्चेको एक पक्षी दाना ला लाकर उसके मुखमें देता है। तत्वज्ञानी कहता है—देखो भाइयो! इस पक्षीको अपने बच्चेसे कितना स्नेह है कि यह इस असमर्थकी बहुत परिश्रम उठाकर मदद कर रहा है। यह पक्षी मन सहित पचेंद्रिय जीव है, इसके विचारशक्ति है—इसके नोइद्रियावरण, मतिज्ञानावरण कर्मका और वीर्यातराय कर्मका क्षयोपशम है। जितना क्षयोपशम होता है उतना आत्माका निज स्वरूपमय ज्ञान और आत्मबल प्रगट होता है। इसीको पुरुषार्थ या आत्माकी निज सम्पत्ति कहते हैं। जितना ज्ञान व आत्मबल अप्रगट है, उसमें कर्मोंके उदयका कार्य है। यह दैव द्वारा आक्रमण कहलाता है। हरएक आत्माको उचित है कि अपने ज्ञान और आत्मबलसे विचार करके कार्य करे। यह पक्षी बहुत विचारवान है। सन्ध्यासे पहले ही अपने बच्चेको खिला देगा, सूर्यास्तके पीछे यह विश्राम करेगा। इसने अपने रहनेका घौसला ऐसा बना रक्खा है जिसमें अपनी रक्षा हो व कोई शत्रु पशु कष्ट न देसके।

एक मित्रके पास कुछ चनेके दाने थे वह हाथमें रखकर पक्षीके सामने लेजाता है। पक्षी उनको चुनने लगता है तब तत्व-

ज्ञानी पक्षीके मनमें शांत भावका असर डालनेके लिये णमोकार मंत्र सुनाता है। मिष्ट गम्भीर ध्वनिसे पढ़ा हुआ यह अनादि, मंत्र सुननेवालेके मनको आकर्षित कर लेता है और उसके भावोंमें परिवर्तन कर देता है। उसकी कषाय मंद होजाती है, यही कारण है जिससे अनेक मरणासन्न सैनी जीवोंने भाव सुधार लिये और देवगतिमें जाकर आसन पालिया। एक वृषभको णमोकार मंत्र दिया गया जिससे मरकर वह राजपुत्र हुआ। धर्मात्मा जीवोंको उचित है कि वे इस मंत्रका नित्य मनन करें तथा इसके द्वारा अन्य जीवोंका उपकार करें। आगे चलकर देखता है तो एक सरोवर निर्मल जलसे भरा नजर आता है। जिसमें मछलियां कल्लोल कर रही हैं, दयावान मित्र आटेकी बनी हुई गोलियां लाए थे वे जैसे ही तालाबमें छोडते हैं भूखसे बाधित मछलिया आती हैं और खाने लग जाती हैं। तत्वज्ञानी कहता है देखो नामकर्मकी प्रकृतिने इनका शरीर इस तरहका रचा है कि इनका सर्वस्व आधार यह पानी है। यदि यह पानीसे बाहर होजावें तो शरीर जीवित न रहे। कर्मकी बड़ी विचित्रता है तथापि मोह और कषायका जोर तो प्राणीमें भी अन्य प्राणियोंके समान है। तीव्रता या मंदता यथासभव होसक्ती है। मित्रो! इस जगतमें एकेंद्रियसे पचेंद्रिय तकके जीवोंके शरीरोंकी विचित्रता नाम और गोत्रकर्मका कार्य है उनके साथ साताकारी असाताकारी चेतन अचेतन पदार्थोंका वेदनीय कर्मका कार्य है, वर्तमान शरीरमें कैदमें रखना आयुकर्मका कार्य है। बाहरी सामग्रीका मेल मिलानेमें ये चार अघातिया कर्म अपना काम करते हैं। मोहनीय कर्म मोह और कषायके भावका रंग लाता है। परन्तु ज्ञानावरणीय

दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म जितने क्षयोपशमरूप हैं उतना ज्ञान दर्शन तथा आत्मवीर्य प्रगट है। इसीको ही पुरुषार्थ कहते हैं। विचारवान ज्ञानी जीव इस पुरुषार्थके द्वारा कषायोके वेगको घटा देता है व बाहरी सयोगोंमें आकुलित नहीं होता है। जो इस पुरुषार्थसे काम लेते हैं वेही सच्चे पुरुष हे। जब कभी मोहका तीव्र उदय होता है तब पुरुषार्थ काम तदनुकूल करता है परन्तु मद उदयमें पुरुषार्थ विजय पा लेता है। सध्या होती है तत्वज्ञानी व उसके मित्र एक एक शिलापर बैठ जाते है। तत्वज्ञानी एकदमसे इस बाहरी उपवनसे आत्माके परम शात आनन्दमय उपवनमें पहुच जाता है और वहांपर शोभायमान ज्ञान, चारित्र, सम्यक्त, सुख आदि वृक्षोंकी सैर करता हुआ ज्योंही आत्मानुभव सरोवरके भीतर पैठता है त्योंही सर्व आताप शमन कर परमशात होजाता है और उस सरोवरमें भरे हुए अमृतको पीकर जो आनंद पाता है उसका कथन हो नहीं सक्ता।

(१३)

आज एक क्षायिकसम्यग्दृष्टि भव्य जीव कई मित्रोंको साथमें लिये हुए शास्त्रसभामें चर्चा कर रहा है। समयसारके समान आध्यात्मिक ग्रन्थके आधारसे तत्वचर्चा होरही है। जो कथन इस समय निकल रहा है वह बड़ा ही मनोरजक है। आत्माकी स्वरूपसत्ताका विचार है। उसके स्वरूपमें अनात्माका जरा भी सम्बन्ध नहीं है और न वहां कोई कर्मजनित रागद्वेषादि विकारी भाव हैं। न वहा मतिश्रुत आदि ज्ञानके भेद हैं, न वहां उपशम, क्षयोपशम व क्षायिकसम्यक्तके विकल्प है, न वहां सामायिक छेदोपस्थापना

आदि चारित्रके प्रकार हैं, न वहां मिथ्यात्व गुणस्थानको आदि लेकर प्रमत्त व अप्रमत्तको आदि लेकर अयोग केवली पर्यंत गुणस्थानकी श्रणिया हैं, न वहां मनुष्य, तिर्यंच, नरक व देवगतिका कोई विकार है, न इस आत्मामें एकेंद्रियादि भेद हैं, न यहा मन वचन कायके कोई झगडे है। न आत्मामें स्त्री, पुरुष, नपुंसकपना है, न उसमें कोई कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ललेश्याके अंश हैं। न यह आत्मा भव्य है न अभव्य है, न यह सैनी है न असैनी है, न आहारक है न अनाहारक है, न यह श्रावक है न मुनि है, न केवली है न सिद्ध है, यह आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे शून्य है। न यह एक है, न अनेक है, न यह नित्य है न अनित्य है, न यह शुद्ध है न अशुद्ध है, न यह भेदरूप है न अभेदरूप है। ये सब अपेक्षाकृत विकल्प हैं। यह आत्मा क्या है क्या नहीं है सो कुछ वचनोसे नहीं कहा जासक्ता। यह तो मात्र स्वानुभवगोचर है। यह एक अमूर्तीक ज्ञान, दर्शन सुख वीर्यादि शुद्ध गुणोंका अमिट समुदाय रूप एक अखण्ड पिण्डमय चेतन द्रव्य है। इसकी स्वरूपसत्तामें ऐसी शक्ति है कि वर्तमान लोकके समान यदि अनन्तलोक भी हो तोभी इसकी ज्ञानभूमिकामें अपना सर्व विचित्र दृश्य एक समयमें दिखा सक्ते हैं। इसमें ऐसा अपूर्व बल है कि अनेक वज्रसम कठोर पदार्थ इसके ऊपर पड़े तौभी इसका कुछ भी खण्डन नहीं कर सक्ते हैं। ऐसा अनुपम तेज है कि अनेक तेजस्वी पदार्थ इसके तेजके सामने लज्जित होजाते हैं। यही परम प्रभु परमात्मा है, यही ईश्वर है, यही मंगलमय पुज्य और अविनाशी है। जो इस आत्माकी ओर सन्मुख होजाते हैं और सब आत्माओंसे

अपना उपयोग हटा लेते हैं वे एक ऐसे शात प्रदेशमें पहुंच जाते हैं जहा कषायोंके आताप सताते नहीं, विषयोंकी इच्छाएं आकुलित करती नही, कोई भी चिन्ताए व कोई भी तर्क कोई भी विगाड़ नहीं कर सक्ते है। जहां ऐमा आनन्दका भोग होता है कि उस भव्यको परम तृप्ति प्रदान करता है। इस समय सर्व ही मित्र इस अध्यात्म तत्वको सुनकर गद् २ होजाते हैं और क्षात्रीयसम्यक्तीके भावकी आभामें चमकते हुए शातरसमें मग्न हो अपने जीवनको सफल करते है।

(१४)

आज क्षायिकसम्यक्तका धारी एक व्यक्ति श्री मुनिसंघके दर्शन करके अपनेको परम भाग्यवान मान रहा है और मनमें यह भावना भारहा है कि कब वह सुवर्णमय अवसर आवे जब मैं भी गृहके जजालसे छूटकर व परिग्रहके भारको त्यागकर, व शीत, उष्ण, नाग्न्य, शय्या आदि २२ परीषहोंको शांतिपूर्वक सहनकर व प्रसन्न मनसे निर्जन थलमें तिष्ठकर स्वात्मारामकी क्रीड़ा कर सकूं और कर्ममलको दूरकर आत्माको परम पवित्र बना सकूं। श्री मुनिराज परम दयालु हैं। मन, वचन, कायके वर्तनसे किसी भी प्राणीको रञ्च मात्र कष्ट नहीं देते है। इच्छा निरोध करने व चाहकी पराधीनता मेटनेके ही हेतुसे साधु महाराजने गृहस्थ सम्बन्धी सर्व जंजाल दूरकर दिये हैं। वस्त्रका भी संसर्ग त्याग दिया है। जैसे प्रकृतरूपमें जन्मे थे वैसा ही रूप रख लिया है। अपने केशोंको भी स्वय उपाड़नेका साहस ठान लिया है। एक मात्र भोजनके लिये किसी दातारकी आधीनता है। उसमें भी यह भाव है कि

उनके निमित्तसे किसी दातारको कोई आरम्भ करनेका कष्ट न हो। जो शुद्ध भोजन गृहस्थने स्वकुटुंबार्थ बनाया हो उसको भक्तिपूर्वक प्रतिग्रह किये जानेपर मौन सहित व संतोष सहित ले लेना। रस नीरसका विचार नहीं करना। जैसे भ्रमर फूलोंसे रस लेता हुआ फूलोंको कष्ट नहीं देता है वैसे साधुगण दिनरातके भीतर एक दफे दिनमें भोजनपान लेते हुए गृहस्थोको कोई कष्ट नहीं होने देते हैं। ऐसे मुनिराज रातदिन मुक्तिसुन्दरीके सयोगकी माला जपा करते हैं, उसके ही ध्यानमें मग्न रहते हैं और सब पदार्थोंसे प्रेम हटाकर उसकी सर्वसुन्दर महिलाके प्रेमी होरहे हैं। उसके शिव महलतक जबतक न पहुंचे तबतक महलोंमें निवास करना भी त्याग दिया है। वनोंमें व निर्जन स्थानोंमें ही बसना ठान लिया है। उस मुक्तिसुन्दरीका चित्त आकर्षण करनेके लिये धर्मध्यान रूपी मन्त्रका आराधन कर रहे हैं—चलते हैं, कभी बोलते है, कभी कुछ लेटते हैं. कभी भोजन करते हैं, व्यवहारकी कुछ क्रियाओंको करते हैं तथापि उनमें मनरहित हैं। मन तो मात्र एक परमप्रिय शिव-कन्याके ग्रहणमें ही तल्लीन है। धन्य हैं ऐसे साधु जो इस सर्वोच्च साध्यको साधन करते हुए सर्व कुछ सह लेते है, क्रोध, मान, जरा भी नहीं करते हैं। दूसरोंसे तिरस्कृत व निंदा किये जानेपर भी वे अपने कोमल व शांत भावमें कुछ विकार नहीं लाते हैं, शरी-रको अनेक कष्ट पड़नेपर भी वे माया व लोभके वशीभुत हो उसके आराम प्रबंधमें उलझते नहीं—ऐसे निर्मोही साधु ही वास्तवमें मुक्ति-मार्गके सच्चे पथिक हैं। यह सम्यक्ती ऐसे साधुओंके शरीरकी शांत मुद्राको देखते देखते उनके अंतरंग भावोंके दर्शन करनेकी

चेष्टा करता है, जहांसे शांत भाव उठा है व जिसने इस बाहरी शरीरपर भी शांतिका झलकाव किया है। ज्यों ही वह आत्माकी तरफ जाता है अनात्माका दृश्य मनसे निकल जाता है। पहले तो बड़े ही विनयभावसे अपने आत्माको छोटा व साधुकी आत्माको बड़ा मानकर भाव नमस्कारके साथ द्रव्य नमस्कार करता है फिर जैसे ही अपने आत्माके निश्चय स्वरूप पर दृष्टि डालता है तो अपनेमें व साधु महाराजकी आत्मामें कोई गुण व स्वभावका भेद नहीं पाता है। तब तो वंद्यवंदक, पूज्य पूजक भावके स्थानमें परम वीर भावमें पहुच जाता है और मै ही परब्रह्म परमात्मा सिद्ध बुद्ध, परमानंदी, परम वीतरागी, परमप्रभु, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निरन्जन, निर्विकार, अविनाशी, अमूर्तीक, तथा एक सत द्रव्य हू ऐसी भावना करता हुआ भावना रहित एकाग्रतामें जम जाता है तब जो आनंदका स्वाद आता है वह वचन अगोचर है। उसी समय ही सच्ची साधुभक्ति है। ऐसी साधुभक्तिमें और आत्मभक्तिमें कोई भेद नहीं।

(१९)

आज यह क्षायिकसम्यग्दृष्टी जीव बडे विनीतभावसे एक निर्ग्रंथ साधुको प्रतिग्रहण करता है। आहार जल शुद्ध ऐसा तीनवार उच्चारण करके मुनिको विश्वास दिलाता है कि आहारदान गृहस्थोंके यहा शास्त्रोक्त मर्यादासे जीवदया पूर्वक स्वकुटुम्बार्थ रचा गया है। साधु उदररूपी गर्तको पूरनेके लिये उसके घरकी तरफ मुह करके भीतर आते हैं। वह प्रवीण ज्ञानी दातार उच्च आसन पर तिष्ठाकर एक वर्तनमें पग प्रक्षालन करता है। फिर तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करता है और पग प्रक्षालका जल पवित्र जानकर अपने

मस्तक दोनो आंख, व कंठमें लगाता है। फिर हाथ धोकर अष्ट-द्रव्योंसे श्री मुनीन्द्रकी पूजन करता है। फिर मन, वचन, कायकी शुद्धिको रखता हुआ मुनि महाराजको चौकेमें लेजाता है। श्री मुनीन्द्र परम समताभावधारी है। रस नीरसके विचार रहित है। परम सरल भावसे खड़े हुए हैं। दातार भोजन उनके हाथोंपर रखता है वे उसे भले प्रकार देखकर ग्रहण करते है। ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धिके हेतु वे मुनीन्द्र अल्पाहार करते है। १० ग्रास लेकर ही सतोष करते हैं। जल पी हाथ प्रक्षालन कर कायोत्सर्ग करके गृहस्थके यहां विराजते है और कुछ धर्मोपदेश देते हैं। परम दयालु मुनिको अध्यात्मरसमें भीगा हुआ देखकर वह दातार सम्यग्दष्टी गद् २ होजाता है और निज आत्माकी स्मृति प्राप्तकर शान्त–रसमें निमग्न होजाता है। यद्यपि यह सम्यग्दष्टी पुण्य कर्मका इच्छुक नहीं है न पुण्य कर्मके फलका चाहनेवाला है, तथापि इसके शुभोपयोगके कारण इसके गाढ पुण्यका बंध होजाता है, यह वस्तुका स्वभाव है। जहां जीवोके अशुभ भाव होते हैं वहां पुण्यका बंध होजाता है, श्री मुनीन्द्र उपदेश करके विहार कर जाते हैं। यह क्षायिक सम्यक्ती परमानन्दमें निमग्न हो आज मुनिदान हुआ इस भावको वार २ स्मरण कर अपने जन्मको सफल मानता है। वास्तवमें मुनिधर्मका परम उपकारी गृहस्थोका पात्रदान है। यही एक दृष्टिसे मुक्तिमार्गमें जाते हुए परिग्रह रहित साधुके लिये एक खरची है। जिन्होंने साधुओंको आहार दिया उन्होंने मानों उन्हें ध्यान संयमका ही दान दिया। यह दातार भावना भाता है कि कब वह दिन आवे जब मैं भी गृहवाससे उदास होकर निर्ग्रंथ पदके

आचरण पालता हुआ अपने भावोंमें ही निर्ग्रंथ होजाऊं और निज-आत्मिक रसका पान निराकूल होकर करता रहूं। वास्तवमें पूजने योग्य व दान देने योग्य तो अपना आत्मा ही है। जो भव्यजीव अपने आत्मसुधाको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई अन्नसे बने हुए स्वात्मानुभवरूपी नैवेद्य स्वसंवेदन भावरूपी हाथोंसे अर्पण करते हैं और अपने आत्मसाधुकी अनादिसे चली आई हुई ज्ञानामृत पानकी तृषा बुझा देते है वे ही सच्चे दातार हैं व उन्हींका पात्रदान पुण्य-बंधका कारण न होकर बंध निर्मूलका हेतु होता है।

(१६)

आज यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सर्व तरफसे निश्चिंत होकर व एकान्तमें बैठकर संयमके धारनेके उज्वल भाव कररहा है। कि इस अनादि भव–समुद्रमें डूबते हुए प्राणीको संयमरूपी नौका ही पार लेजाती है और मोक्षनगरमें पहुंचा देती है। विना संयमके ध्यानकी दृढ़ता नहीं होती है। विना उत्तम ध्यानके कर्मोंका पिंजरा नही कटता है इसलिये यह संयम इस जीवका परमोपकारी है। इस जीवके अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय मंद होरहा है। यह ज्ञानी जीव आत्मा अनात्माके भेदविज्ञानके द्वारा आत्माको शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आनन्दमई जानता है और इस बातको पहिचानता है कि आत्माका अपने आत्मामें स्थित होना ही यथार्थ संयम है। निश्चय संयम यह आत्मा ही है। कषायकी पवन द्वारा उठी हुई तीव्र कल्लोलें आत्माके भावरूपी जलको डावाडोल कर देती हैं और तब आत्मारूपी सरोवर क्षोभित होजाता है। तब वहां असंयम भाव जाग्रत होजाता है। जितनी चंचलता उतना

असयम, जितनी थिरता उतना सयम । जहां स्व स्वरूपमें थिरता होती है वहां ज्ञानका विकाश होता है और उस ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थ अपने स्वरूपको लिए हुए जैसेके तैसे झलकते हैं। जैसे निर्मल सरोवरके जलमें आया हुआ रत्न प्रकटरूपसे चमकता है वैसे निर्मल आत्माके ज्ञानमें पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं। जहां अंतर्मुहूर्त भी लगातार स्वरूपके ध्यानमें थिरता होजाती है वहां यथाख्यात संयम पैदा होजाता है और कुछ ही देरमें केवलज्ञान जग जाता है। यह सयम ही है जो इस अंतरात्मा जीवको परमात्मा बना देता है। संयम ही सिद्ध भगवानके निर्मल पदका दातार है, संयम ही भव–भ्रमणके विकारोंको टालनेवाला है। संयमकी रुचि इस आत्मज्ञानी जीवको संयम धारणमें विवश कर रही है तथापि कषायोदयके कारण यह संयमके धारण करनेसे कुछ ही दूर होरहा है। यह ज्ञानी जीव इस विचारहीमें था कि यकायक इसका भाव होता है कि कुछ आत्मारूपी मनोहर उपवनकी सैर तो कर ली जावे। इस भावसे प्रेरित हो यह अपने उपयोगको जो सयमके विकल्पोंमें उलझा हुआ था अपने आत्मारूपी बागमें लेजाता है, वहां ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, सम्यक्त, वीर्य आदि मनोहर वृक्षोंके दर्शनमें रंजायमान कराता है। अनेक वृक्षोंको देखते देखते यह चारित्ररूपी वृक्षके नीचे आता है और उसकी परम शांत छायामें बैठ जाता है। कुछ देर बैठते ही उपयोगको आत्मानुभवका नशा चढ़ता है। इस नशेमें मस्त होकर यह बिलकुल बेहोश होजाता है। यद्यपि बाहरसे देखनेवालोंको यह अचेतनसा दिखता है, परंतु यह अपने अंतरंगमें ऐसा जागृत है कि वहां एक अपूर्व नृत्य ही देख रहा

है। आत्मपरिणति शुद्धोपयोगके आगनमें नाच रही है। यह देख देखकर मगन होरहा है और जो आनन्द भोग रहा है उसका कथन किसी भी तरह होना शक्य नहीं है। यह आनंद इंद्रिय सुखसे विलक्षण आत्मजनित सुख है। यही परम उपादेय और भोग्य है।

(१७)

आज यह क्षायिकसम्यक्ती जीव श्री गुरुके चरणोंके पास जाकर अप्रत्याख्यानावरणीय कषायके अति मंद उदयसे कुछ नियम लेरहा है। यद्यपि यह मद्य, मांस, मधु ग्रहण नहीं करता था व हिंसाकारी वर्तनोंसे विमुख था तथापि इसके नियम न था। आज यह श्री समंतभद्राचार्यके कथनानुसार मद्य, मांस, मधुका त्याग कर रहा है और स्थूलपने हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रहको त्याग रहा है। जबतक अप्रत्याख्यानावरण कषायका बिलकुल उपशम न होजावें तबतक कोई व्यक्ति अतीचार रहित इन आठ मुलगुणोको नहीं पाल सक्ता है—मात्र स्थूलरूपसे पालता है। इसने मदिराकी बून्द पीनेका, मांसकी डली खानेका, मधुकी बून्द चाटनेका त्याग कर दिया है तथा जानबूझकर अन्यायसे त्रस प्राणियोंकी हिंसाका त्याग किया है। दूसरोंको ठगनेके हेतु असत्य बोलनेका व दूसरोंकी वस्तु बेईमानीसे व छिपके चुरानेका त्याग किया है। इसने अपनी विवाहिता स्त्रीमें संतोष रखनेकी प्रतिज्ञा करली है तथा इसने अपने पास जायदाद रखनेका एक प्रमाण बांध लिया है कि इतनी सम्पत्तिसे अधिक सम्पत्ति अपने पास न रक्खूंगा। इस तरह इन आठ मूलगुणोंको धारण करनेका प्रयोजन रागका घटाव व आकुलताकी कमी है। वास्तवमें रागके वेग व आकु-

लताके उद्वेग परिणामोंको स्वस्वरूप रमणमें जाने नहीं देते हैं। इसलिये राग और आकुलताके कारणोंको मिटाना एक सुखशांति पानेके उत्कंठित मुमुक्षु मानवका कर्तव्य है। इस तरह नियम लेकर व गुरुको नमस्कार करके यह एक उपवनमें आता है और सर्व व्यवहारके संकल्प विकल्पको हेय जानकर व सर्व अनात्मभावोंको बाधाकारी मानकर एक शांत वृक्षकी छायामें बैठ जाता है और निश्चिन्त हो अपने निश्चयस्वरूपको देखने लगता है--अपनेको शुद्ध बुद्ध परमानन्दी आत्मद्रव्य देख देखकर उसकी मनोहरतामें मगन होजाता है, वीतरागताके भावमें प्रवेश करते ही उस आनन्दका भोग करने लगता है जिसका कथन हो नहीं सक्ता, जो मात्र अनुभवगोचर है और जो उस जातिका है जिस जातिका सुख सिद्ध भगवान निरन्तर भोगते हैं।

देशविरत ।

(१)

दर्शन प्रतिमा ।

आज क्षायिकसम्यग्दृष्टी आत्मा अपने कषाय भावोंकी अति मंदताको पाकर परम वैराग्यभावको प्राप्त होजाता है और यह भावना भाता है कि कब यह आत्मा कर्मबंधनके जालसे छूटकर स्वतन्त्र होजावे। इस समय इसके अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम हो गया है जिससे इसकी श्रेणी जो अविरत सम्यग्दर्शन थी सो बदलकर देशविरत नामकी पांचवीं श्रेणी होगई है और दर्शन प्रतिमाका प्रारम्भ हुआ है। इसके इस बातकी विशेष चारित्रमें उत्कण्ठा होगई

है कि सम्यग्दर्शनके आठ अगोंका पालन हो । इसमें निर्भयता अपूर्व है, कोई कितना भी भय बतावे, त्रास देवे, आपत्तियां सामने खड़ी करें परन्तु इस ज्ञानीका सत्य श्रद्धान व सत्य ज्ञान व सत्य आचरण कभी अन्यथा नहीं होसकता । यह इस लोक परलोकका भय, वेदना, मरण भय, अरक्षा, अगुप्त व अकस्मात् भयोंको रच मात्र भी नहीं रखता है । इसने अपने आत्माहीको स्वलोक, परलोक माना है, अपनी ज्ञान चेतनाकी वेदनाको वेदना जाना है, अपनी सत्ताको अमिट व अपने ज्ञान सुखादि धनको अचौर्य समझा है । अपनेको अमरण व अकस्मात्से बिलकुल दूर अनुभव किया है । वज्रवत् आत्माको कोई विकारी नहीं कर सक्ता, ऐसी दृढ़तासे यह निःशंकित अगको पालता है कि बिना संकोचके अपने निश्चित मार्गपर चला जाता है—इसे लोगोंकी प्रशंसा व निन्दाकी परवाह नहीं है, यह अपने मंतव्यमें अटल है । इसे आत्मीक रसकी ही भावना है, विषय सुखके पीछे आकुलित नहीं होता है । यह भले-प्रकार अपने भावोंमें निश्चय किये हुए है कि इंद्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख अतृप्तिकारी, आकुलतामय, बंधरूप व तृष्णाताप वर्द्धन करनेवाला है जब कि आत्मीक सुख स्वाधीन, शांत, मोक्ष-कारक व तृप्तिदायक है । इसे किसी भी पदार्थसे घृणा नहीं है, वस्तु स्वभावकी दृष्टिने इसे उन पदार्थोंको भी साम्य दृष्टिसे देखनेकी बुद्धि दे दी है जिनको जगतके साधारण प्राणी अशुभ व घृणास्पद देखते हैं । न कोई चेतन पदार्थ व अचेतन पदार्थ इसकी बुद्धिमें निन्दनीय है । यह विचिकित्सा भावको हटाकर प्रेम व दयाके रसमें भीजा हुआ है । रोगी, दलीद्री, दुखी मानव इसका

दयापात्र होजाता है और यह यथाशक्ति उसकी सेवा करके उसका प्रेमभाजन बन जाता है। मूढ़ताका व्यवहार इसे बिलकुल स्पर्श नहीं करता। जैन सिद्धांतके भाव-रहस्यका ज्ञाता यह क्षायिक सम्यक्ती जीव अमूढ़दृष्टि अगमें अटल रहता हुआ अपनी आत्मीक शुद्धताको बढ़ाता हुआ उपबृंहण गुणको पाल रहा है। यह उन आत्माओंकी निंदा नहीं करता है जो अज्ञान व तीव्र कषायकी प्रेरणासे कुमार्गगामी होजाते हैं। उनपर भी इसकी दया है, उन-पर भी इसका साम्यभाव है। यह ज्ञानी जीव निरंतर अपनेको साम्यभावमें स्थिर रखनेकी चेष्टा करता है तथा अपने मित्रोंको मिथ्यात्वकी कीचसे निकल कर सम्यक्तके स्वच्छ आंगनके मध्य सम्यग्ज्ञानके सुखद आसनपर बिठा देता है। इसका प्रेम व वात्सल्यभाव उन सर्व आत्माओंसे अत्यन्त प्रकर्ष है जो अन्तरात्मा हैं, जो परमात्मपदकी उमंगमें स्वात्मपथके अनुयायी हैं—उनके दुःखोंको अपना दुःख मानता हुआ वह ज्ञानी उनके कष्टोंको मेटनेका पूर्ण प्रयत्न करता है। उनको सुखी देखकर ही यह प्रसन्न होता है। उनकी आपत्तियोंको टालनेके लिये यह अपनी बलि करनेको भी उद्यत रहता है। इसको आत्म प्रभावनाके साथ२ परमपवित्र जैन-धर्मकी प्रभावनाका पूर्ण ध्यान है। यह ज्ञानी जीव इन आठों अंगोंको व्यवहारमें विशेष लाता हुआ दर्शन प्रतिमाके भावको चरितार्थ कर रहा है। इस समय यह सर्व रागादि, गुणस्थानादि अनात्मभावोंके विकल्प-जालोंको त्याग कर रत्नत्रयमई आत्माके निर्विकल्प भवनमें पदार्पण करता है और यहां समताकी शय्यापर विराजमान स्वानुभूतितियाके निकट बैठकर स्वात्मानुभवरूप प्रेमके आलापमें

मस्त हो अतींद्रिय सुखको भोगता हुआ परम संतोषी होरहा है।

(२)

व्रत प्रतिमा–अहिंसा अणुव्रत।

इस पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकने प्रत्याख्यानावरण कषायके मंद उदयसे व्रत प्रतिमामें पदार्पण किया है, अहिंसा अणुव्रतको धारण किया है। इसके परिणामोंमें यह बात जमी हुई है कि मेरे मन, वचन, कायके वर्तनद्वारा किसी भी प्राणीको कष्ट न हो। इसने अहिंसाका स्वरूप भले प्रकार समझ लिया है। रागद्वेषादि भावोंका आत्मामें न पैदा होना भाव अहिंसा है तथा अपने व दूसरोंके इंद्रियादि प्राणोंका वियोग न करना व उनको कष्टमें न डालना द्रव्य अहिंसा है। दोनों प्रकारकी अहिंसाका पालन करना जीव मात्रका कर्तव्य है, ऐसा श्रद्धान रखते हुए भी यह कषायके उदयकी बरजोरीसे लाचार होकर अभी मात्र संकल्पी त्रसहिंसा ही बचा सक्ता है, आरंभी हिंसाको उपादेय न जानता हुआ भी इसे लाचार हो करना पड़ता है। प्राणियोंको मारकर अपना प्रयोजन साधूं ऐसा संकल्प या इरादा करके जो धर्मके नामसे पशुवध किया जाता है व शिकार खेला-जाता है व मांसके लिये हिंसा की जाती एवं अन्य किसी शौकके लिये प्राणियोंको कष्ट दिया जाता सो सब संकल्पी हिंसाके भेद हैं। इनको निरर्थक जानकर इनसे भले प्रकार बचता है। आजीविकाके साधनार्थ जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प व विद्याकर्म करने पड़ते हैं उनमें यथाशक्ति महा आरंभोंको टालकर अल्पारम्भमें वर्तता है। जीवदयाको न भूलता

हुआ, किसीको न सताता हुआ पेटके लिये अपनी स्थितिके अनु-कूल उद्यम करके पैसा कमाता है। इस उद्यमी हिंसासे बच नहीं पाता। घरमें खानपान सफाई आदिके आरम्भमें ही त्रसहिंसा होजाती है। इस गृहारंभी त्रसहिंसासे भी बच नहीं सक्ता। यदि कोई अन्यायी घरपर, धर्मस्थानपर व देशपर आक्रमण करे व हर तरह समझाए जानेपर भी न माने तो उसका सामना करके युद्ध-बलसे उसको हटाता है। इसमें जो हिंसा होती है उसको विरोधी हिंसा कहते है। जहांतक गृहस्थ है व परिग्रहवान है वहांतक परिग्रहकी रक्षा सबन्धी हिंसासे भी बच नहीं पाता। इन उद्यमी, गृहारमी व विरोधी हिंसाको आरभी हिंसामें ही गर्भित कर सक्ते हैं जिससे हिंसाके दो भेद रह जाते है–एक सकल्पी, दूसरी आरंभी। इस आरभी हिंसाका त्याग आठमी प्रतिमामें कर देना होगा। उसके पहले यथासंभव कम करनेका उद्यम है। इस तरह अहिंसा अणुव्रतको पालता हुआ यह श्रावक जगतके प्राणी मात्रमें प्रेम-भावसे पूर्णपने भरा हुआ है तथा निरतर सर्वसे मैत्रीभाव रखता है, सबकी आत्माओंका भला चाहता है–इसकी प्रकृतिमें किसीका बुरा विचारना मिट ही गया है। ऐसा यह श्रावक इस समय सर्व आरभोंको त्यागकर, एकांतमें जाकर पुद्गलकी सर्व अवस्थाओंको उल्लघकर अपने ही आत्माके गुणोंमें रंजायमान होजाता है और एक क्षणमें ही रागद्वेषादिसे हटकर वीतराग विज्ञानमय आत्म-धर्ममें आरूढ होजाता है और तुर्त आत्मीक सुधाका पान करने लगता है। उस समयके आनंदका वर्णन हो नहीं सक्ता।

(३)

व्रत प्रतिमा—सत्य अणुव्रत।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव आत्माके प्रेममें भीजा हुआ पांचवे गुणस्थानमें विराजमान है। सत्यव्रतकी भावना भा रहा है। परिणामोंमें यह विचार है कि असत्य घोर पाप है जबकि सत्य मानवका भूषण है। वह विचारता है कि मैं क्रोधके वशमें ऐसा न होजाऊं जिससे असत्य कह बैठू। लोभ मुझको ऐसा न सतावे जिससे मैं असत्य बोलकर भोले प्राणियोंको ठग लूँ, भय ऐसा न व्यापे जिससे मैं सत्यको छिपाऊ और सत्य कहनेसे जो जगतको लाभ होसक्ता है उससे जगतको वंचित रक्खु। हास्यके फंदमें ऐसा न फसूं जिससे असत्य कहकर किसीकी हास्य उड़ाऊ। मेरा सर्व वचन जिन आगमके विरुद्ध न होना चाहिये। इन पांच भावनाओंको भाता हुआ सत्य—अणुव्रतके पांच अतीचारोंके बचानेका पूरा ध्यान रखता है। वह विचारता है कि मैं दूसरोंको मिथ्या उपदेश न दूं न किसीको यह सिखलाऊ कि वह असत्य वोले। मैं किसीके गुप्त रहस्यकी बात न प्रकाश करू। मैं कभी झूठा लेख न लिखू न झूठा कागज बनाऊ, मैं किसीकी अमानत रकमको झूठ कहकर न लू और न मैं चार आदमियोंके मंत्रको उनके संकेतोंसे जानकर प्रगट करू, इस तरह सत्यव्रतकी भावना भाता हुआ यह श्रावक अपने सर्व व्यवहार सत्यके आलम्बनपर ही रख रहा है। इसको असत्यसे ग्लानि है। यह सत्यको अपना परम मित्र समझता है।

इसने सत्यव्रतके अभ्यासको ऐसा बढ़ा लिया है कि इसका सारा काम सत्यसे निकलता है। इसे कोई कष्ट नहीं होता है न

इसकी कोई हानि होती है। इसका विश्वास जगतमें फैल गया है। विश्वासके कारण इसका वाणिज्य बड़ी सुगमतासे बढ़ता चला जारहा है। यह कभी मिथ्या प्रतिज्ञा व प्रण नहीं करता है। लेनदेनमें सफाई रखता है। इसके व्यवहारसे सर्व लौकिक जन प्रसन्न हैं। वास्तवमें इसके कषायकी ऐसी मदता है जिससे यह सत्य व्यवहारको विना किसी कष्टके प्रचारमें लारहा है। इसके प्रत्याख्यानावरण कषायका भी तीव्र उदय नहीं है। यह बहुत मीठे नर्म विनययुक्त वचन बोलता है। कठोर, कटुक, चुगलीभरे वचनोंको इसने त्याग दिया है। इसके भीतर यह भावना है कि कब वह दिन आवे जब मैं आरम्भके करानेके लिये जो अघकारी वचन बोलता हूं, इससे भी बच सकूं। सावद्य वचनका त्याग इससे नहीं होसक्ता है। ऐसे सत्यव्रतको मनन करता हुआ यह श्रावक यकायक शुभ अशुभ भावोंसे अरुचि करता हुआ शुद्ध भावोंमें रमणताको पानेके लिये भेद विज्ञानकी शरण लेता है और निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माको शुद्धबुद्ध, ज्ञाताद्दष्टा, अविनाशी और आनन्दमय विचारता२ यकायक निज परिणतिमें थंभ जाता है तब स्वानुभव रसका प्रवाह इसके भीतर वहने लगता है। यह ज्ञानी उस रसमें कल्लोल करता हुआ अद्‌भुत आनन्दका विलास करता है।

(४)

व्रत प्रतिमा--अचौर्य अणुव्रत।

यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव श्रावककी दूसरी प्रतिमाके व्रतोंकी भावना कर रहा है। तीसरे अचौर्यव्रतको बड़े आदरसे पाल्ता है। इस व्रतकी दृढ़ताके लिये यह भावनाएं भाता है क्योंकि भावनाएं-

रक्षकका काम करती है। किसीके मालके ऊपर विना उसके दिये हुए व उसकी इच्छाके लेलेनेके भावोंका होजाना ही चोरी है। इन भावोंके न होने देनेके लिये वह जब कहीं अपने ग्रामके बाहर जाता है तब ऐसी जगह विश्राम करता है या आसन जमाता है जहां किसीका मालमता न हो और न जहां कोई रोक सके इसी-लिये सूना स्थान, किसीका छोड़ा हुआ उजाड़ घर, विना रोकटोकका स्थान पसन्द करता है तथा जिन धार्मिक विषयोंको अपने भोजनपानके काममें लेनेकी प्रतिज्ञा कर चुका है उन नियमोंमें त्रुटि हो जानेपर भोजनपान करना एक प्रकारकी चोरी समझता है। जो वस्तु अग्राह्य होगई उसे ही ग्रहण कर लेना चोरी है। इसलिये भोजनकी शुद्धिपर ध्यान देता है तथा जो पदार्थ किसी खासके स्वामित्वके नहीं हैं किन्तु धार्मिक या पंचायती हैं उनके सम्बन्धमें ऐसा झगड़ा नहीं करता है जिससे ऐसा झलके कि यह उसपर अपना हक जमाना चाहता है और दूसरोंके हकोंको मारना चाहता है। इस तरह पाच भावनाओंको ध्यानमें लेता हुआ अचौर्यव्रतकी रक्षा करता है। यह व्रती किसीके गिरे हुए, भूले हुए व गड़े हुए पदार्थको भी नही अपनाता है—जो राज्यके व समाजके नियम है उन नियमोंको तोड़कर अपना स्वामित्व किसी पदार्थपर नहीं जमाना चाहता है। इस अणुव्रतकी शुद्धिके लिये इसमें जो दोष आसक्ते हैं उनको भी बचाता है। जब यह स्वयं चोरी नहीं करता है तब दूसरोंको भी चोरीके उपाय नहीं बताता है। किसीपर तीव्र दालि-द्रकी आपत्ति पड़ गई है तो भी उसको चोरी करनेकी रीतिमें नहीं प्रेरित करता है। वह समझता है कि द्रव्य मानवका ११ वां प्राण

है। जो किसीके द्रव्यको हरता है वह मानो उसके प्राणोंको ही हरता है। वह उस मालको न खरीदता है न लेता है जिससे यह भ्रम आजाता है कि यह चोरी करके लाया गया है। कहीं राज्यका विप्लव होगया है व राज्य शासनका अप्रबंध हो तौ भी नीति व मर्यादाको उल्लंघकर लेनदेन नहीं करता है जो वास्तवमें प्राणियोंके प्राणोंको कष्टदायक है। वह व्यवहारमें लेने देनेके तराजू, बाट, गज आदि समाजकी चालके अनुसार एकसे शुद्ध रखता है तथा मनमें कपट न रखकर जैसा माल कहता है वैसा ही देता है, खरीमें खोटी मिलाकर खरी कहके व खरीका विश्वास दिलाकर नहीं देता है। इस तरह दोषोंको बचाता हुआ अचौर्यव्रतकी भावना भाता है। इस व्रतके विकल्पको भी बंधका कारण समझता है। शुद्ध आत्माके अनुभवको कार्यकारी व सच्चा अचौर्यव्रत समझता है क्योंकि उसमें पर पदार्थके ग्रहणका भाव नहीं है। एकांतमें जाकर ज्यों ही निज आत्माके गुणोंको परमात्माके गुणोंसे व पुद्गलादि द्रव्योंके गुणोंसे भिन्न विचारने लगता है और मात्र निज आत्माकी सुन्दरतामें तन्मय होजाता है त्यों ही आत्मिक आनन्दको पाकर परम अकथनीय तृप्तिका अनुभव करता है।

(९)

व्रत प्रतिमा—ब्रह्मचर्य अणुव्रत ।

यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव पंचम गुणस्थानकी दूसरी प्रतिमामें व्रतोंकी भावना कररहा है। चौथा व्रत स्वस्त्रीसंतोष है या परस्त्रीत्याग है, इस व्रतको बड़े प्रेमसे इसने ग्रहण किया है। इसको यह विश्वास है कि आत्मानुभव ही ब्रह्मचर्य है उसका

सहकारी कारण वीर्यरक्षा या कामभावका त्यागरूप बाहरी ब्रह्मचर्य है। शक्तिके अभावसे पूर्ण ब्रह्मचर्य न पाल सकनेके कारण इसने विवाह किया है कि मन एक स्त्रीमें ही रंजायमान होकर संतोष प्राप्त करे, भटक करके संतापित व असंतोषित न रहे। संतान प्राप्ति भी गृहस्थको चाहिये, यह भी हेतु विवाहका है तथापि यह ज्ञानी स्त्री प्रसंगको या काम विकारको त्यागने योग्य समझता है क्योंकि यह शीलस्वभावका घातक हिंसक भाव है तथा मैथुन-क्रियामें अनेक त्रस जंतुओंका घातक होनेसे यह द्रव्यहिंसा रूप पाप है। लाचारीसे प्रत्याख्यानावरण कषायका मंद उदय न होनेसे इसने स्वस्त्रीसंभोग स्वीकार किया है। भावना यह भाता है कि कामविकारका दोष मिटे इसलिये वह सोचता रहता है कि मैं परस्त्रियोंमें राग बढानेवाली कथाओंको व कुत्सित गानको न सुनूं, न पढूं, न ऐसे नाटक देखूं जिससे काम कथाका भाव जाग्रत हो, न मैं स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको रागभावसे देखकर अपने परिणाम विचलित करूं, न म ऐसे रस व पदार्थ भक्षण करूँ जो कामकी ऐसी तीव्रता करदें कि जिससे मैं अधिक रागी हो पर ललनाओंकी ओर मनको भटकाऊँ, न मैं भूतकालमें किये हुए रति संसर्गके विषयोंको स्मरण करूँ और न उनकी चर्चा करू। और मैं अपने रहन सहन व पहननेके ढंगको ऐसा रक्खूं जिसमें सभ्यता व सादगी हो—ऐसा श्रृंगार न करूं जो अपमान व दूसरोंका मन काम विकारी बना सके। इसतरह इस चतुर्थ व्रतकी भावनाओंको निरन्तर भाता हुआ यह ज्ञानी इस अणुव्रतमें संभवनीय दोषोंको भी बचानेकी भावना करता रहता है। यह कामभाव सम्बन्धी विकल्पोंके होने-

हीको दोष समझता है इसलिये अपने आधीन कुमार व कुमारियोंके सगाई करानेकी चिन्ताको छोडकर जिस कुमार व कुमारियोंके दूसरे स्वामी हैं व जिनसे इसका कौटुम्बिक सम्बंध नहीं है उनके जोड़ मिलानेके झझटोंमें नहीं पड़ता है। यह उन व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे ऐसा व्यवहार लेनदेन वार्तालाप हास्यादिका नहीं रखता है जो किसीकी विवाहिता नहीं है तथा जिनको चाहे जिस पुरुपसे ससर्ग करनेमें व प्रगट कुकर्म करनेमें ग्लानि नहीं है न उन व्यभि-चारिणी स्त्रियोंमें ऐसा व्यवहार करता है जो किसीकी विवाहिता पत्नीरूप हैं क्योंकि ऐसा निकट सम्बन्ध परस्त्री सेवन नाम कुशी-लमें प्रेरणाकारक है। वह नीतिसे शारीरिक शास्त्रके अनुकूल ही जिस तरह काम भोगसे सतानकी प्राप्ति होसक्ती है उसी तरह काम भोग अपनी विवाहिता स्त्रीमें करता है। कामके उचित अगोंको छोडकर अनग क्रीड़ा नहीं करता है। और न वह अपनी ही स्त्रीमें विशेष रागी होकर रातदिन कामसेवनकी चिंतासे आकुलित होता है। वह सतोषपूर्वक इप विषयका ऐसा उपयोग करता है जिससे शरीर निर्बल न होवे, मन असतोषित न रहे। इस तरह यह गृहस्थ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको पालता हुआ पूर्ण महाव्रतके लाभका उत्सुक होरहा है। जिस तरह इसके व्यवहार ब्रह्मचर्य एक देश है वैसे अन्तरग ब्रह्मचर्य भी एक देश है। यह आत्मानुभवको परमोत्तम कार्य समझता है। साधुवत् अधिक समय इस अनुपम रसायनके पैदा करनेमें नहीं लगा सक्ता है तौभी यह सवेरे शामको समय निकालके इस अमृतका पान अवश्य करता है। ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाको करते हुए अब यह सर्व झंझटोंको छोड़ता है।

कुशील व शीलके विचारोंकी तरंगोंको भी उलंघ जाता है और एक महान निर्मल स्फटिक रत्नसम पवित्र व निर्दोष आध्यात्मिक सरोवरमें प्रवेश कर जाता है, जहा पवित्र स्वात्मानुभव रूपी जल भरा है व जहां रागद्वेषका मैल नहीं है न जहां चंचलताके भेज हैं। इस सरोवरका जल क्षीरसागरके जलके समान विकलत्रयसे व जलचर जन्तुओंसे रहित है। इस सरोवरमें यह ज्ञानी कल्लोल करता हुआ आत्मीक गुणोका मनन करता हुआ ज्यों ही डुबकी लगाता है त्यों ही एक ऐसे आनदके रसमें मग्न होता है कि वहां उसे यह खबर नहीं रहती है कि कहां सरोवर है व कहां मै हूं। वह अनुपम आत्मसवेदन रूपी निद्रामें वेखबर होजाता है और इस दशामें जिस आनंदका स्वाद पाता है वह वचन अगोचर है। वह मात्र अनुभव-गम्य है।

(६)

व्रत प्रतिमा-परिग्रहप्रमाण व्रत।

आज यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव दूसरी व्रतप्रतिमामें परिग्रहप्रमाणव्रतकी भावना कर रहा है। यह भलीप्रकार जानता है कि जितने पदार्थोंपर स्वामित्व रक्खा जाता है उतना ही अधिक उनका विचार आया करता है और वे चित्तमें विक्षेप पैदा करनेके हेतु होते हैं। चित्तके स्थिर हुए विना आत्मानुभवका अभ्यास कठिन है। इसलिये यह अपनी योग्यता व इच्छाके अनुसार १० प्रकारके परिग्रहका प्रमाण जन्मभरके लिये कर लेता है और प्रमाणसे बाहरके पदार्थोंमें बिलकुल भी मोह त्याग देता है-मानो उसके लिये उनका अस्तित्व ही नहीं है। वह प्रमाण कर लेता है कि इतनी भूमि,

इतने मकान, इतनी चांदी, इतना सोना व जवाहरात, इतने गाय, भैंसादि पशु, इतना धान्य (जो एक समय अपने वर्तनेमें काममें लिया जा सके) इतने दास, इतनी दासी, इतने कपड़े व इतने वर्तनसे अधिक नहीं रक्खूंगा। इस प्रमाणरूप संपत्तिका अनुमान एक मुष्ठ भी किसी परिमित रकमसे कर लेता है। अर्थात् कितने लाख व कितने हजार हैं। यह व्रती निराकुलताका चाहनेवाला है, खुब सोच विचारकर प्रमाण करता है। जीवनके भीतर ऐसा कभी समय न आवे जो फिर अधिककी चाह करनी पड़े और पछताना पड़े इसलिये पहले ही अधिक परिग्रह रख लेता है और यह भावना करता है कि इनको भविष्यमें और घटाते चले जायंगे। वह यह खुब समझता है कि यह परिग्रह चिंताका कारण है और इसीसे यह परिग्रहको रखने हुए भी जलमें कमलकी तरह अलिप्त रहता है। तथा इस व्रतकी दृढ़ताके लिये पांच प्रकारकी भावना भाता है कि मेरा मन स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रियोंके भोगनेयोग्य पदार्थोंका सम्बध पाते हुए समताभाव रक्खे। यदि शुभ कर्मके उदयसे मनोज्ञ व इष्ट पदार्थ प्राप्त हों तो उनमें राग न करे व अशुभ कर्मके उदयसे अमनोज्ञ व अनिष्ट पदार्थ प्राप्त हों तो उनमें द्वेष न करे। यही भावना ज्ञानी जीवकी परिग्रहकी चिन्ताको मिटानेवाली है। यदि कभी कंकरीली भूमि भी शयनको प्राप्त होगई या चने ही खानेको मिले, या दुर्गंधयुक्त मार्गमें जाना पड़ा, या रोगी तथा दलिद्री लोगोंका दर्शन मिला, या कटुक व असभ्य वचन सुननेको मिले तौभी वह अपने मनमें कुछ बुरा नहीं मानता है, संतोषमें रमा रहता है और यदि ये ही पदार्थ सुन्दर

मिले, मुलायम गद्देदार बिछौना, मिष्टान्न, अतरफुलेल, बागबगीचे, सुन्दर गान इत्यादि प्राप्त हुए तो उनको भोग लेता है परन्तु उनसे उन्मत्तता नहीं लाता है और न अपनेको भाग्यवान मानता है, क्योंकि इस ज्ञानीकी आत्माने तो सम्यक्तके प्रभावसे इन सर्व ही निज आत्मा सिवाय परपदार्थोंको अपने स्वरूपसे भिन्न निश्चय किया है व उनके संबंधको एक दिन छूट जानेवाला माना है जैसा कि वास्तवमें है। इसलिये इनके सयोगमें हर्ष व वियोगमें विषाद इसी तरह नहीं करता है जैसे धूपके आनेपर हर्ष व छायाके आनेपर विषाद नहीं किया जाता है। यह ज्ञानी जीव इस अणुव्रतमें ५ प्रकारके अतीचारोंको भी नहीं लगाता है। इसके भीतर ऐसी अन्यायपूर्ण कषायकालिमा ही नहीं है जिससे वह इन १० प्रकारके परिग्रहके जो पाच जोड़ हुए उनमेंसे हरएक जोडमें काम पड़नेपर किसी एकको बढ़ाले व दूसरेको घटाले, जैसे क्षेत्र व मकानके जोडमें यदि १० बीघा खेत हो और ५ मकान हों तो मकान ६ करले व खेत ८ बीघा ही रक्खे ऐसा उल्लंघन नहीं करता है। यह तृष्णाकी वृद्धिका द्योतक होगा। इसी तरह हरएक जोड़में घटाता बढ़ाता नही। काम पड़नेपर भी संतोष भजता है व जो प्रमाण कर चुका है उस प्रतिज्ञाको अटल पालता है। इस तरह भावना भाते हुए यह अब इस व्यवहारके झझटके विकल्पको त्यागता है और पुद्गल सम्बंधी सर्व चिंताओंको त्यागकर अपने ही आत्माके मनोहर क्रीड़ा-वनमें प्रवेश करता है। वहां स्वात्मानुभूति तिया उसकी राह देख रही थी। जैसे ही यह पहुंचता है दोनो प्रसन्न होजाते हैं और क्रीड़ावनमें शांतरसके गेंदका रमण प्रारम्भ होजाता

है। अब ये दोनों ऐसे इस शांत रसकी क्रीड़ामें तन्मय हैं कि इनको और कुछ चिंता नहीं है। गेंद क्रीड़ाके पीछे ये दोनों गले लग जाते हैं और द्वैतभावसे अद्वैतमें पहुंच जाते हैं तब जो आनंद पाते हैं वह वचन अगोचर व परम अदभुत है।

(७)

व्रतप्रतिमा—दिग्व्रत।

तत्त्वज्ञानी आत्मा पंचम गुणस्थानकी भूमिकामें बैठा हुआ व्रत प्रतिमाके भीतर विचार कर रहा है। पांच अणुव्रतोंका विचार करके अब वह तीन गुणव्रतोंका विकल्प करता है। अणुव्रतोंमें की हुई पाप त्यागकी *मर्यादाको जो बढ़ा देवें उनको गुणव्रत कहते हैं।* प्रथम गुणव्रत दिग्व्रत है। जिसका भाव यह है कि समस्त भूमंडलमें पंच पापके विकल्पोंके किये जानेसे रक्षा हो। एक गृहस्थ श्रावकको अर्थ और काम पुरुषार्थकी सिद्धि करनी पड़ती है। इस आरम्भकार्यके लिये वह प्रतिज्ञा कर लेता है कि जन्मपर्यंतके लिये मैं पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ऊपर नीचे व चार विदिशा दस दिशाओंमें इतनी इतनी दूरसे अधिक न जाऊंगा। इस दिग्विरतिके होनेसे उसके अभी जितने अंश असंयम है वह असंयम समस्त भूमंडलपर न होकर मात्र मर्यादा किये हुए क्षेत्रमें ही रह जाता है। इसीलिये पांचों अणुव्रतोंका मूल्य इस व्रतके द्वारा बढ़ जाता है। संतोषके सुन्दर भावने व कषायकी मन्दताने इसे दिशाओंकी मर्यादा करनेके लिये प्रेरित किया है। यह इतना दृढ़प्रतिज्ञ व संतुष्ट है कि लोभके निमित्त मिलनेपर भी की गई प्रतिज्ञाको उल्लंघन नहीं करता है। वह इस गुणव्रतमें होनेवाले पांच मुख्य अतीचारोंको

बचाता है। ऊपर जो जानेका नियम किया है उसके ऊपर किसी अर्थ व काम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये कभी भूल कर भी नहीं जाता है। इसी तरह जो नीचे जानेका नियम किया है उससे भी अधिक नीचे किसी लोभादिक वश नहीं जाता है। इसी तरह आठ दिशाओंमें जो मर्यादा बांधी है उससे भी एक कदम अधिक किसी कषायवश नहीं जाता है। जो मर्यादा जिस दिशाकी जितनी ली है उसको कम व अधिक नहीं करता है। वह ऐसा कभी नहीं करता है कि लोभादिके आधीन हो पूर्व दिशाकी मर्यादा बढ़ाकर वहां अपना मतलब साधा करे व उसके बदलेमें पश्चिम दिशाकी मर्यादा घटा देवे व इस तरह अपनी की हुई प्रतिज्ञाको निबाहे। यह भी यह ठीक समझता है कि हर दिशाकी की हुई मर्यादाको भलेप्रकार याद रक्खे। विना स्मृतिके चले जाना भी मर्यादाके व्रतका दोष होता है। इस तरह यह ज्ञानी कभी भी ऐसे कषायके आधीन नहीं होता है जिससे उसको यह लालसा कभी भी पैदा हो कि वह अर्थ व कामके लिये मर्यादाका उल्लंघन करे। तीर्थयात्रा, मुनि-दर्शन आदि धर्मकार्योंके लिये यह मर्यादा नहीं होती है। इसी-लिये जो आरम्भत्यागी श्रावक होजाते हैं वे धर्मके हेतु जहां चाहे जासक्ते हैं। इस दिग्विरतिका विकल्प करता हुआ श्रावक इस व्यवहार मार्गको भी बंधका कारण जानकर शुद्धनयके द्वारा संके-तित शुद्ध आत्मानुभवके पथपर जाना चाहता है। ज्यों ही उप-योगको फेरता है भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्मसे शून्य आत्मद्रव्य-मयी पथपर चढ़ जाता है और वहां चलते हुए सिवाय आत्मीक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि शुद्ध गुणोंके और किसी अनात्मीक

आवका दर्शन नही पाता । वहां न १४ गुणस्थान दिखते है, न १४ मार्गणाऍं नजर आती है। वहां शुद्ध चेतनाका ही साम्राज्य है। यह ज्ञानी इस पथपर चलते हुए स्वात्मानुभवरूपी वृक्षके आनंदामृतसे पूर्ण फलका स्वाद लेता हुआ जो सुख पारहा है वह कथनमें नहीं आ सक्ता ।

(८)

व्रत प्रतिमा—देशव्रत ।

ज्ञानी आत्मा आज पांचवें गुणस्थानकी व्रत प्रतिमामें दूसरे गुणव्रतका मनन कर रहा है। दिग्व्रतके पीछे देशविरत गुणव्रत है। इस व्रतमें पांच अणुव्रतोका मूल्य और भी अधिक होजाता है। दिग्विरतमें जितनी क्षेत्रकी मर्यादा जन्म पर्यंतकी की गई थी उससे बाहरके क्षेत्रमें उसका सपूर्ण राग भाव छूट जानेसे वह महा-व्रतके अनुरूप फलका भागी होगया था, अब इस देशव्रतमें वह प्रतिदिन प्रारम्भमें ही उस सीमाके भीतर घटाकर उतनी ही क्षेत्रकी सीमा २४ घण्टेके लिये या अन्य किसी परिमित कालके लिये नियत कर लेता है, जितने क्षेत्रमें उसका रागभाव सांसारिक कामोंके लिये उतने कालके लिये रह जाता है। इस व्रतसे यह ज्ञानी जीव किसी नियमित कालके लिये की हुई क्षेत्र मर्यादाके बाहर और भी अधिक महाव्रतके फलका भागी होजाता है। जैसे चार और चारको जोड़नेसे तो आठ ही होते हैं परन्तु गुणनेसे सोलह होजाते हैं, इसी तरह अणुव्रतोंका गुणन होते हुए यहां अणुव्रतोंका मूल्य बहुत बढ़ जाता है इसीसे इसे गुणव्रत कहते है। यदि दिग्व्रतमें पांचको पांचसे गुणन करनेपर पच्चीस गुणफल होगया था परन्तु

यहां देशव्रतमें पच्चीसको पच्चीससे गुणा करनेपर छःसे पच्चीस गुणा फल होजाता है। वास्तवमें प्रत्याख्यान कषायके उदयकी मन्दता ही इस फलकी कारणभूत है। जितनी दूर तक दश दिशाओंमें इसको जाने आनेका प्रयोजन होता है उतनी दूरतकका गमनागमनका व जितने क्षेत्रतक पत्र व माल भेजनेका व मंगानेका प्रयोजन होता है उतनी दूरतकका प्रमाण कर लेता है। जैसे मैं आज अपने ग्रामके बाहर नहीं जाऊंगा परन्तु माल व पत्र कलकत्ते, बंबई, कराची, दिहली आदितक भेज सकूंगा अथवा आठों दिशाओंमें पांच पांचसौ कोशतक, ऊपर व नीचे एक २ कोशतक इस तरह दसों दिशाओंमें गमनागमनका अलग व भेजने तथा मंगानेका अलग प्रमाण करके प्रमाणसे अनेक क्षेत्रके लिये संतुष्ट होजाता है, यही संतोषामृत पिलाना ही देशव्रतका अपूर्व फल है। इतना ही नहीं, यह आस्रवका निरोधक व संवरका कारक है तथा मंदकषायका भाव पुण्यबंधका हेतु है। इस परमोपकारी देशव्रतको पालन करते हुए यह संतोषी जीव अपने किसी प्रयोजनभूत कार्यमें किसी प्रकारकी हानि न सहता हुआ लोभकी मात्राको घटाए हुए ही रखता है। उसको किसी आकस्मिक कारणसे बढानेकी कभी लालसा नहीं करता है। इसीसे वह नीचे कहे हुए पांच दोषोंको न लगानेका पूर्ण ध्यान रखता है। यह मर्यादित क्षेत्रसे बाहरकी वस्तुको मंगानेके लिये किसीको भेजता नहीं और न उस क्षेत्रके बाहर किसीके पास भेजता है। यदि कोई मित्र व सम्बंधी मर्यादाके बाहर हो तो उससे हदके ऊपर खड़ा होकर बातें भी नहीं करता है, न टेलीफोन आदिसे शब्दोंको भेजता है, न मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें किसी

अपने शरीरका संकेत बताकर अपना काम निकालना चाहता है, न किसी पुद्गल या कंकड़ पत्थर या पत्र आदिको भेजकर अपनी कषाय पुष्ट करता है। इस तरहके अन्य भी संभवित दोषोंको बचाता है और पूर्ण संतोषको पालकर सुखी रहता है। इस व्रतकी भावनामें पर पदार्थका ही चिन्तवन है, निज आत्माकी भावना नहीं है। ऐसा विचार कर अपना उपयोग सर्व पर पदार्थोंसे हटा लेता है व निज आत्म परिणतिके ही संयोगमें उसे जोड़ देता है। जब यह स्वाभिमुख होजाता है, यह शांतिमई सरोवरमें प्रवेश कर जाता है, उसके निर्मल ज्ञानरूपी जलसे अपनी कषाय कालिमाको धोता है और क्षणभरके लिये मुनि तुल्य परम निष्कषायी होकर समताकी स्मृतिमें ध्यानस्थ होजाता है तब रागद्वेषके विकल्प मिट जाते हैं। इसे चहुंओर अध्यात्मरसका प्रवाह ही वहता हुआ नजर आता है, जिधर दृष्टि डालता है सिवाय अध्यात्मरसके अन्य श्रृंगार, वीर रसादिका पता नहीं पाता है। यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टी इस रसका ही पान करता हुआ उन्मत्त होजाता है और इस अपूर्व नशेमें ऐसा गाफिल होजाता है कि सिवाय आनन्दके किसी भावको भोगता ही नहीं।

(९)

व्रत प्रतिमा—अनर्थदंडव्रत।

आज यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टी वीर पांचवें गुणस्थानकी दूसरी व्रत प्रतिमामें ठहरा हुआ तीसरे गुणव्रत अनर्थदंडविरतिकी भावना भारहा है। इस व्रतको गुणव्रत इसीलिये कहते है कि यह व्रत भी पंच अणुव्रतोंका मूल्य बढ़ा देता है। जो मूल्य पंच अणुव्रतोंका

था वह इस व्रतमें चारगुणा वर्ग रूप होजाता है। जैसे ५ अणु-व्रतोंका मूल्य ५ था तो दिग्विरतिमें २५ व देशविरतिमें ६२५ व अनर्थदंडविरतिमें ६२५को ६२५से गुणाकार करनेपर ३९०६२५ होजाता है। इसका हेतु यह है कि श्रावकने जो दस दिशाओंमें क्षेत्रकी मर्यादा देशविरतिमें बहुत कम रक्खी थी उस मर्यादाके भीतर भी वह मात्र उन ही सावद्य कर्मोंको करना चाहता है जिनकी उसको आवश्यक्ता है व जिनके किये विना उसका धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थ सफल नहीं होसक्ता। इसलिये जिन कामोंसे अपना कोई प्रयोजन नहीं सधता उनमें दखल करके वृथा पापकर्मके बंधका भागी नहीं होता है। यही इस व्रतका प्रयोजन है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव सदा यह चाहता है कि वृथा संकल्प विकल्प करके आत्माको क्षोभित न किया जावे इसी लिये पांच प्रकार अनर्थदंडोंको टालनेका सदा ध्यान रखता है। यह विचारता है कि मैं स्वयं तो गृहस्थके झंझटमें पड़ा हुआ आरंभी हिंसादि कर्म करता हूं, मकान बनवाता हूं, पशु पालता हूं, परन्तु मैं निष्प्रयोजन दूसरोंको जिनका मन पापकारी हिंसादि कर्मोंपर नहीं है क्यों उपदेश दूं व पापकर्ममें लीन करूं जिससे वे पशुओंका क्लेशकारी वाणिज्यादि करने लग जावें व अनेक मकानादि बनवाने लग जावें। इस तरह पापोपदेशसे बचता है। वह यह विचारता है कि मेरेको प्रयोजन-वश बरछी, तलवार, बंदूक, जंजीर आदि प्राणीवधकारी शस्त्र आत्म व स्वसंबंधी व स्वदेश रक्षार्थ रखना पड़ते हैं, परन्तु मैं इन वधकारी शस्त्रोंको विना प्रयोजन किसीको मांगे न दूंगा क्योंकि वह मेरे शस्त्रोंके निमित्तसे न माळूम क्या अनीतिपूर्ण अनर्थ कर

डाले। नामवरीके लिये ऐसे हिंसाकारी शस्त्रादिको मांगे नहीं देता है, इस तरह हिंसादानसे बचता है। वह निष्प्रयोजन ऐसा मनमें संकल्प नहीं करता है कि कोई बांधा जावे, मारा जावे, छेदा जावे व परकी स्त्री हर जावे व धन चला जावे तो मैं बहुत राजी रहूं, इस तरह अपध्यानसे बचता है। वह यह भावना करता है कि मुझे ऐसी वार्ताएं या उपन्यास व कथाएं न सुननी न पढ़नी चाहिये जो परिग्रह व आरम्भमें ममता बढ़ा देवें, मिथ्यात्वभाव व कामभाव जगा देवें व क्रोधादि कषायोंकी तीव्रता करके मनको कलुषित कर देवें ऐसा विचार दुःश्रुतिसे बचता है। वह यह भावना करता है कि जितना आरम्भ अधिक होगा उतनी अधिक हिंसा होगी इसलिये बेमतलब मट्टी खोदता नहीं, पानी मुघाता नहीं, आग जलाता नहीं, पवन लेता नहीं व वनस्पति छेदन करता नहीं। इस तरह आलस्य व प्रमाद द्वारा वृथा आरम्भसे बचता हुआ प्रमादचर्याको टालता है। इस तरह पांच प्रकार अनर्थदंडोंको टालनेकी भावना करता हुआ इस गुणव्रतमें जो पांच अतीचार संभव हैं उनको भी नहीं लगाता है। वह कंदर्पके दोषसे बचता है जिसमें भंड वचन असभ्यवचन कहे जाते हैं। हास्यसे बहुधा लोग कुशीलके व तीव्रागके वचन बोलते हैं इससे वृथा पाप बंध होता है। वह कौत्कुच्य दोषसे भी बचता है जिसमें भंड वचनके साथ हास्यकारक परकी कुचेष्टा भी की जाती है। वह बहुत बकबक करके थोड़ीसी बातके लिये बहुत वागाडम्बर बढ़ाता नहीं इस तरह मौखर्य दोषसे बचता है। वह ज्ञानी विचारवान होता है इससे विना विचारे हुए मन वचन कायकी प्रवृत्ति नहीं करता है। विना प्रयोजन

विचारते हुए क्रिया करना वास्तवमें अनर्थदंड है जिसको असमीक्ष्य अधिकरण कहते हैं। वह भोग व उपभोगकी वस्तुओंको वृथा नष्ट नहीं करता। जितना भोजनपान चाहिये व जितना कपड़ा चाहिये व अन्य पदार्थ चाहिये उतना ही उनको काममें लेता है। यदि एक दफे भोजन कर लेनेपर दूसरी वारके लिये भूख नहीं है तो कभी पुनः भोजन नहीं करता। थोड़े कपड़ोंसे काम निकलता है तो अधिक कपड़ोंको नहीं लादता। इस तरह भोग उपभोगके अनर्थक्यके दोषको बचाता है। इन पांच प्रकारके दोषोंको घोर पापबंधकारक समझकर इनसे बचते रहनेकी भावना करता है। यह ज्ञानी जीव इस व्रतके विचारमें पुण्यबंधरूपी अपराध है ऐसा समझता है। बस, मनको फेरता है और यकायक शुद्ध आत्मभूमिमें मनको चलनेकी प्रेरणा करता है। जब मन आत्माकी स्वच्छ भूमिमें रमने लगता है, तब वहां ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, चारित्र, सवर, निर्जरा, मोक्ष, त्याग, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहत्व आदि साधु गुणधारी व्यक्तियोंका दर्शन होता है जिनसे बड़ी भारी शांति पाता है। फिर ज्योंही भेदविज्ञान मित्रकी संगति मिलती है वह मित्र स्वानुभूति नारीका दर्शन करा देता है। इस परम सुन्दर नारी रूपमें यह ऐसा मोहित होजाता है कि सर्व प्रकारका भ्रमण व हलनचलन छोड़कर उसीके साथ तन्मय होजाता है और तब जो आनन्द लाभ करता है, वचनसे कहा नहीं जासक्ता।

(१०)

व्रत प्रतिमा–सामायिक शिक्षाव्रत।

आज यह क्षायिकसम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव पांचवें गुणस्थानमें

कल्लोल करता हुआ व्रत प्रतिमाकी भावना भाता हुआ सामायिक शिक्षा व्रतपर विचार कर रहा है। इसको शिक्षाव्रत इसीलिये कहते हैं कि इस क्रियाका अभ्यास उस सामायिक चारित्रकी शिक्षा देता है जो मुनि अवस्थामें धारण किया जाता है। सामायिक शब्द समयसे बना है। समय नाम आत्मद्रव्यका है। जहां आत्मा संबंधी अनुभव हो, पर पदार्थोंसे जहां रागद्वेष न हो, समताभावकी छटाका प्रवाह हो उसको सामायिक कहते हैं। आत्मीक अनुभव ही सच्ची सामायिक है। इस सामायिक भावकी प्राप्तिके लिये व्रतीको कमसे-कम एक दफे, नहीं तो तीन दफे सवेरे, दोपहर व शाम एकांतमें निश्चित होकर ४८ मिनिट अभ्यास करना चाहिये। यदि इतना समय न देसके तो कम समय देवे तथा यदि किसी कारणसे किसी दिन न कर सके तो इस प्रतिमामें कोई क्षति नहीं है। सामायिककी गाढ़ रुचि पैदा करनी चाहिये। सामायिककी विधि यह है कि जितनी देरतक सामायिकमें रहे उतनी देरतकके लिये सर्व पदार्थोंका व सर्व स्थानोंका त्याग करदे सिवाय थोड़ासा अपना घिरा हुआ व कुछ चारों तरफका स्थान व सिवाय उन पदार्थोंके जो उस समय अपने शरीरपर होवें। प्रथम पूर्व या उत्तर मुखकी ओर खड़े हो नौवार णमोकार मंत्र जपकर दंडवत करके सामायिक स्वीकार करे, फिर उसी दिशामें खड़ होकर नौ या तीन दफे णमोकार पढ़कर तीन आवर्त व एक शिरोनति करे। जोड़े हुए हाथको बाईं ओरसे दाहनी ओर घुमानेको आवर्त व जोड़े हुए हाथोंपर मस्तक नमानेको शिरोनति कहते हैं। फिर दाहनी तरफ खड़े खड़े पलटकर पहलेके समान नौ या तीन दफे णमोकार मंत्र पढ़कर तीन

आवर्त व शिरोनति करे। ऐसी ही क्रिया शेष दो दिशाओंमें करके अर्थात् चारों तरफ पूज्यनीय व्यक्ति व स्थानोंको मन वचन कायसे वंदना करके पद्मासन या पल्यंकासन बैठ जावे। शांत भावसे कोई सामायिक पाठ पढ़े जिसका भाव समझमें आता हो। फिर अपने ही आत्माको परमात्मा तुल्य विचारता हुआ किसी मंत्र द्वारा जप करे, फिर पिण्डस्थ ध्यानकी धारणाओंको विचार करे अथवा अपने आत्माको निर्मल जलके समान विचार कर अपना मन डुबावे, यथाशक्ति ध्यान करे। आत्मामें लय होनेकी चेष्टा करे। सामायिकके समय शुभ या अशुभ पदार्थोंकी तरफ जो स्मरणमें आवें व देखने सुननेमें आवें रागद्वेष न करे। अन्तमें खड़े हो नौ दफे णमोकार मंत्र पढ़कर अंतिम दंडवत कर सामायिक पूर्ण की जावे। इस विधिको विचारता हुआ यह भावना भाता है कि यह सामायिक परम कल्याणकारिणी है। यद्यपि इस व्रत प्रतिमामें अतीचारोंके टालनेका पक्का नियम नहीं है तौभी यथाशक्ति इसके दोषोंसे बचनेका उद्यम करना चाहिये। मनमें अन्य अशुभ विचार न आने देना, वचनोंसे अशुभ वचन न कहना, कायसे कोई अशुभ चेष्टा व व्यापार नहीं करना अर्थात् मन वचन कायको सामायिकके ही काममें निरत रखना, उनको किसी अन्य व्यवसायमें न जाने देना। निरादर व निरुत्साहसे सामायिक करना यह दोष है इसको बचाना तथा सामायिककी विधि, पाठ व विचारको भूलना नहीं। ये दोष टाल्ने योग्य हैं। सामायिक शिक्षाव्रत मेरा परमोपकारी है ऐसी भावना करता हुआ यकायक सर्व विकल्पोंको त्यागकर यह ज्ञानी जीव छः द्रव्योंका मनन करते २ पुद्गल आदि पांच अजीव द्रव्योंको

पर समझकर उनसे चित्त हटा लेता है और अपने ही आत्माको स्वद्रव्य जानकर उस हीकी तरफ उपयोगयुक्त होजाता है। जब निज आत्मामें ठहरता है तब निश्चय मोक्षमार्ग वास्तवमें जाग्रत होजाता है। यही स्वानुभव है व यही सच्ची सामायिक है। इस स्वसवेदन रूप भावमें सर्व विचार बंद होजाते हैं तब यकायक आनंदामृतकी धारा उसी तरह आत्म प्रदेशोंसे बहने लगती है जैसे चंद्रकांतिमणिसे चंद्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे जल बहने लगता है। यह ज्ञानी जीव इस अमृतका पान करता हुआ जो तृप्ति पारहा है वह वचन अगोचर है।

(११)

व्रत प्रतिमा–प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत।

यह ज्ञानी आत्मा पाचवें गुणस्थानकी व्रत प्रतिमाकी भावना भाता हुआ आज प्रोषधोपवासका विचार कर रहा है। यह ज्ञानी मनन करता है कि एक मासमें चार प्रोषध दिवस या पर्व दिन होते हैं उनमें उपवास करना चाहिये। जहां पाचों इन्द्रियोंकी इच्छाओंको रोककर उन इंद्रियोंको धर्मके साधनमें जोड दिया जावे व अपने शरीरका सत्कार करनेकी दृष्टिसे स्नान न किया जाय, गंध न लगाई जाय, माला या आभरण न पहने जांय तथा चैत्यालयमें, प्रोषधोपवास घरमें व साधुओंके आश्रयमें व अन्य आत्म-मननको उपयोगी स्थानोंमें तिष्ठकर तथा व्यापारादि व भोजनपानादि व वाहन पर चढ़ने आदिके आरंभको त्यागकर धर्म सम्बंधी चिन्तवनमें, सामायिक भावमें, शास्त्रविचारमें, धर्मचर्चामें तथा श्री जिनेन्द्रकी पूजा आदि शुभ भावना संबंधी क्रियाओंमें अनुरक्त रहा जावे उसको प्रोषधोपवास कहते हैं।

यह उपवास दो प्रकारसे तीन तरह पाला जा सक्ता है। उपवासके पूर्व तथा उत्तर दिन एकभुक्त करे, १६ पहर धर्ममें लीन रहे, यह उत्कृष्ट है। जल मात्रकी छुट्टी रक्खे परन्तु १६ प्रहर धर्मध्यान करे यह मध्यम है। इसके सिवाय अष्टमी या चौदस जो उपवासका दिन है उसमें एकभुक्त नीरस या साधारण सरस आहार भी करे परन्तु १६ प्रहर धर्म-क्रियामें तत्पर रहे यह जघन्य है। जहां १२ प्रहर आरम्भ त्यागकर प्रोषध किया जावे यह भी मध्यम है व जहां भोजन पानका तो त्याग १२ प्रहर रहे परतु आरम्भका त्याग उपवासके दिन ८ प्रहर ही रहे, यह भी जघन्य है। जिसमें आकुलता न हो व मन आनदभावसे धर्म चिन्तन कर सके ऐसा विचार कर उत्तम, मध्यम व जघन्य तीनोंमेंसे कोई भी प्रोषध कर ले।

जैन शास्त्रोंमें शक्तितस्तपका माहात्म्य है, शक्तिके बाहर तप आदि करना आकुलता व सक्लेश भावका कारण है। इस प्रोषधोपवासको दोष रहित पालनेके लिये पांच तरहके अतीचारोंको बचाना उचित है। यद्यपि यह अभी इन धार्मिक व्रतोंका मात्र अभ्यास करता है। विना देखे वा विना मुलायम वस्त्रसे झाडे किसी भूमिपर मलमूत्र न क्षेपे न अन्य वस्तु रक्खे। विना देखे व विना झाडे पूजाके उपकरण, शास्त्र व वस्त्र आदि नहीं उठावे। विना देखे व विना झाड़े चटाई आदिका बिछौना नहीं बिछावे। क्षुधा तृषा लगनेपर भी उपवासमें अनादर भाव न लाकर आदरभाव रक्खे, उपवासके दिन प्रमाद भावसे धर्म क्रियाओंको नहीं भूले। इस तरह प्रोषधोपवासव्रत परम कल्याणका कारण है। यह शरीर, वचन, मन और आत्मा चारोंके दोषोंको व विकारोंको शमन कर-

नेवाला है, उनकी शक्तियोंको शुद्ध करनेवाला है, चारोंके बलोंको पुष्ट करनेवाला है, आत्मामें सुख शांति देनेवाला है, पापकर्मोंकी निर्जरा करनेवाला है, महान् पुण्यकर्मको उत्पन्न करनेवाला है।

इसको शिक्षाव्रत इसीलिये कहते हैं कि यह क्रिया वास्तवमें मुनिधर्मका जीवन है। मुनिगण उपवास नाम तपको बड़े ही प्रेमसे सतत करते रहते हैं। उनको दो चार दिनका उपवास कर लेना बाल खेलवत भासता है, ऐसे मुनिके प्रधान चारित्रकी शिक्षा श्रावक लेता रहता है इसीसे इसे शिक्षाव्रत कहते हैं। परिणामोंको निर्मल करनेका यह बड़ा उत्तम साधन है। इस विकल्पमें क्रीड़ा करता हुआ व इस विकल्पको पुण्यबंधका कारण जानता हुआ व पुण्यबंधको भी मोक्षमार्गमें बाधक मानता हुआ यह ज्ञानी जीव यकायक इन शुभ विकल्पोंको भी त्यागता है और अपने उपयोगको सर्व परसे छुड़ाकर जिस घरसे उपयोग उठा था उस घरमें ही उसे बिठा देता है। वह उपयोग जो पांच इन्द्रिय और मन इन छः खिड़कियोंके द्वारा बाहर २ सैर किया करता था अब निश्चिन्त हो अपने आत्माके पवित्र आनन्दमई ज्ञानमई घरमें विश्रांति लेता है। वहां आत्मानन्दमई अमृतका पान करता है, समताकी शय्यामें आराम करता है, स्वानुभूति तियासे विश्राम करता है तब जो अनुपम सुखशांति पाता है उसका वर्णन वचनोंसे हो नहीं सक्ता—उसे केवली जाने या वह अनुभवी व्यक्ति जाने।

(१२)

व्रत प्रतिमा—भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत।

यह ज्ञानी आत्मा आज पांचवें गुणस्थानकी व्रत प्रतिमामें

तीसरे शिक्षाव्रत भोगोपभोग परिणामव्रतका विचार कर रहा है। इस ज्ञानी जीवने उन पदार्थोंको भोगनेका तो त्याग कर दिया है जिनसे अधिक हिंसा होनेकी संभावना है जैसे मांस, मधु व प्रमादके हटानेके लिये सर्व मादक पदार्थोंका त्याग किया है। जिसमें स्वाद अल्प हो व अनंत एकेन्द्रिय जीवोंके प्राण पीड़े जावें ऐसे मूली, कंद आदि व केतकीके फूल आदिका त्याग कर दिया है तथा जो पदार्थ भक्षण करने योग्य भी हैं परन्तु रोगोंको उत्पन्न करते हैं उनको भी अनिष्ट जानकर इसने उनके खानेमें मुह मोड़ लिया है। जो पदार्थ देश कालानुसार निंद्य समझे जाते हैं उनको अनुपसेव्य समझकर नहीं ग्रहण करता है—जैसे अपनी समाजमें न व्यवहार होने योग्य बिस्कुट आदि व अन्य देशके योग्य वस्त्र भूषण आदि। जो एक दफे काममें आवें उनको भोग व जो वार वार काममें आवें उनको उपभोग कहते हैं। ऐसे भोग और उपभोगयोग्य पदार्थोंका यह नित्य सवेरे २४ घंटोंके लिये या अधिक व कम कालके लिये प्रमाण कर लेता है, तब जो प्रमाण किया है उसके बाहरके पदार्थोंमें अपनी इच्छाको नहीं चलाता है। वास्तवमें रागादि भावको कम करना यही इस व्रतका हेतु है।

इसको शिक्षाव्रत इसीलिये कहते हैं कि यहां यह नियमित भोगमें संतोष पानेका अभ्यास करता है जो अभ्यास साधु अवस्थामें सहकारी होगा, जहां भिक्षावृत्तिसे भोजन होगा और जो कुछ पदार्थ गृहस्थद्वारा प्राप्त होगा उसीमें यदि वह अशुद्ध नहीं है व जिसका विशेष रूपसे त्याग नहीं किया है उसको संतोषपूर्वक ग्रहण करना होगा। श्रावकोंको नियम धारनेकी सुगमतासे १७ वस्तुओंका नियम

प्रचलित है-(१) भोजन के दफे, (२) दूध, घी, दही, मीठा, निमक व तेल इन छः रसोंमें किसका त्याग किया, (३) भोजनके सिवाय पानी के दफे, (४) तेल विलेपन लगाना या नहीं, (५) फूल सूघना या नहीं, (६) ताम्बूल खाना या नहीं, (७) गाना बजाना सुनना या नहीं, (८) नृत्य देखना या नहीं, (९) ब्रह्मचर्य पालना है या उपभोगका नियम करना है, (१०) वस्त्र कितने जोड़ काममें लूंगा, (११) स्नान के दफे करूंगा, (१२) गहने कितने पहनूंगा, (१३) बैठनेके आसन कौन २ रक्खे, (१४) सोनेकी शय्याए कौन२ रक्खीं, (१५) वाहन सवारी कौन२ रक्खें, (१६) वनस्पति व फल कौन२ रक्खें, (१७) कुल खानेपीनेकी वस्तुओंकी संख्या क्या नियत की।

इन १७ प्रकारके नियमोंको करनेसे बहुतसा असयम दूर हो जाता है व मनमें सतोषकी प्राप्ति होती है। इस व्रतके अतीचारोंको भी बचाना योग्य है। श्री समन्तभद्राचार्यके अनुसार ये पांच हैं-(१) पांचों इन्द्रियोंके भोगोंको बार बार चिन्तवन करना, (२) इन भोगोंसे वैराग्य भावको न रखना, (३) भोगोंके भोगनेमें अतिलोलुपता रखना, (४) भोगोंकी तृष्णाको न घटावना, बढ़ाते रहना, (५) मर्यादासे अधिक भोगोंको भोगना।

श्री उमास्वामी महाराजके अनुसार पांच अतीचार हैं। इनमें तीन अतीचार इस अपेक्षासे कहे गए हैं कि किसी श्रावकने किसी दिन सचित वस्तु खानेपीनेका त्याग किया है अर्थात् एकेंद्रिय जन्तु सहित पदार्थोंके न लेनेका व्रत लिया है तो उनको ये दोष बचाने उचित हैं-(१) भूलसे सचित्तको खा लेना, (२) सचित्तसे

सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंका खाना जैसे केलेके पतेपर भोजन, (३) सचितको अचित्तमें मिलाकर खाना जैसे बीज सहित पके फल। चौथा अतीचार यह है कि जो भोजन काम भावकी तीव्रताको बढ़ानेवाला हो उसे ग्रहण करना। पांचवा दोष यह है कि जो भोजन कच्चा पक्का व कम पक्का व अधिक पक्का हो उसको ग्रहण करना। यह ज्ञानी यही भावना करता है कि मुझे इस नाशवंत शरीरकी रक्षा करनी है इसलिये जिस तरह यह घर बना रहे उस तरहके आवश्यक भोग व उपभोगोंको मैं काममें लूं व शेषका मैं त्याग करूं। इस तरहके विचारको भी पुद्गल सम्बन्धी व शुभ उपयोग रूप विकल्प समझकर यह ज्ञानी इसे बंधका कारण जानकर छोड़ देता है और परम समताके मनोहर बागमें रमण करनेके लिये सर्व पदार्थोंसे उन्मुख होकर एक अपने शुद्ध आत्माके अनुभवमें लग जाता है। पहले भेद विज्ञान द्वारा यह चिन्तवन करता है कि मैं तो सिद्धोंकी जातिका धारी हूं। निश्चयसे मैं ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अमूर्तीक परम पुरुष हूं। सदा अतींद्रिय आनंदका धारी हूं। रागादि सर्व प्रकारके विकारोंसे शून्य हूं, पुद्गलकी संगतिसे दूर हूं, कर्म और नोकर्मसे पृथक् हूं, परम वीतराग और परम शुद्ध आत्मद्रव्य हूं। ये सब कर्म व शरीरादि मुझसे भिन्न हैं। यद्यपि दूध पानीकी तरह जीव पुद्गलका मेला है तथापि दोनों भिन्न २ हैं इस तरह भेदज्ञानके द्वारा जब परका विकार छोड़कर आप अपनी आत्माकी भूमिकामें रमण करने लगता है तब जो स्वानुभव जनित आनंदका लाभ करता है उसका वर्णन कोई कर नहीं सक्ता।

(११)

व्रत प्रतिमा–अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत।

यह ज्ञानी महात्मा पांचवें गुणस्थानमें तिष्ठा हुआ दूसरी व्रत प्रतिमाका मनन कर रहा है। आज अतिथिसंविभाग नामके चौथे शिक्षाव्रतपर विचार कर रहा है। जो संयमकी रक्षा करते हुए भ्रमण करते हैं अथवा जिनको किसी खास तिथिमें उपवासादिका नियम नहीं है उनको अतिथि या साधु कहते हैं। उनके लिये अपने कुटुम्बार्थ बनाए हुए भोजनपानमेंसे विभाग करके देना सो अतिथि संविभाग है। इसको शिक्षाव्रत इसीलिये कहते हैं कि जो मुनियोंको विधि सहित दान करता है उसको स्वयं दान लेनेकी शिक्षा मिलती है। यह शिक्षाव्रत मुनि अवस्थाका पूर्व साधन है।

मुनि उद्दिष्ट आहारके त्यागी हैं इसी तरह ११ वीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक तथा ऐलक हैं। ये भी साधुके छोटे भाई हैं, वे साधुपदके उम्मेदवार हैं। इन तीनोंकी यह गाढ प्रतिज्ञा होती है कि स्वय आरंभ करना नहीं, दूसरेसे अपने लिये कराना नहीं, न आरम्भकी अनुमोदना करनी। जो कुछ ग्रहस्थने अपने लिये तय्यार किया हो उसीमेंसे देना गृहीका कर्तव्य है व उसीको सन्तोषपूर्वक लेना इन भिक्षावृत्ति–विरक्तोंका धर्म है। जो निर्ग्रन्थ साधु हैं व जन्मके बालकके समान यथाजात रूप हैं उनको उत्तम पात्र कहते हैं। ऐसे पूज्य महात्माओंको नव प्रकार भक्तिसे सम्पन्न होकर दान करना उचित है। (१) संग्रह–मुनिको आते हुए देखकर भक्तिसे कहना अत्र आहार पानी शुद्ध तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ। (२) उच्चस्थान–जब वे घरकी तरफ मुड़ें तब योग्य व ऊचे स्थानपर

बिठाना। (३) पादोदकम्-बैठ जानेपर उनके चरणोंको किसी पात्रमें धोना। (४) अर्चनं-फिर आठ द्रव्यसे अलग २ या एक साथ पूजन करना। (५) प्रणामं-फिर तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करना। (६) मनकी शुद्धि-मनमें सिवाय दानके दूसरे विकल्पोंको हटा देना। (७) वचनशुद्धि-मौनसहित रहना, आवश्यक्ता पड़नेपर योग्य मीठा वचन बोलना। दानके समय क्रोध, मान, लोभादिको झलकानेवाला वचन नहीं कहना। (८) कायशुद्धि-शरीरको स्नान कराके अशुद्ध उन, रेशम आदिके कपड़ोंको छोडकर शुद्ध सूतके वस्त्रोंको पहनकर मलमूत्रादिकी बाधासे रहित होना। (९) एषणाशुद्धि-भोजन शुद्ध बना हो, मुनिके निमित्त न बना हो। इन नौ प्रकारकी भक्तिसे दातारको प्रसन्नमुख होकर तथा सात गुण सहित होकर दान करना उचित है। (१) ऐहिक फलानपेक्षा-दानका यह फल न चाहना कि धनादि पदार्थोंकी प्राप्ति हो। (२) शांति, क्षमा व शांति भाव रखना। (३) निष्कपटता-कपटभाव न रखना, सरलतासे शुद्ध भोजन देना। मायाचारीसे अशुद्धको शुद्ध न कहना। (४) अनसूयत्वम्-दातारको इर्षा नहीं करना चाहिये। किसी उच्च दातारका तिरस्कार व अनादर भाव नहीं रखना चाहिये। (५) अविषादित्वं-किसी प्रकार शोक व रंज दातारके दिलमें न होना चाहिये। (६) मुदित्व-दातारका मन पात्र दानके समय हर्षसे भरा रहना उचित है। (७) निरहंकारित्वं-दातारको कभी यह अहंकार नहीं करना कि मैं कितना पुण्यवान हूं, साधु तो मेरे ही ऐसे घरोंमें आने योग्य हैं इस तरह सात गुणोंसे भूषित होकर दातारको भोजन दानके समय ऐसे

पदार्थ मुनि महाराजके हाथमें रखना जो राग द्वेष, संयम, मद, भय, तथा दुःखके होनेमें निमित्त न हों किन्तु सुतप व स्वाध्यायकी वृद्धिके कारण हों। मुनीश्वरको इसतरह दान देना। ऐलक व क्षुल्लककी भी ९ भक्तियोंमेंसे यथायोग्य भक्ति करना उचित है। इनके सिवाय मध्यमपात्र हैं वे सब श्रावक हैं जो पहले दर्शन प्रतिमासे लेकर दसवीं प्रतिमा तक व्रत पालते हैं। इनको भी धर्मात्मापनेकी भक्तिसे प्रेरित होकर यथायोग्य दान देना। ये सब मध्यम पात्र हैं। जो व्रत रहित हैं परन्तु सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धासे पूर्ण हैं वे जघन्य पात्र हैं। उनको भी यथायोग्य आदर सहित दान करना उचित है। करुणाबुद्धिसे प्राणीमात्रके कष्टोंको निवारण करना करुणा या दयादान है। प्राणी मात्रको आहार, औषधि, विद्या व आश्रय देना योग्य है। दानका बड़ा भारी फल होता है, लोभके त्याग करनेसे मन विशुद्ध रहता है। इस तरह इस शिक्षाव्रतकी महिमाको विचारते हुए यह श्रावक इस विचारको भी पुण्यबंधका कारण जानकर मोक्षमार्गमें हेय या त्यागने योग्य समझता है और निर्जराके कारण स्वानुभवको मुख्य कर्तव्य समझता है। इसलिये सर्व विकल्पों व वासनाओंको त्यागकर यकायक आत्माके सरोवरमें प्रवेश कर जाता है। वहांके शांत रसके जलमें क्रीड़ा करते हुए भवाताप व तृष्णाकी गर्मीको शांत कर देता है। उसी शांत जलमें जब विश्रांत पाता है तब परका अनुभव हटाकर स्वानुभवको प्राप्त कर लेता है। स्वानुभवके सुन्दर भावमें रमण करते हुए जो तृप्त व आनंद झलकता है उसका ज्ञान उसीको है जिसके दिलमें यह अनुभव कल्लोल करता है।

-यह आपको आप ही स्वानन्दका दान करके एक अद्भुत दातार बन रहा है।

(१४)

व्रत प्रतिमा–सल्लेखना।

यह ज्ञानी आत्मा आज श्रावककी दूसरी व्रतप्रतिमामें सल्लेखनाका विकल्प कर रहा है। यह सल्लेखना या समाधिमरणका व्रत १४ व्रतरूपी महलके लिये शिखरके समान है। एक दिन आयुकर्मके क्षय होनेसे एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायमें जाते हुए समाधिमरण ही बहुत बड़ा उपकारी मित्र है जो धर्मभावकी प्राप्तिके लायक साताकारी स्थितिमें इस संसारी जीवको लेजाता है। मरणके समय शुभ लेश्यासे ही शुभ गतिमें यह जीव जाता है इसलिये यह बहुत जरूरी है कि अन्त समय आर्तध्यान व रौद्रध्यान न हो किंतु धर्मध्यान हो–समताभाव हो–कषायोंकी अति मन्दता हो, आत्माके सन्मुख परिणाम हो, रत्नत्रयके भीतर रमा हुआ भाव निक्षेपरूप भाव हो।

श्रावक निरंतर यह भावना करता है कि समाधिभाव सहित मरण हो। भलेप्रकार कषायोंके कृश या कम करनेको कषाय सल्लेखना व कायके कृश करनेको काय सल्लेखना कहते हैं। जब ऐसा अनुमान होने लगे कि यह शरीर ऐसी आपत्तिमें फँस गया है कि कि इसका जीतव्य असम्भव है, इसके असाध्य रोग है, या अग्निके मुखमें प्रविष्ट है, या भयानक दुर्भिक्षमें आगया है या युद्धके मध्यमें कण्ठगत प्राण होनेवाला है या ऐसा जर्जर व निर्बल होगया है कि यह व्रतोंकी रक्षा करता हुआ जी नहीं सक्ता है तब जैसे एक चतुर

भण्डारी किसी अग्निके मध्यमें आजानेवाले भण्डारसे सब माल हटा लेता है व उस गोदामको खाली कर देता है उसी तरह ज्ञानी श्रावक अपने व्रतोंको जोखम न पहुंचे इस तरह उनकी रक्षा करता हुआ शरीरको त्याग देता है। यदि थोड़ी ही देरमें शरीरका वियोग निश्चित हो तब तो आजन्म आहारपानी त्यागकर ध्यानमें लवलीन होजाता है और जो ऐसा निश्चय न हो अथवा निश्चित समय अधिक हो तो धीरे२ आहारपानीका त्याग करता है। अन्न त्याग दुध रख लेता है, दूध त्याग छाछ रख लेता है, छाछ त्याग गर्म पानी रख लेता है। परिग्रहका व अन्नादि वस्तुका त्याग थोड़े २ समयके लिये भी कर लेता है जैसे—तीन घण्टेके लिये ६ घण्टेके लिये जिसमें आकुलता न बढ़े व चित्त समाधान रहे। इस तरह आहारपानका त्याग करता है तथा भीतर कषाय मंद रहे व धर्म-ध्यान बना रहे इसलिये धर्मात्माओंकी संगति रखता है। कमसेकम चार धर्मात्मा जीवोंको उचित है कि उसके धर्मध्यानकी व शरीरकी रक्षा करें। चारका होना इसलिये जरूरी है कि रात्रि दिन एक व दो जागते रहकर वारीवारीसे धर्मकी तरफ चित्त झुकानेको धार्मिक पाठ व चर्चा जो सुगम शांतिवर्द्धक हो उसे सुनाते रहें।

कोई२ श्रावक उस समय सर्व परिग्रह त्याग मुनि भी हो सक्ते हैं। तब पीछी कमण्डल मात्र रखते हैं व एक घासके सांथरेपर नग्न विराजते या लेटते हैं। परिणामोंमें मोह व शोक न आने पावे इसलिये स्नेही व कुटुम्बीजनोंको दुर रक्खा जाता है, मात्र वे दुरसे देख जासकते हैं। ऐसे समाधिमरण करनेवाले व्यक्तिको निर्दोष सल्लेखना व्रत पालना चाहिये। उसमें जो पांच अतीचार

सम्भव हैं उनको न लगाना चाहिये--(१) जीवित रहनेकी इच्छा करना कि मैं अधिक जीता रहूं तो ठीक है। (२) मरण करनेकी चाहना करना कि मैं जल्दी मर जाऊं तो ठीक है। (३) पिछले भोगे हुए भोगोंका बराबर याद करना। (४) पहलेसे जो शरीरके उपकारी मित्र थे उनके साथ प्रीति बताना। (५) आगामी भोगोंकी वांछा करना। इन पांच दोषोंको टालकर निर्मल सरल भावसे शांतभावमें लीन रहना सो सल्लेखना व्रत है। इस व्रतका विकल्प करता हुआ यह श्रावक इस विकल्पको भी बन्धका कारण जानकर उदास होजाता है और अपने आत्माके शुद्ध अमूर्तीक आनन्दमय स्वरूपके अवलोकनमें दत्तचित्त होजाता है। यह अपनी दृष्टि सर्व पदार्थोंसे हटाकर एक अपने आत्माके गुणोंके देखनेमें ही जोड़ देता है। इस आत्मदर्शनके होते हुए सर्व अनात्म चिंताए हट जाती हैं। देखते२ जब अधिक रत होजाता है तब इसको ऐसी एकाग्रता प्राप्त होजाती है कि फिर यह भान नहीं रहता है कि मैं देखनेवाला हूं व मैं किसीको देख रहा हूं। स्वरूपाशक्त होकर स्वानुभवका लाभ पाता है तब जो आनन्दका भोग करता है उसका वर्णन कोई अपने भावसे कर ही नहीं सक्ता। इस समय इसको जीवनमुक्त परमात्मा कहें तो कह सक्ते है।

(१५)
व्रत प्रतिमा।

एक ज्ञानी श्रावक ११ प्रतिमाओंमेंसे व्रतप्रतिमा सम्बंधी १२ व्रत और सल्लेखना व्रतकी भावना भाता हुआ चित्रलवृत्त होरहा है। यद्यपि मनमें वैरागी है तथापि प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे

गृहवासमें तिष्ठा हुआ धर्म पुरुषार्थको मुख्यतासे साधता हुआ अर्थ और काम पुरुषार्थके कर्तव्यको भी करता है। अभी इसको आरम्भी हिंसाका त्याग नहीं है। यद्यपि भावना ऐसी है कि जीव मात्रकी रक्षा हो तथापि उद्यमी, विरोधी, व गृहारम्भी हिंसाके व्यवहारसे सर्वथा बच नहीं सक्ता है। इसकी गृहीकी क्रिया वास्तवमें एक नाटकके खेलके समान इसको दिख रही है। यह गृह कार्य करता हुआ भी भावोंमें अकर्ता है। पांचों इन्द्रियोंके न्याययुक्त भोगोंको भोगता हुआ भी भावोंमें अभोक्ता है। यह जानता है कि आत्माका स्वभाव परभावोंके करनेका व परभावोंके भोगनेका नहीं है। जो द्रव्य है वह अपने ही स्वभावमें परिणमन करनेवाला है। जिसका जो परिणमन है वही उसका कर्तव्य है। वही उसका भोक्तृत्व है। जब मोहनीय कर्मोंके उदयसे इसका परिणमन राग, द्वेष, मोह, सहित होता है तब अशुद्ध निश्चयनयसे इसे राग द्वेष मोहका कर्ता तथा भोक्ता कह देते हैं। जब इन मलीन योगोंके व कषायोंके निमित्तको पाकर कार्मण वर्गणाए स्वयं कर्मरूप होकर आत्माके प्रदेशोंसे बंध जाती है तब ऐसा कहते हैं कि व्यवहारनयसे जीव कर्मोंको बांधनेवाला है। ज्ञानी गृहस्थ समझता है कि गृहस्थमें जो कुछ आत्म परिणमनके सिवाय कार्य करने होते हैं वे कार्य कषायरूपी नशेकी चेष्टाका फल है। यदि कषायोंका उदय न हो तो ऐसी जगतरूप चेष्टा भी न हो। यह लौकिक कार्योंको करता है और उनमें भी उन्नति करता है तथापि उस उन्नतिसे अपने निजकी वास्तविक उन्नति नहीं समझता है। व्यवहारमें इसे लोग व्यवहारकुशल व सत्यवादी व परोपकारी कहते है। वास्तवमें इसका सर्व व्यवहार

सत्यव्रतके अनुसार होता है। इसके व्यवहारसे जब पशुपक्षी भी कष्ट नहीं पाते तब मानवोंको कष्ट कैसे होगा। इसके भावोंमें दया और नीतिके सद्गुण कूट कूट कर भरे रहते हैं।

इसको धनके उपार्जनमें जितनी निराकुलता रहती है उतनी उस व्यक्तिको कभी नहीं होती जो असत्य और हिंसाभावके साथ धन पैदा करता है। यह गृहस्थ कभी कायर नहीं होता। जब कभी बदमाश चोर इसके मालपर हमला करते हैं तब यह अपने जान-मालकी भलेप्रकार रक्षा करता है, उनको भगाता है, डराता है तथा यदि वे किसी तरह नहीं भागते हैं तो शस्त्रद्वारा प्रहार करके उनको उनके अन्यायका मजा चखाता है। यह भीरू होकर भाग नहीं जाता है। यह समझता है कि यदि बदमाशोंको उचित शिक्षा न दी जायगी तो साधुओंका व गृहस्थोंका न तो धर्म साधन होसक्ता है और न उनके जीवन व मालकी रक्षा होसक्ती है, तब और अधिक हिंसा होगी व अदयाका प्रचार होगा। यह गृहस्थ सदा यह देखता है कि जिस कार्यमें लाभ अधिक है व हानि कम है उस कार्यको करनेमें हानि नहीं समझता है। यह दानी भी बहुत बड़ा है। यह जो कुछ कमाता है उसमेंसे आवश्यक भोजन वस्त्रादि-का खर्च करता है। शेष रुपया परोपकारमें लगाकर सफल करता है। अपनी स्थितिके अनुसार अधिक व कम आरम्भ करता हुआ व अधिक व कम परिग्रह पोटको सम्हालता हुआ यह सम्यग्दृष्टी जीव इस सर्व व्यवहारको बंधका कारण जान तजने योग्य समझता है। इसीलिये जब कभी अवसर पाता है इन सर्व विकल्प जालोंसे मन-को मोड़कर केवल एक अपने ही शुद्ध आत्माकी तरफ झुक जाता

है। उधर झुकते हुए ही उसकी पांचों इन्द्रियां और मन अपना कार्य करना बंद करदेते हैं। बस यह बड़े वेगसे स्वात्माकी निर्मल असंख्यात प्रदेशमई भूमिमें विश्राम करता है। वहां विश्राम करना ही वास्तवमें निश्चय रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। वहां कल्लोल करना ही स्वात्मानुभूतितियासे रमण करना है। वहां स्थिति पाना ही अपने घरका राज्य प्राप्त करना है। वहां बैठना ही जगतके धन्धोंसे छुट्टी पालेना है। वहांका निवास मानों साक्षात् मोक्षका वास है। न वहां विषयभाव है न कषायभाव है न वहां ज्ञाता ज्ञेयका विकल्प है। वहां मात्र निर्विकल्प शांत अमृतका धारावाही प्रवाह है।

(१६)

सामायिक प्रतिमा।

यह ज्ञानी अही दूसरी व्रत प्रतिकाके चारित्रको पालता हुआ तथा अन्तरंगमें आत्मध्यानके अभ्यासको बढ़ाता हुआ तथा आत्मीक आनन्दके स्वादकी अधिक चाह करता हुआ तीसरी सामायिक प्रतिमामें प्रवेश करता है और यह भावना करता है कि मुझे प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, तथा सायंकाल तीनों समय एकांतमें बैठकर सामायिक शिक्षाव्रतको पालना चाहिये। तथा हरएक कालमें दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनटसे कम सामायिकमें न लगाना चाहिये। यदि कोई कारण विशेष हो तो ४८ मिनटसे कुछ कम अन्तर्मुहूर्त भी सामायिक की जासक्ती है। इस तीसरी श्रेणीमें तीनों संध्याओंके समय सर्व कार्य छोड़कर आत्माकी भावना करनी उचित है। यह ज्ञानी सामायिकके समयको ध्यानमें लेता हुआ क्षेत्र एकांत व निराकुल ढूंढ़ता है तथा जब सामायिक प्रारम्भ करता है तब यह भाव

जमाता है कि इस समय मेरा कोई शत्रु नहीं है न कोई मेरा मित्र है। इस समय में सर्व अनात्मा सम्बधी क्रियाओंसे निवृत्त होकर एक आत्माके ही गुणपर्यायोंमें रमण करता हू, समताभावमें जम जाता हू, रागद्वेषको त्यागता हू, रागद्वेषके उत्पन्न करनेवाले कारणोंको पाकर भी समताभाव रखता हू, यदि कोई अशुभ व शुभ नाम सामायिकके समय सुन पड़ें तो उसमें रागद्वेष नहीं करता है यह नाम सामायिक है। यदि कोई शुभ या अशुभ मूर्तियें सामायिकके समय स्मृतिमें आजावें तो उनमें कुछ ध्यान न लगाना सो स्थापना सामायिक है। शुभ व अशुभ द्रव्य किसी इद्रियके विषयमें या मनकी स्मृतिमें आजावें तो रागद्वेष न करना यह द्रव्य सामायिक है। शुभ या अशुभ गुण किसी द्रव्यके ध्यानमें आजावें तो उनमें कुछ भी ममत्व व ग्लानि न करना सो भाव सामायिक है।" सामायिक करते हुए उस बैठे हुए क्षेत्रकी व अन्य किसी क्षेत्रकी मनोज्ञता अमनोज्ञता पर चित्त विक्षेप न करना सो क्षेत्र सामायिक है। सामायिकके समय ऋतु सुहावनी व असुहावनी होनेपर भी उनमें रागद्वेष न करना सो काल सामायिक है। सामायिक प्रतिमाधारी सामायिकके समय मुनिवत् शांत और अवैर होजाता है। यदि कोई कष्ट दे व गालियां सुनावे या प्रहार करे तो प्रयोगकर्ता पर द्वेष नहीं लाता है। उस समय इसने अपने आत्माको ही अपना घर माना है। इससे यह घरकी रक्षा बड़े प्रयत्नपूर्वक क्रोध मान माया लोभादि शत्रुओंसे करता है। इस समय यह मानो भाव साधु ही है। इस समय इसने व्यवहार नयको गौण कर निश्चय नयका आश्रय लिया है। व्यवहारिक सामायिक सम्बंधी विकल्पोंको प्रति-

क्रमण, प्रत्याख्यान, स्तुति, बन्दना आदिको त्यागकर अब यह असली सामायिकमें आरूढ़ होता है। निश्चयनयका आश्रय लेते ही जगतकी विचित्रता बुद्धिसे निकल जाती है और सर्व जीव एका-एक शुद्ध चेतन्यमई परम वीतरागी दीखने लग जाते हैं। पुद्ग-लादि पांच द्रव्य भिन्न२ दिखते हैं, तब यह स्वानुभव पानेके लिये अन्य सर्व आत्माओंसे अपना उपयोग हटाता है और आप आप ही अपने आत्माकी निर्मल शुद्ध भावरूपी भूमिमें जम जाता है। इस भूमिमें बैठते ही सर्व भवाताप शमन होजाता है। ज्योंही द्वैतकी कल्पना हटती है और अद्वैतका आत्मभाव जागृत होता है त्यों ही स्वानुभव जग जाता है और आनन्दामृतका अपूर्व स्वाद आने लगता है। इस स्वादको लेता हुआ प्राणी ही सच्चो सामा-यिकका स्वामी होता है और इसके इस समताभावसे बहुतसे कर्मोंकी स्थिति घटती, पापकर्मका अनुभाग शमन होता तथा पुण्यकर्मका अनुभाग शमन होता तथा पुण्यकर्मका अनुभाग बढ़ता है। स्वरूपा-चरण चारित्रकी जो बहार आती है उसका वर्णन कोई कर नहीं सक्ता।

(१७)

प्रौषधोपवास प्रतिमा ।

क्षायिकसम्यग्दृष्टी श्रावक ११ प्रतिमाओंमेंसे तीसरी प्रतिमातकके व्रतोंका अभ्यास करके चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमामें प्रवेश करता है। अब मनमें दृढ़ संकल्प करलेता है कि १ मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चार पर्वोंमें अवश्य प्रोषधोपवास करूंगा। उपवास एक तप है जिसे शक्तिके अनुसार ही करना योग्य है। जिसमें भाव हर्षयुक्त उत्साहित रहें, संक्लेशभाव चित्तमें न आवे। इसी-

लिये श्रावकाचारोंमें उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य तीन प्रकारका यह प्रो-षधोपवास बताया गया है। अभ्यास कर्ता अपने शरीर व मनकी शक्तिको देखकर जैसा सम्भव हो वैसा करे। इस ज्ञानीने इस अ-भ्यासको बडी प्रीतिसे प्रारम्भ करदिया है। यदि अष्टमीका उपवास करना होता है तो यह कभी सप्तमीके दोपहरसे व कभी सध्यासे व कभी अष्टमीके प्रात:कालसे सर्व गृहारम्भका त्याग करदेता है। जितनी देरके लिये प्रोषध करता है उतनी देरके लिये अपना राज्य-पाट व्यापार कृषि आदि सर्व आरम्भ किसी दूसरेके ऊपर छोड़ देता है, आप मानों स्वय उस सर्व गृहारम्भसे निश्चिन्त होजाता है।

यदि यह राज्य करनेवाला है व प्रोषधके दिनमें ही शत्रुने आकर आक्रमण किया तो अपने साम्यभाव व धर्मध्यानसे चलाय-मान न होगा तथापि इसके राज्यमें कोई अपबन्ध न होगा। जिस-को इसने प्रोषधोपवास धारनेके पहिले अपना स्थानापन्न प्रबन्धकर्ता नियत करदिया था वह सब राज्यप्रबन्ध करेगा। यदि आवश्यक्ता होगी तो उस प्रबन्धकको प्रोषधके दिन युद्ध भी करना पडेगा। श्रावकोंके चारित्रकी अवस्था इसी तरह होसक्ती है। यदि वह श्रावक अपने आरम्भ त्यागके अवसरमें दूसरेको प्रबन्धक न बनावे तो शत्रुद्वारा दलित होजावेगा। प्रोषधोपवासी अपने आधीनका वह काम जिसको वह बन्द कर सक्ता है बन्द करदेगा परन्तु जो काम मात्र उसीहीका नहीं है किंतु जिसके साथ अनेक व्यक्तियों-का सम्बन्ध है उसके लिये अन्य प्रबन्धक नियत करलेगा। एक कृषक उपवासके दिन स्वयं न खेती करेगा न खेती करावेगा परन्तु खेतकी रक्षार्थ अवश्य किसीको नियत करदेगा। यदि चोर

डाकुओंने हमला किया तो प्रबन्धकको खेतकी रक्षा करनी होगी।

यह प्रोषधोपवासी सर्व तरह निश्चिन्त होकर यहांतक कि शरीरकी भी चिन्ता छोड़कर मात्र एक अपने आत्मराममें रमण करनेका ही दृढ सङ्कल्प करके उसका ही उद्योग करता है। त्रिकाल सामायिकके सिवाय जो समय बचता है उसमें थिरतासे ग्रन्थालोकन करता है। धर्मबुद्धि मानवोंके साथ धर्म चर्चा करता है, श्री जिनमन्दिरमें जाकर श्री जिनेन्द्रकी अष्ट प्रकारी पूजा करता है—यह पुरुषार्थी अपने उपवासके समयको प्रमाद व आलस्यमें नहीं खोता है। इसके परिणामोंमें यह भावना है कि आज इसके मन, वचन, कायने लौकिक कार्योंसे छुट्टी ले लीहै अब इनका काम मात्र पारमार्थिक उद्योगमें ही वर्तन करना है। यह ज्ञानी कभी २ आध्यात्मिक शास्त्रोंकी घंटों स्वाध्याय करता हुआ आत्मरसका पान करता है। संसार असार है, शरीर अपवित्र व नाशवंत है, इन्द्रिय भोग पराधीन, क्षणभंगुर व अतृप्तिकारी है ऐसा निश्चय रखता हुआ नित्य सत् चित् आनन्दमई अपने आत्मस्वभावमें विश्वास रखता हुआ उपयोगको आत्माकी गुणावलीमें रमानेका ही उद्यम करता है। यह एकान्तमें बैठकर सर्व परद्रव्य, परगुण व पर पर्यायोंसे उन्मुख हो जाता है और व्यवहारनयकी दृष्टिको भी गौण कर देता है। मात्र निश्चयनयसे देखना प्रारम्भ कर देता है तब इसके ज्ञानमें अपूर्व चमत्कार दिखता है। सर्व छहों द्रव्य अलग२ अपनी२ सत्ताको रखते हुए व अपने२ शुद्ध गुण पर्यायोंमें मस्त दिखाई देते हैं। न वहां कोई पूज्य रहता है, न पूजक रहता है, न ध्येय रहता है, न ध्याता रहता है, न तीर्थंकरका भाव है, न इन्द्र पूजकका भाव

है, न कोई स्वामी है, न कोई सेवक है, न कोई मातापिता हैं, न कोई पुत्र है। सर्व आत्माएँ एकरूप परमानन्दमई परम ज्ञानदर्शन व वीतरागतामें ओतप्रोत दिखलाई पडती हैं। इनमें भव्य अभव्यकी व सिद्ध संसारीकी भी कल्पना नहीं होती। इस तरह देखते हुए सर्व आत्माओंको अपने समान शुद्ध पाते हुए यह समता नदीकी लहरोंमें मज्जन करने लगता है और फिर सबसे वैराग्वान हो अपने आप हीमें ऐसा मस्त होजाता है कि निश्चयनयका विकल्प भी छूट जाता है। वास्तवमें एक ऐसे अध्यात्म स्थानपर पहुंच जाता है जहां सिवाय आनन्दलाभके और कुछ विचार रहता ही नहीं।

(१८)

सचित्तत्याग प्रतिमा।

यह ज्ञानी श्रावक ११ प्रतिमाओंमेंसे चौथी प्रतिमा तकके नियमोंका भलेप्रकार पालन करके पांचमी प्रतिमाके नियमोंको भी स्वीकार करता है। इस प्रतिमाको सचित्त त्याग प्रतिमा कहते हैं। इद्रियोंके विषयोंको जीतनेको उद्यमी यह श्रावक अपनी इच्छाको कम करता है और इस बातका प्रण करता है कि मैं किसी भी सचित्त अर्थात् जीवसहित पदार्थको अपनी बुद्धिके अनुसार व शास्त्रकी रीतिके अनुसार जानकर भक्षण नहीं करूंगा। मात्र उन पदार्थोंको ही खाऊंगा जिनमें एकेन्द्रिय जीव भी नहीं हैं। इस श्रेणीमें आरंभका त्याग नहीं है। यहांका श्रावक अभी अपनी आजिविकाके साधन कृषि वाणिज्य आदि करता है तैसे ही गृहके आरंभोंको भी करता है जसे—पानी भरना, कपड़े धोना, रसोई बनाना आदि— यह श्रावक सचित्त पदार्थको अचित्त कर सक्ता है तथा सचित्तको

खानेके सिवाय नहाने धोने आदिमें भी व्यवहार कर सक्ता है। इसके मात्र सचित्त आहार करनेका त्याग है। इसके परिणामोंमेंसे वह स्वछन्द व निरर्गल प्रवृत्ति निकल गई जिससे यह कच्चे पानीको यकायक पीलेता था या किसी फल आदिको यकायक मुंहमें लेलेता था। अब यह प्राशुक पानी ही पीवेगा व सचित्तको अचित्त दशामें ही खाएगा। कोई सचित्त एकेन्द्रिय वनस्पति आदि सूखनेसे, पकनेसे, गर्म किये जानेसे, खटाई निमक आदि कषायले द्रव्यके मिलानेसे या यत्र द्वारा छिन्न भिन्न किये जानेसे अचित्त या प्राशुक होसक्ती है। निरर्गल प्रवृत्तिमें इंद्रिय भोगकी इच्छा भी अधिक थी तथा एकेन्द्रिय सचित्तका घात भी अधिक होता था। यहां विचाररूप प्रवृत्ति हो जानेसे इंद्रिय संयम व प्राणसंयम दोनों प्रकारके संयम किसी अंशमें अधिक पलते हैं। अब वनस्पति आदिका उतना घात नहीं करता जितना पहले करता था। इस श्रावकके परिणामोंमें दया कूटकूट कर भरी है। यह तो ऐसी भावना करता है कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणिका घात न हो तथा न मेरे भावोंमें इंद्रिय वासना ही प्रवर्ते परन्तु प्रत्याख्यानावरण कषायोंके उदयसे यह पूर्ण संयमी नहीं होसक्ता। यह संयमा-सयमी, देश सयमी, या कुछ संयमी तथा असंयमी है। जितने अंश इसके इंद्रियसंयम व प्राण-संयम है उतने अंश संयमी व जितने अंश ये दोनों सयम नहीं हैं उतने अंश असयमी है। यह निरर्थक किसी प्राणीको कष्ट देना नहीं चाहता है। यह एकेंद्रियोंका व्यवहार भी प्रयोजनभूत ही करता है। यह सचित्तसे अचित्त भी उतना ही वस्तुओंको करता है जिसके विना इसका काम नहीं चलसक्ता है। जिनमें अनन्तकायी

जीव हैं ऐसी वनस्पतिको जहांतक सम्भव हो जिह्वा इन्द्रियके रागादिवश अचित्त नहीं करता है। औषधी आदिके प्रयोजन वश किसी जडको, पत्तेको, कन्दको, फूलको, या बीज आदिको सचित्तसे अचित्त कर लेता है। इस अनिवार्य हिंसामें भी इसको उदासीनता है परन्तु रागके अतिमन्द न होनेसे इस आरम्भी हिंसाको त्याग नही सक्ता है। यह संयमासंयमी परिमित भोगोको करता हुआ व जिह्वा इंद्रियके स्वादको यथा सम्भव रोकता हुआ अपना जीवन यथाशक्ति अहिंसापर चलता हुआ विताता है। यह पचम प्रतिमा-धारी श्रावक बाहरमें व्यवहार चारित्रकी इस तरह उन्नति करता हुआ मुख्य ध्यान अन्तरग चारित्र पर रखता है। प्रतिदिन त्रिकाल सामायिकके सिवाय भी समय निकालता है। जिस समय सर्व आकु-लताओंके कारण पुद्गलद्रव्यके सयोगको अपनी बुद्धिसे भुलाकर एक निज आत्माके द्रव्य गुण पर्याय पर ही लौ लगा देता है। यद्यपि दूध पानीकी तरह आत्मा और अनात्मा मिले हुए हैं तथापि हंस-वत् पानी समान अनात्माको त्यागकर दूध सम एक अपने निज आत्माको ही ग्रहण कर लेता है। वास्तवमें आपको कुछ ग्रहण करना नहीं है। आप तो परम पवित्र आत्माराम है ही परन्तु उसमें जो राग अश पर पदार्थोंको अपनाता था उस राग अंशसे इसने राग छोड़ दिया है। यह दूध समान पवित्र अपने ही आत्माका वारवार दर्शन करता हुआ उस ही दूध समान आत्माके परम स्वानुभूतिमय आनन्द रसका पान करता है। विचार करके देखो तो यह सचित्तके भोगका त्यागी होकर भी अचित्तको नहीं भोगता है किन्तु सचित्त पदार्थ निज चेतनका ही भोग करता है और इस भोगमें ऐसा

आसक्त होगया है कि इसे महान लोभी कहें तो कोई हर्ज नहीं है।

(१९)

रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा।

ज्ञानी आत्मा पांच प्रतिमाओंके नियमोंको भले प्रकार साधन करता हुआ छठी प्रतिमामें प्रवेश करता है। इस प्रतिमाका नाम रात्रिभुक्तित्याग है। यहां अन्न, पान, स्वाद्य, और लेह्य चार प्रकारके भोजनका सर्वथा त्याग होजाता है। अब वह ऐसे दर्जेमें जाता है जहां वह न स्वयं रात्रिको भोजन करता है न दूसरोंको कराता है। खाने पीनेके विकल्पोंसे ही छूट जाता है। इस प्रतिमाका धारी रात्रिको सर्व प्रकार आहारकी चिंतासे ही अपनेको अलग रखता है। अभी वह आरम्भी गृहस्थ है। इसके आधीन कुटुम्ब है, पशु आदि हैं उन सबकी सम्हालका प्रबन्ध अपने ऊपरसे उतार कर दूसरेके आधीन करदेता है। वह रात्रि सम्बन्धी सर्व भोजन व्यवहारसे स्वयं निश्चिन्त होजाता है। यह किसीको भी यह कह देता है कि मुझे कोई भी रात्रिको खानपान सबन्धी कोई बात न कहे न मैं किसीका प्रबन्ध करूगा। रात्रि सम्बन्धी खान-पानादि आरम्भ करने करानेका मुझको त्याग है। इस सम्बन्धमें तुम लोग जो उचित समझो सो प्रबन्ध करना। उसकी स्त्री व पुत्र जिनको इस प्रतिमाका नियम नही है वे यथोचित सर्व प्रबन्ध करेंगे। बीमारोंको चारा देंगे, पशुओंको चारा देंगे, कोई अतिथि ऐसे आए जो रात्रिको पानी आदि लेते है उनका सत्कार करेंगे परन्तु यह ज्ञानी आत्मा सर्व चिंताओंसे अपनेको छुड़ा कर मानो १८ घण्टेके लिये उपवासी होजाता है। जैसे उपवासमें आरम्भक

त्याग होता है वैसे वह भोजन सम्बन्धी आरम्भका त्यागी होजाता है। रात्रिको भोजन सर्वथा स्वयं न करनेका पक्का नियम इसी दरजेमें होता है। यद्यपि दयावान गृहस्थ पहली दर्शन प्रतिमामें ही ऐसा अभ्यास डालता है कि दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट दिन रहते हुए ही पानी आदि भी लें तथापि यदि किसी गृहस्थकी ऐसी अवस्था हो कि रात्रिको पानी औषधी व अन्य किसी प्रकार त्याग नहीं कर सके तोभी वह अन्य पतिमाओंके नियम पाल सक्ता है। वह लाचारीसे रात्रिको अति आवश्यक्तानुसार लेते हुए भी पाचमी प्रतिमा तकके नियम पाल सक्ता है। जब छठी प्रतिमामें प्रवेश करेगा तब उसे नियमसे रात्रिको चारोंही प्रकारका आहार नहीं करना होगा। यदि पहले हीसे विलकुल त्यागका ही नियम होता तो इस प्रतिमाका नाम रात्रिभुक्ति त्याग न होता और न श्री स्वामी समतभद्राचार्य नीचेके श्लोकको स्पष्ट करते—

अन्नं पानं स्वाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥ १४१॥

भावार्थ—जो प्राणियोंमें दयावान मनधारी है वह रात्रिको अन्न, पान, स्वाद्य, लेह्य चारो ही प्रकारके भोजनको नहीं खाता है वही रात्रिभुक्तिविरत है। और भी कई श्रावकाचारके खुलासा करनेवालोंका यही अभिप्राय झलकता है कि इस प्रतिमाके धारणके पहले यदि रात्रिको कुछ न लेवे तो बहुत उत्तम है परन्तु यदि किसी कारणवश सर्वथा न छोड़ सके तथा छोड़नेका अभ्यासी हो तो भी उसे इस दरजेमें तो छोड़नाही पड़ेगा। इस तरह इस छठी प्रतिमाको समझ कर यह श्रावक जीवदयासे वासित होकर इस प्रति-

माके नियममें पक्का होजाता है और रात्रिको भी धर्मध्यान व आत्मचिंतवनके लिये समय निकालता है ।

वास्तवमें इस सम्यग्दृष्टिको अपने आत्माके उपवनमें कल्लोल करना ही सर्व जगतके कार्योंकी अपेक्षा अधिक रुचिकर भासता है । यह खूब समझता है कि बाहरी चारित्र समय व शक्तिको परद्रव्योंके प्रपंचमें उलझनेसे बचाकर आत्मचिंतवनके लिये उपयुक्त करानेमें सहकारी होता है । अब यह एकान्तमें बैठ जाता है और अपने शरीरकी भी चिन्ता मेट देता है । अन्य आत्माओंका भी विचार छोड़ देता है । अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परम गुरुओंकी भक्तिको भी त्याग देता है । अब तो यह अपने ज्ञानोपयोगको जो अनेक ज्ञेयोंमें उलझकर रागद्वेषोंमें फसा हुआ था एक अपने आत्माके ही आगनमें रमाता है । वास्तवमें ज्ञानोपयोग स्वात्माके रमणमें ऐसा घुल जाता है कि उस ज्ञानीके भावोंमें ऐसी एकाग्रता आजाती है जिससे उसे आत्माके भीतर भरे हुए अतीन्द्रिय आनन्दका अपूर्व स्वाद लगता है । इस आत्मस्वादमें लवलीन होता हुआ यह ज्ञानी ऐसा संतुष्ट व उन्नतिपथपर आरूढ है कि इसका वर्णन करना वाणीके अगोचर है ।

(२०)
ब्रह्मचर्य प्रतिमा ।

यह ज्ञानी गृहस्थ ११ प्रतिमाओंमेंसे छठी प्रतिमाका अभ्यास करके यह विचारता है कि स्त्री संसर्ग जीवनकी शक्ति तथा संयमको बहुत कुछ नष्ट करता है । स्त्री संसर्गका मोह ही आत्माकी शुद्धिके अभ्यासमें बाधक है । अबतक मैंने स्त्री प्रसंगमें रहकर बहुत कुछ

संकल्प विकल्प किये, अब मैं अच्छी तरह अनुभव कर चुका हूं कि स्त्री सम्भोग कभी भी चाहकी दाहको शमन करनेवाला नहीं है। मेरे आत्मानुभवके मननमें अच्छी मदद मिलेगी, यदि मैं मन, वचन, कायसे स्त्री संसर्ग त्यागकर ब्रह्म भावमें रत रहूं, भले प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत पालूं। ऐसा विचार कर सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमामें पदार्पण करता है। अभी इसकी स्त्री जीवित है उसके चार पुत्र दो पुत्रियां हैं, यह अपनी स्त्रीसे कहता है कि हमने शरीर संसर्गसे पुत्र पुत्रीरूपी फल उत्पन्न कर दिये हैं, अब हमें और तुम्हें इस कामवासनाका परित्याग कर देना चाहिये और सतोष भजना चाहिये। आजसे मैं तुम्हें अपनी सगी बहिन समझुंगा व तुम मुझे सगा भाई समझना। इस तरह स्त्रीको संतोषित करके यह अपने घरके बाहर एक एकान्त कमरेमें अपना शयन आसन रख लेता है। अभी इसने आरम्भ व परिग्रहका त्याग नहीं किया है। यह त्रिकाल सामायिक करता हुआ कुटुम्बकी रक्षा व आजीविकाके साधनको भी देखता है परन्तु इसकी वृत्ति बहुत ही सतोषमई होगई है। इसकी व्यवहारकी प्रवृत्ति दया और परोपकृति कूट कूटकर भरी है। इसने ब्रह्मचर्यकी रक्षाके हेतु २४ घण्टेमें दिनमें एक दफे खानेका अभ्यास डाला है, गरिष्ट कामोत्तेजक पदार्थोंसे परहेज कर लिया है। दूसरी वार कभी फल व दूध लेता है। पानी यथावश्यक दिनमें कईवार लेता है। इसने अपना भेष भी बदल डाला है। अब यह ऐसे सादे कपडे पहनता है व इस ढंगसे रहता है कि देखने वाले इसे वैरागी समझ लेते हैं। यह भलेप्रकार ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये पांच भावनाओंको भाता है।

(१) स्त्रियोंमें राग बढ़ाने वाली कथाओंको कभी नहीं सुनता है (२) स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको रागभावसे नहीं देखता है (३) पूर्व भोगे हुए भोगोंको स्मरण नहीं करता है (४) कामोद्दीपक आहार पान नहीं करता है (५) अपने शरीरका श्रृंगार नहीं सजाता है। जिन २ निमित्तोंसे कामका विकार पैदा हो उन २ निमित्तोंसे दुर भागता है। यह ज्ञानी सदा सदाचारी, ज्ञानी वृद्ध पुरुषोंकी संगतिमें बैठता है, रागवर्द्धक मेलोंमें व संगमोंमें शामिल नहीं होता है। इसके भावमे अब सम्पूर्ण स्त्रियां माता बहन व पुत्रीके समान दीख रही हैं। इसने बहुतसा काम अपने पुत्रोंके आधीन कर दिया है। आप देख भाल करता है। इसलिये वर्षमें कईकई मास इसलिये निकाल लेता है कि बाहर भ्रमण करके साधुओंकी संगति करे, तीर्थस्थानोंमें वास करे व देशाटन करके धर्मका प्रचार करे।

यह इतना निरभिमानी तथा उदास है कि यदि कोई श्रावक-गृहस्थ भक्तिपूर्वक निमंत्रण करता है तो स्वीकार कर लेता है। इसमें वह अपनेको और दातारको दोनोंको धर्म लाभ मानता है। इस बाहरी ब्रह्मचर्यके प्रतापसे वीर्यकी शक्तिको चमकाता है तथा तन्दुरुस्त बना रहता है। इस ब्रह्मचर्यको अन्तरंग आत्मीक ब्रह्मचर्यके बिना मात्र शरीररक्षक जानकर यह ब्रह्मरूप निज आत्माके ध्यानका विशेष उद्यम करता है। इसलिये अब यह ७वीं प्रतिमा सम्बन्धी विकल्पका त्याग कर केवल एक ब्रह्मस्वरूप निज आत्मामें प्रवेश करता है। वहां ऐसा अवकाश है कि उसके ज्ञानमें यह सर्व जगत समा रहा है तथापि ऐसे २ अनन्त जगत हों तो भी समा सक्ते हैं। ऐसे विशाल ज्ञान दर्शनमय आत्माके भीतर प्रवेश

करके स्वानुभूतिकी शय्या पर लेट कर विश्रांति लेता है । तब एकायक समता वधू आती है और परम प्रेमसे आलिंगन करती है, तब इसे जो स्वात्मानन्द आता है वह अपूर्व है तथा इसके जन्मको सार्थक करनेवाला है ।

(२१)

आरम्भ त्याग प्रतिमा ।

यह ज्ञानी श्रावक सातमी प्रतिमा तकके नियमोंको पालता हुआ परम संतुष्ट होरहा है परन्तु आरम्भका त्याग न होनेसे इसको आजीविका सम्बन्धी व गृहस्थ सम्बन्धी आरम्भमें अपना मन वचन काय लगाना पडता है । यह नियम है कि जब कोई ध्यान करनेके लिये विचार करने बैठता है तब जिन कार्योंमें उसका चित्त उलझ रहा था उनकी स्मृति आजाती है और यह स्मृति सकल्प विकल्प पैदा करके ब्रह्मके अनुभवमें बाधक होती है । ऐसा समझकर यह ज्ञानी अपने पुत्रोंको कहता है कि मेरी प्रतिज्ञा की हुई इतनी परिग्रहसे मेरा ममत्व है, तुम अपने परिग्रहके आप स्वामी हो व जिम्मेदार हो तथा आजसे मैं अपनी आजीविका सबन्धी समस्त विकल्प त्यागता हूं। न मुझे खेतीसे मतलब न व्यापारसे न राज्यपाटके प्रबन्धसे न किसी शिल्प कार्यसे न किसीकी सेवकाईसे । मैं अब उतना ही परिग्रह या सम्पत्तिमें संतोषी रहूगा जिनको मैंने परिग्रहप्रमाण व्रतमें रक्खा था, अब मैं नया कुछ न कमाऊंगा । दूसरे मैंने रसोई पानीके आरंभ करने करानेसे भी दिल हटा लिया है । मेरी स्त्री या तुम या अन्य कोई जो मुझे शुद्ध भोजनके वास्ते कहेगा मैं संतोषसे जो मिलेगा सो जीम लूंगा। आरम्भका मैंने आज

इसी लिये त्याग किया है कि आरम्भमें ही हिंसा करनी पड़ती है। अबतक मैं नियमसे संकल्पी हिंसाका त्यागी था, आरम्भी हिंसासे बचानेका यथासंभव यत्न था परन्तु आजसे आरम्भी हिंसाको भी त्यागता हूं। मैं न अब किसी सवारीपर चढ़ूंगा न कोई काम धंधेका विकल्प करूंगा। धर्मसाधनको ही मैंने मुख्य ध्येय बनाया है। इस तरह यह सर्व प्रकारका आरम्भत्यागकर बड़ा ही संतोषी होगया है। जो कुछ परिग्रह है उसको भी त्यागनेके ही परिणाम हैं। वास्तवमें जो श्रावककी इस आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमाको धारण करता है वह ज्यादा दौड़ धूपके विकल्पसे हट जाता है। यदि देशाटन करके उपदेश करनेके भाव होते हैं तो ऐसे जिलेमें पैदल घूमता है जहा पास२ ग्रामोंमें जैन साधर्मी भाई रहते हों। अब यह भूमि देखकर दिनमें चलता है। रात्रिको कदाचित् चलना पड़े तो प्रकाशमें चलता है, अन्धेरेमें नहीं चलता है। इसके ये भाव हैं कि मेरे निमित्तसे कोई जतु त्रस या स्थावर बाधाको न प्राप्त हो। इसके मनमें दूर दूरकी यात्राकी भी उत्सुकता नहीं रही है। आत्म-ध्यानको अपने जीवनका मुख्य ध्येय बनाकर यह वास्तवमें अपने ही आत्माको सच्चा देव, अपने ही आत्माको सच्चा गुरु तथा अपने ही आत्माको सच्चा तीर्थ समझता है। जहां इसका मन आत्माके मननमें लगता है वहां ही यह ठहरना अपने लिये उपयोगी समझता है। इसको यह लालसा नहीं है कि मैं दूर२ क्षेत्रोंकी यात्रा करूं। सम्मेदशिखर या गिरनारजी अवश्य ही जाऊं—यदि भ्रमणमें किसी तीर्थयात्राकी वंदनाका अवसर आजाता है तो यह वंदना कर लेता है। इसको व्यवहार धर्मकी आकुलता नहीं है। यह अपने

व्यवहार चारित्रके नियमोंमें भलेप्रकार सावधान है। संतोषी इतना है कि स्वयं किसी वस्तुके तय्यार करनेके लिये नहीं कहता है। हां! यदि कोई विशेष नियम त्यागका होता है तो बता देता है। इस तरह बड़े ही संतोषसे कभी घरमें रहता हुआ, कभी देशाटन करता हुआ यह आत्माका मनन कर रहा है। आरम्भत्याग प्रतिमाको मैं ठीक ठीक पालूं ऐसा विचार करते२ यह अब इस विचारकी श्रेणीको लांघता है और ऐसे स्थानपर पहुचता है जहां मन, वचन, कायका विकल्प ही नहीं है। वह स्थान अपना मनोहर परम शुद्ध आत्मस्थल है जहां न कोई वर्ण है, न गंध है, न स्पर्श है, न कोई राग है, न द्वेष है, न आस्रव है, न बंध है, न वर्ग है, न वर्गणा है, न स्पर्द्धक है, न वहा जीवसमास है, न गुणस्थान है, न मार्गणा स्थान हैं, न वहा शुभ न अशुभ भाव हैं और न भावोंकी चढ़न उतरन है। वह एक शुद्ध स्थान सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय अमूर्तीक असंख्यात प्रदेशी अविनाशी स्फटिक सम चमक रहा है। यह ज्ञानी इसी स्थानमें विश्राति ले परम आनन्दका लाभ लेरहा है।

(२२)

परिग्रह त्याग प्रतिमा।

सम्यग्ज्ञानी आत्मा आठमी प्रतिमाके नियमोंको पालता हुआ यद्यपि आत्मध्यानका अभ्याम अधिक बढ़ा रहा है तथापि परिग्रहका ममत्व परिणामोंमें बाधक है ऐसा समझ कर परिग्रह त्याग नाम नौमी प्रतिमा या श्रेणीमें पदार्पण करता है। इसका प्रत्याख्यानावरण कषाय मद होता चला जारहा है। यह अब अपनी सर्व सम्पत्तिको ध्यानमें लेकर जो कुछ सन्तानोंको देनी होती है देदेता

है और शेष परिग्रह जैनधर्मकी उन्नतिमें अथवा आहार, औषधि, अभय तथा विद्यादानमें, यथावश्यकीय धर्म और परोपकारके कार्यमें व्यय होनेका प्रबन्ध कर देता है। मेरापना जो इसके दिलमें स्थावर व जंगम सम्पत्तिसे था सो बिलकुल निकल जाता है। यद्यपि सम्यक्तकी अपेक्षा तो यह बिलकुल ममत्व रहित था तथापि चारित्रकी अपेक्षा ममता सहित था। अब चारित्र मोहके घटनेसे वह इस ममताको भी त्यागता है, अपने घरमें रहना भी छोड़ता है। किसी धर्मशाला या नशियांमें ठहरता है। अपने पास रुपया पैसा रखनेका त्याग कर देता है। यथावश्यकीय थोडे वस्त्र व खानेपीनेके लिये एक दो तीन वर्तन रख लेता है। शेष कुछ वस्तु अपने पास नहीं रखता है। बड़े संतोषसे अपने जन्मके नगरमें या देशाटनमें भ्रमण करता है। यह आरम्भका त्यागी है इसलिये यह पैदल चलता है। इसके मनमें देश भ्रमणका व तीर्थयात्राका मोह नहीं रहा है। यदि सुगमता व संतोषसे विहार करते हुए कोई तीर्थ निकट आजाता है तो बड़ी भक्तिसे उस क्षेत्रके द्वारा महान पुरुषोंके गुणोंको स्मरण कर अपने जन्मको कृतार्थ मानता है। यदि कोई तीर्थयात्राका सहज ही निमित्त न मिले तो वह इस यात्राके लिये कोई प्रकारकी आकुलता नहीं करता है न स्वयं किसी प्रकारके गृहस्थोंके संघ चलानेकी प्रेरणा करता है। यह परम संतोषी है। जो कोई भी धर्मात्मा गृहस्थ भक्ति पूर्वक निमंत्रण करता है उसके यहां बड़े संतोषसे जो मिले उसे लेकर संयमकी रक्षार्थ मात्र उदरका पोषण करता है। रसास्वादकी तृष्णाको इसने दमन कर दिया है। इसको अपने समयके सदुपयोगका बड़ा भारी ध्यान है।

यह इस बातका अभ्यास करता है कि रात्रिको बहुत अल्प निद्रा ली जावे। लेटे २ हुए भी यह वैराग्यकी भावना भाता है। इसका मन संसारके पदार्थोंसे बहुत ही उदासीन है, तथापि धर्मकी प्रभावनाके लिये यह सदा उत्सुक रहता है। समय पाकर यह श्रावकोंको धर्मोपदेश देता है। उनको धार्मिक आचरण व परोपकारके लिये उत्तेजित करता है। शास्त्रोंको बड़े गौरसे पढ़ता है। धर्म बुद्धि व परोपकार वर्द्धक लेख व पुस्तकोंको लिखता है। यद्यपि यह शुद्धोपयोगका प्रेमी है परन्तु अपने उपयोगको अधिक काल तक शुद्ध भावमें ठहरानेके लिये असमर्थ होकर इसको लाचारीसे शुभोपयोगके भीतर रमण करना पड़ता है। जब यह शुभोपयोगमें रहता है इसके परिणामोंके भीतर जगत मात्रके प्राणियोंका हित वर्तता है। यह सर्व प्राणियोंसे मैत्रीभाव रखता है। गुणवानोंकी तरफ प्रमोदभाव रखके उनके गुणोंकी प्राप्तिकी भावना भाता है। संसारमें जो मानव व पशु आदि किसी प्रकारके क्लेशसे पीड़ित हैं उनके दुःखोंके निवारणका भाव करके उनपर दया बुद्धि रखता है तथा जो असमान विचार व विरोधपरिणतिके हैं उनकी तरफ माध्यस्थभाव रखता है। अपने पदके अनुकूल जगत मात्रके प्राणियोंके हितार्थ उद्यम करता है। नौमी प्रतिमाका विकल्प करता हुआ यह अब इस विकल्पको भी त्यागकर निर्विकल्प होना चाहता है क्योंकि यह समझता है कि जितना कुछ बाहरी चारित्र है वह मात्र निश्चय चारित्रके लियेही है। यह बाहरी चारित्रके विकल्पमें रहता हुआ भी स्वरूपाचरण चारित्रका ही आशक्त रहता है। जब अवसर मिलता है सर्व पर पदार्थोंसे हटकर अपने निज स्वरूपमें

पहुंच जाता है । इसके अन्तरंगमें यद्यपि प्रत्यक्ष आत्मदर्शन केवलज्ञानीकी तरह नहीं है तथापि भावश्रुतज्ञानकी श्रद्धाके अनुसार आत्मस्वरूपका एक चित्रसा खिंचा हुआ है । ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय अमूर्तीक असंख्यातप्रदेशी अपने शरीर प्रमाण आकारका धारी मैं आत्मा हूं, इस भावमें जब यह उपयोगको रमाता है तब अद्भुत आनन्द पाता है और परम संतोषी होता हुआ अपने जन्मको कृतार्थ करता है ।

(२३)

अनुमति त्याग प्रतिमा ।

ज्ञानी आत्मा नौमी परिग्रह त्याग प्रतिमाके व्रतको भले प्रकार निर्वाहता हुआ, अब दसमी अनुमतित्याग प्रतिमाको धारनेकी दृढ़ भावना कर रहा है । अभीतक यदि कोई इसकी संतान व अन्य कोई सांसारिक कार्योंके लाभ या हानिके सम्बन्धमें सम्मति पूछते तो यह हानि व लाभ बता दिया करता था-तथा इस प्रपंचमें उसका उपयोग उलझ जाया करता था । जैसे यदि कोई पूछता कि अमुक व्यापार करें व नहीं, अमुक देशमें जाना ठीक है व नहीं व अमुक मिठाइयां बनाना व नहीं, अमुक ऋतुमें अमुक कृत्य करना चाहिये या नहीं, अमुक आदमीको रुपया उधार देना या नहीं, अमुकके साथ साझेमें व्यापार करना या नहीं तो यह उदासीन भावसे हानि व लाभ मात्र बता देता, यह नहीं कहता कि तुम अमुक कार्य करो ही करो।

अब इस दसवीं प्रतिमामें यह इस अनुमति दानके विकल्पको बिलकुल छोड़ देता है । और फिर यदि कोई ऐसी सलाह पूछता है तो वह मौन ग्रहण कर लेता है। वास्तवमें लौकिकजनोंसे वार्ता-

लाप सो भी सांसारिक कार्य संबन्धी सो अवश्य उपयोगको उतनी देर जितनी देर सासारिक कार्योंकी चर्चाकी तरफ सन्मुख हुआ जाता है विकल्पमय व चंचल तथा धर्मध्यानसे दूरवर्ती बना देता है। जैसे वाहरी परिग्रह धन धान्यादि अंतरंग परिग्रह जो मूर्छा उसका निमित्त कारण है वैसे लौकिक कार्योंका विचार रागद्वेष उत्पन्न करनेमें निमित्त कारण है।

अब इस दसमी श्रेणीमें यह सिवाय धर्म व परोपकार कथाके और किसी प्रकारकी कथा नहीं करता है। यद्यपि स्वानुभवमें रहना ही प्रशसनीय है परन्तु यह अवगाहन बहुत अल्पकालके लिये होना संभव है अतएव गुणस्थान मार्गणाके विचारमें कर्मोंके बंध उदय सत्तामें मुनि व श्रावकधर्मके चारित्रमें, तीर्थंकरादि महान पुरुषोंके चारित्रोंमें उपयोग उलझाया जाता है यह शुभोपयोग है। सासारिक पदार्थोंमें लगा उपयोग राग वर्द्धक है व द्वेषमूलक है परन्तु शास्त्रीय चर्चामें रमा हुआ उपयोग यद्यपि शुभोपयोग है तथापि वीतराग परिणामरूपी शुद्धोपयोगके उत्पन्न करनेका कारण है। यह श्रावक शुद्धोपयोगका ऐसा रसिक होजाता है कि इसे वास्तवमें शुभोपयोग भी अच्छा नहीं लगता है किन्तु आत्मबलकी कमीसे इनका उपयोग अधिक समय तक परम सूक्ष्म पदार्थके ऊपर ठहर नहीं सक्ता है। इसलिये यह मध्यम श्रेणीमें रहता है। यदि शास्त्र मनन व धर्मचर्चा व परोपकार भावमें उपयोग न ठहराया जावे तो यह उपयोग तुरत अशुभोपयोगमें रम जाता है। इस कारण इस ज्ञानी श्रावकका सारा समय इस तरह विभाजित रहता है कि अशुभोपयोगको पैदा होनेका अवसर ही नहीं मिलता है। यह सवेरे ४॥

या ५ बजे उठकर सामायिकमें लग जाता है। दो घड़ी या ४ घड़ी जहांतक सूर्योदय होकर अपनी किरणावलीको न फैलावे सामायिक किया करता है, फिर कंठस्थ ग्रन्थोंका पाठ करता है, पीछे नवीन ग्रन्थका स्वाध्याय करता है व निमित्त मिलनेपर श्रावक श्राविका-ओंको धर्मोपदेश देता है पश्चात् शौच क्रियासे निवटकर हाथ पैर स्वच्छ कर लेता है, कभी बहुत ग्लानि हुई तो स्नान कर लेता है फिर श्री मंदिरजी जाकर दर्शन करता है वहीं कुछ शास्त्र देखता है। जब समय भोजनका होता है अर्थात् १० या १०॥ बजे तब ठीक मंदिरसे निकलता है। द्वारपर खड़े हुए श्रावक राह देखा करते हैं। जब यह निकलता है तब जिस किसी श्रावकने इसका कमंडल या शौचादिके लिये जल ग्रहण करनेके पात्रको उठा लिया उसीके पीछे२ चलता है और उसके घर जाकर बैठकर बड़ी शांति व संतो-षसे मौनपूर्वक जो वह थालीमें धरे और वह प्रतिज्ञाके प्रतिकूल न हो तो उसे ग्रहण करलेता है। भोजन करके श्रावक श्राविकाओंको उपदेश देकर नियम करता है। फिर स्वस्थानपर आकर कुछ आराम लेकर दोपहरकी सामायिक २ या ४ घड़ी करता है। फिर किसी ग्रन्थका सम्पादन करता है। यदि कोई शिष्य पढ़नेको आवे तो पढ़ाता है अथवा कोई मित्र धर्मचर्चाको एकत्र हों तो धर्मचर्चा करता है। संध्याको शौचको खुले स्थानमें जाता है फिर एकान्त -स्थलमें बैठकर दो या चार घड़ी संध्याको सामायिक करता है। रात्रिको शास्त्रोपदेश देता है व धर्मचर्चा करते२ सो जाता है। राजा प्रजा देशके कल्याणार्थ कोई योग्य उपदेश हो तो उसे भी समय पाकर कह देता है और जनताको सुयोगमें चलनेका निमित्त

होता है। इस तरह यह श्रावक अपना समय बिताता है, अल्प निद्रा लेता है–लेटे२ भी तत्वका मनन करते रहता है। दसवीं प्रतिमाके स्वरूपकी भावना करते करते यह इकदम उन विकल्पोंके जालोंके ऊपर उठ जाता है और एक परम शांत सुख–समुद्र अपने ही आत्माके प्रेममें मगन होजाता है। जहां यह मगन हुआ सब विचार छूटा, सब विकल्प हटा, सब तर्क वितर्क परे रहा, प्रमाण नय निक्षेपका झगड़ा न रहा। इस प्रेममें द्वैतभाव ही मिट जाता है। अद्वैत एक आप ही आपको भोगता है। इसकी यह मगनता इसके आत्माको पवित्र करनेवाली है व शनैः शनैः मोक्षगतिकी तरफ लेजानेवाली है।

(२४)

क्षुल्लकव्रत–उद्दिष्ट ११ वीं प्रतिमा।

तत्वज्ञानी आत्मा श्रावककी दस प्रतिमाओंके नियमोंको भले प्रकार साधन करके अब ग्यारहवीं प्रतिमाकी तरफ झुकता है और क्षुल्लकके नियमोंको पालनेकी भावना करता है। इसके मनमें विशेष वैराग्यने अपना स्थान जमा लिया है, यह शरदी गरमीके सहनेका भी बहुत अभ्यास कर चुका है इससे यह अब सब वस्त्रोंको त्याग देता है केवल मात्र १ कोपीन और एक ऐसी चादर रखता है जिससे पूर्ण अंग न ढके। यदि मस्तक ढके तो पग खुला रहे, पग ढके तो मस्तक खुला रहे। इसका प्रयोजन यह कि इसके अंगको शरदी गर्मी डांस मच्छरकी बाधा सहन करनेका अभ्यास होजावे, क्योंकि इसकी भावना यह है कि मैं परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ रूपका धारी हो जाऊं। यह विशेष दया पालनेके लिये कोमल उपकरण

अर्थात् मोरके पंखकी पीछी रखता है जिससे हरएक वस्तुको झाड़कर उठाता है, झाड़कर रखता है, जमीन झाडकर बैठता है। यह मुनियोंके संगमें या दो तीन क्षुल्लकोंके संगमें रहकर श्रावककी सर्व पूर्व प्रतिमाओंमें कही हुई क्रियाओंको पालता है। अष्टमी चौदसको नियमसे उपवास करता है। यह मन, वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदनासे आरम्भका त्यागी है। यह नहीं चाहता है कि इसके निमित्त बनाया हुआ भोजन इसे ग्रहण करना पड़े। यह उद्दिष्ट आहारका त्यागी है, इसीसे इसको सक्तोदिष्टः ऐसा श्री अमितगति महाराजने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामें कहा है—"पात्रं उद्देश्य निर्मायतम् उद्दिष्टः स च असौ आहारः उद्दिष्टाहार· तस्मात विरतः" पात्रके लिये जो बनाया जावे वह उद्दिष्ट आहार है उससे यह क्षुल्लक विरक्त होता है। ग्रहस्थोने जो आहार अपने कुटुम्बके लिये बनाया है उसीमेंसे दिया जानेपर भिक्षावृत्तिसे यह लेता है। यह भिक्षाके लिये निकलता है तब गृहस्थके आंगनतक जाता है, वहां खड़ा हो धर्मलाभ कह मौनसे कुछ देर खड़ा रहता है। यदि गृहस्थने भक्तिसे पड़गाह लिया तो ठीक नहीं तो दूसरे घरमें जाता है। यदि लाभ न हो तो समभाव रखता है। कोई क्षुल्लक एक ही घर आहारका नियम रखते हैं वे तो एक ही घर जो उन्हें भक्तिसे दिया जायगा उसे बैठकर थालीमें या हाथमें खालेते हैं। बहुत ही संतोष रखते हैं। जिस क्षुल्लकको एक ही घरका नियम नहीं होता है, वह एक भोजन संग्रह करनेका पात्र भी रखता है, थोड़ा२ भोजन उस पात्रमें रखवा लेता है। जब भूखभर होजाता है तब अन्त घरमें प्रासुक

पानी ले जीम लेता है और उस भोजनके पात्रको स्वयही धोकर साफ करता है।

दोनों ही प्रकारके क्षुल्लक होते है। यह क्षुल्लक केशोंके बढ़ने पर कतरनी या छुरीसे अपनी मूछ, दाढ़ी व सिरके बालोंको निकलवा लेते हैं। क्षुल्लक बडे सरल स्वभावी होते है। केवल सयम पालनेके हेतु ही शरीरकी रक्षा चाहते है और शरीरकी रक्षाके लिये आहार ग्रहण करते हैं। वे जिह्वाके स्वादवश भोजन नहीं करते है। ऐसे क्षुल्लक दिनमें एक ही दफे भोजन पान लेनेका अभ्यास रखते हैं, जिससे मुनिके सयमका अभ्यास हो। यह निरन्तर धर्मध्यान, स्वाध्याय व यथावसर धर्मोपदेश करते रहते हैं। कब साधुका चारित्र पाल सकूगा ऐसी उच्च भावनाको रखते हुए यह ज्ञानी श्रावक ग्यारहवी प्रतिमाके विकल्पोंको भी बन्धका कारण जानता है। इसलिये निर्जराके हेतु मात्र निज आत्मभूमिमें ही विश्राम करना चाहता है। यह अपने उपयोगको जो मनके नाना विकल्परूप तरगोंमें व्यापक था एकाएक हटाता है और जहासे उपयोगकी उत्पत्ति होती है उसीमें इसे विठा देता है, तब यह उपयोग अपने स्वामी आत्मामें ऐसा आसक्त होजाता है कि स्वामीसेवकका उपयोग और उपयोगवानका, गुण और गुणीका कोई विचार नहीं रहता है। वास्तवमें वचन अगोचर भावमें तन्मय होकर अतीन्द्रियआनन्दके विशाल अनुपम स्वादमें ऐसा उन्मत्त होजाता है कि इसे दुनियां पागल समझती है, पर यह स्वरूप संवेदनके नशेमें चूर हो अदभुत स्थितिको दिखा रहा है।

(२५)

ऐलक व्रत—११ वीं प्रतिमा।

ज्ञानी आत्मा क्षायिक सम्यक्तकी विभूतिसे संपन्न श्रावककी उद्दिष्ट त्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमाके नियमोंका अभ्यास करता हुआ क्षुल्लकपदकी क्रियाओंमें पूर्ण निष्णात होगया है। क्षुल्लकपदमें ऐसी चद्दर पहनता था जिससे शरीरका कुछ भाग खुला रहे। इस खुले भागको शरदी गरमी सहनेकी आदत पड जानेसे इस आत्मज्ञानीको यह विश्वास होगया है कि यदि मैं वस्त्रको न रक्खू तब भी मैं शरदी आदिको सहन कर सक्ता हू। ऐसा सोचकर उत्कृष्ट श्रावककी वृत्ति अर्थात् ऐलकके चारित्र धारनेकी भावना करता है। श्री गुरु (जिन मुनी) की शरणमें जाकर वस्त्रका भी त्याग कर देता है परन्तु लंगोट रखलेता है, क्योंकि इसके भावोंमें अभी लज्जाका विजय नहीं हुआ है। यह ऐलक श्रावक पहले कही हुई सब क्रियाओंको पालता है तथा मुनियोंके चारित्रका यथाशक्ति अभ्यास करता है। यह बहुत ही उदासीन है। यह भिक्षाके समय जाता है। जो कोई पड़गाह लेता है वहा एक ही दफे अपने ही हाथमें आहार पानी बैठ करके ले लेता है। यह नियमसे अपने केशोंको अपने ही हाथोंसे उखाड़ता है अर्थात् केशलोंच करता है। इसके भावोंमें रातदिन मुनिपद धारनेकी भावना रहती है। यह ऐलकपदमें भी मुनिके समान काष्ठका कमण्डल रखता है, रात्रिको मौन रखता है व विशेष ध्यानका अभ्यास करता है। जहातक एक लंगोटका भी परिग्रह है वहांतक श्रावककी संज्ञा कहलाती है। यह ऐलक अष्टमी व चौदसको उपवास करना नहीं त्यागता, किंतु विशेष

औरभी उपवास किया करता है। इसके स्वात्मानन्द रसका पान अत्यन्त दृढ़तासे होता है। इसके प्रत्याख्यानावरण कषाय बहुत ही मंद होगई है। इस ऐलकको एकान्तवास बहुत प्रिय होता है। एकान्तमें ही अधिक तिष्ठता है। आत्म मननकी बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि रखता है।

इसने श्रावकके देश व्रतको मानो पारकर लिया है, यह आर्य कहलाता है। जैसा पंडित आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें कहा है–"तद्वत् द्वितीय किन्त्वार्यसंज्ञो लुंचत्यसौ कचान्" अर्थात् जैसा क्षुल्लक होता है वैसा ही दूसरा होता है जिसको आर्य कहते हैं। यह केशोंका लोच करता है। इसी दरजेके व्रतोंको पालनेवाली, केशोंको लोच करनेवाली, बैठके ऐलकके समान हाथमें आहार करनेवाली स्त्री आर्यिका कहलाती है। ग्यारह प्रतिमा तकके व्रतोंको व एक देश चारित्रको श्रावक व श्राविकाएं दोनों पाल सक्ते हैं। आर्यिकाके भी प्रत्याख्यानावरण कषायका अत्यन्त मंद उदय होता है। श्रावकाचारमें जो जो व्रत व क्रियाएं श्रावकोंके लिये हैं वे ही सब श्राविकाओंके लिये हैं। अन्तमें इतना ही अन्तर है कि आर्य एक लंगोट रखते हैं जब कि आर्यिका एक साड़ी रखती है। आत्मोन्नतिके मार्गपर चलनेवाला यह आर्य बहुत ही शान्त है। निरन्तर आत्म-भावनामें रत है। व्यवहार चारित्रकी भावना भाते हुए अब यह निश्चय स्वरूपाचरणकी ओर सन्मुख होता है और यकायक शुद्धनयका आलम्बन लेता है। तब इसके भावोंमें सर्व ही सिद्ध व सर्व ही संसारी आत्माएं किसीके बिना भेद भाव एकरूप सिद्ध भगवान्‌के समान परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टादि दिखलाई

पडती है । ध्याता ध्येयका विकल्प मिटता है । मैं आर्य हूं, श्रावक हूं यह बुद्धि भी जाती है । अब तो यह शुद्धात्मानुभूतिके लिये तैयार होकर अपने उपयोगको सर्व अन्य ज्ञेयोंसे रोक करके निज आत्माके ही भीतर प्रवेश करता है । जैसे कोई मानव किसी फाट-कके द्वारा एक रमणीक परम शात बागमें पहुच जाय व उसकी शोभाके देखनेमें लथपथ होजावे वैसे यह महात्मा आत्माके परम मनोहर उपवनमें क्रीडा करता हुआ कभी आत्मद्रव्यको, कभी आत्मके किसी गुणको व किसी पर्यायको देख २ कर रमता हुआ अद्भुत आनन्दकी कल्लोलोंके मध्यमें पड़ा हुआ आत्मानुभूतिके नशेमें चूर होरहा है और जिस सतोषको पारहा है उसका कथन वचनोंसे नहीं हो सक्ता है ।

(२८)

देश विरत ।

क्षायिकसम्यग्दष्टी आत्माने व्यवहार चारित्रके द्वारा निश्चय चारित्रकी उन्नति पहली प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रति-मातक की है । वास्तवमें आत्मानुभवकी थिरता और निर्मलताकी उन्नतिको ही उन्नति कहते है । विचार करके देखा जावे तो आत्माका स्वभाव मोह और कषाय–कालिमासे रहित है । जब २ जिस मोह या कषायका अनुभाग झलकता है तब २ उस अनुभा-गकी प्रगटताके साथ आत्माके भावको भी तद्‌रूप कहदिया करते हैं कि आत्मा क्रोध भावरूप है, मानभाव रूप है या माया भाव-रूप है । जैसा कि श्री समयसारजीमें कहा है–

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोउवजुत्तो हवदि लोहो ॥१३०॥

अर्थात्–यह ही आत्मा क्रोधसे उपयुक्त होकर क्रोधी, मानसे उपयुक्त होकर मानी, मायासे उपयुक्त होकर मायावी तथा लोभसे उपयुक्त होकर लोभी होजाता है। चारित्रकी उन्नतिके अर्थ यह हैं कि कषायका मद २ अनुभाग उदयमें आना। पचम गुणस्थानके होते हुए अनन्तानुबन्धी कषाय और अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका तो उपशम होजाता है अर्थात् उदय रहता ही नहीं। प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कषाय तथा नौ नोकषायका उदय रहता है। इनका अनुभाग जितना २ घटता जाता है उतना २ देशचारित्र गुणरूप वीतरागताका अश बढ़ता जाता है। ११ वीं प्रतिमामें अत्यन्त मंद उदय प्रत्याख्यानावरणका होजाता है तब चारित्र भी पंचम गुणस्थान सम्बन्धी अधिक ऊंचा होजाता है। आत्मानुभव करनेवाला श्रावक क्योंकि सम्यग्दृष्टी है व सम्यज्ञानी है इससे उसको आत्माके स्वभावका सच्चा श्रद्धान व सच्चा ज्ञान है। तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टीका श्रद्धान व ज्ञान तो सब श्रावककी प्रतिमाओंमें प्रयोजनभूत तत्वोंके तथा मुख्यपने आत्माके स्वभावके ज्ञान व श्रद्धानकी अपेक्षा समान है।

यदि कदाचित् ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमविशेषसे क्षायिकसम्यग्दृष्टी होते हुए भी ज्ञानमें वृद्धि हरएक प्रतिमामें होती चली जावे तब भी क्षायिक सम्यक्तकी अपेक्षा सर्व प्रतिमाओंमें समानता है। इसलिये आत्माके स्वरूपके अनुभवमें श्रद्धान अपेक्षा समानता रहती है तथा ज्ञानकी अपेक्षा समानता व वृद्धिपना दोनों रह

सक्ता है परन्तु चारित्रकी अपेक्षा कषायोंकी प्रति प्रतिमा प्रति मंदता होते २ वीतरागता बढ़ती रहती है। इस कथनका भाव यह हुआ कि जब यह श्रावक किसी भी प्रतिमामें अपने उपयोगको सब तरफसे खींचकर आत्माके सन्मुख करता है तब उसको आत्माका स्वरूप जैसा उसने श्रद्धान किया है व जैसा उसने जाना है वैसा उसके सामने आकर उपस्थित होजाता है। वह उसी ज्ञान श्रद्धानसे मिश्रित आत्माकी परिणतिमें रुक जाता है, उसी समय चारित्रगुण भी वहां प्रकाशमान रहता है। अर्थात्—जितने अंश वीतरागता होती है उतने अंश वीतरागताका झलकाव रहता है। जब श्रद्धान, ज्ञान, व चारित्र सहित आत्माके भावमें आप ही उपयुक्त होता है तब स्वानुभव होजाता है और यह एकतानता कुछ देरके लिये होजाती है। इस एकतानतामें जितनी २ कषायकी मंदता होती है उतनी २ चारित्रकी या वीतरागताकी उन्नति होती है। इसलिये यद्यपि श्रद्धान या सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्तीके पहली प्रतिमामें जो अनुभव है वही ग्यारहवीं प्रतिमामें अनुभव है परन्तु चारित्रकी अपेक्षा अनुभव निर्मल अधिक है और यदि ज्ञानकी विषेशता हुई है तो ज्ञानकी वृद्धिसे अनुभव स्पष्ट अधिक है तथा आत्मबलकी भी प्रतिमा २ पर वृद्धि होती जाती है, इससे आत्मानुभवकी थिरताका समय प्रतिमा २ प्रति बढ़ता जाता है। इस तरह अंतरंग स्वानुभूतिकी उन्नति करते हुए इस महात्माने ऐलक या आर्यपद सत्यरूपमें प्राप्त किया है। यह ज्ञानी अपने साध्यकी सिद्धिमें भले प्रकार प्रयोजन रखता हुआ पुनः २ निज आत्माका ही अनुभव पाता है। इसे इस जगत्‌में आत्माके सिवाय

और कोई पदार्थ ही सार नहीं भासता है । यह निज आत्मीकर-सके पान करनेमें ऐसा उपयुक्त है कि उपयुक्त दशामें बाहरी कष्टोंका पता ही नहीं रहता है । धन्य है यह श्रावक जो मुक्तिललनाके लाभके लिये परपदार्थोंसे मोह छोड़कर कमर कसके खड़ा होगया है ।

अनित्य भावना ।

(१)

यह ज्ञानी ११ वीं प्रतिमाका धारक ऐलक अत्यन्त वैराग्यवान होकर मुनिव्रतकी भावना कर रहा है और यह चाहता है कि मैं पंचम गुणस्थानसे आगे चढ़ूं । यह समझता है कि जब तक सातवें अप्रत्तविरत गुणस्थानमें न पहुचूंगा तबतक महाव्रत रूप सयम न पाल सकूंगा न उत्तम धर्मध्यान कर सकूंगा । इसको लज्जा कषा-यको जीतना है, जिस लज्जाके वश इसको लंगोटी रखनी पड़ती है । तथापि जबतक इसके प्रत्याख्यानावरणका उदय सर्वथा दूर न हो जावे तबतक यह लंगोटी छोडकर मुनि नहीं होसक्ता है । उस समयतक मुनिव्रत धारनेकी भावना करता हुआ वैराग्य बढ़ानेके हेतु द्वादश भावनाओंका चिंतवन करता है । प्रथम अनित्य भावनाको विचारता है कि यह जगतके प्राणी इतने मूर्ख हैं कि उन प्राणियोंमें थिरपनेकी बुद्धि कर राग करते हैं । जिनका अवश्य मरण होनेवाला है वे माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बहन ये सब अपनी २ आयु कर्मके आधीन जीते हैं । ये सब एकदिन नष्ट होजायंगे । इनसे मोह करना वृथाही संतापका कारण है । धन, धान्य, भूमि, मकान, नगर, देश, ग्राम मेरा है, ऐसा मानना भी

वृथा है. क्यों कि ये पदार्थ भी बिजलीके चमत्कारवत् चंचल हैं, आज हैं कल नहीं। जगत्में मूल द्रव्योंको तो कोई देख नहीं सक्ता है। केवल मात्र उनकी स्थूल पर्यायें या अवस्थाएं ही मालूम पड़ती हैं। वास्तवमें काम करनेवाले छः द्रव्योंमेंसे दो द्रव्यहैं जीव और पुद्गल। मूलमें शुद्ध जीव व अविभागी शुद्ध पुद्गलका परमाणु है। इन दोनोंका दर्शन हम ऐसे अल्प ज्ञानियोंको होना दुर्लभ है। पाचों इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ ग्रहणमें आता है वह सब जीव और पुद्गलोंकी अवस्थाविशेष हैं। अवस्थाए सब बदलने वाली है, कोई अशुद्ध अवस्था थिर नही रह सक्ती। सब ही मानवोंके बडेबूढे अनन्त होगए हैं परन्तु सब ही चलते बने हैं, कोईका भी पता नहीं है। राज्य, देश, नगर सब परिवर्तनशील हैं। जहां एक दफे उजाड़ था वहा बस्ती दीखती है, जहां बस्ती थी वहां उजाड़ दीखता है। कपड़े नएसे पुराने होते हैं पुराने होकर फट जाते हैं। धन देखते २ चला जाता है, यौवन देखते २ मिट जाता है, शरीरका बल देखते २ घट जाता है। स्त्री पुत्रका संयोग देखते २ छूट जाता है। शरीर पालते २ गल जाता है। इद्रियोंका सुख भोगते २ नष्ट होजाता है। कारण यही है कि ये सब जीव और पुद्गलकी अशुद्ध पर्यायें हैं। जैसे जिन्दगीका समय क्षणभंगुर है। जो समय वीत गया वह लौटकर नहीं आता है वैसे जिन्दगीके साथ २ रहनेवाला यह शरीर भी अनित्य है। अवस्थाओंके लिये यह चाहना कि ये सदा थिर बनी रहेंगीं बड़ी भारी मूर्खता है। पर्यायें जो पैदा होती हैं वे ही नष्ट होजाती हैं। जिनकी वे पर्यायें हैं वे मूलद्रव्य सदा बने रहते हैं। अज्ञानी जन

मूल द्रव्योंपर तो दृष्टि डालते नहीं, मात्र पर्यायोंके ऊपर ही राग-करते हैं जिससे उनकी अवस्थाओंको बदलते देखकर बहुत शोक होता है । यदि वे पर्यायोंका स्वभाव जानकर विचार करें तो शोक न हो । इसलिये बुद्धिमानोंको उचित है कि पर्यायोंके भीतर बिलकुल भी आपापन न मानें । पर्यायोंके बनते हुए व स्थूल पर्यायको कुछ देर रहते हुए कभी उनसे राग न करें तथा पर्यायोंको नष्ट होते देखकर भी द्वेष न करे । क्षणभगुर समागमको थिर मानना ही झूठा श्रद्धान है । जैसे बादल देखते २ उड़जाते है, बिजली चमक कर नष्ट होजाती है, सवेरा होकर नष्ट होता है, रात्री होकर नष्ट होती है वैसे सर्व जगत्की अवस्थाएं अनित्य है । ज्ञानी जीव इन पर्यायोंपर कुछ भी मोह नहीं करता है । धन रहो व जाओ, पुत्र रहो व जाओ, शरीर रहो व जाओ, राज्य रहो व जाओ वह इनके समागमको पुण्यके आधीन समझ कर जबतक उनका सम्बन्ध रहता है, उनको काम देता है व अपनेसे उनका काम निकालता है परन्तु उनके मोहमें रञ्चमात्र भी गाफिल नहीं होता है । त्यागी या साधुओंको भी अपने शरीरसे व शिष्य मण्डलसे व शास्त्र आदिसे भीतरी ममत्व न करना चाहिये । यद्यपि शरीर रक्षा स्वयं संयम पालनेके लिये व शिष्योंकी रक्षा धर्ममार्ग चलानेके लिये करता है तथापि उनके वियोगमें विषाद नहीं करता है, क्योंकि वह जानता है कि ये सब संयोग नष्ट होनेवाले हैं । ज्ञानी जीव श्री शुभचन्द्राचार्यके अनुसार नीचे प्रकार अनित्य भावनाको विचारता है-

गगननगरकल्पं संगमं वल्लभानाम् ।
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ॥

सुजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि।
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ॥

भावार्थ—प्यरी स्त्रियोंका संगम आकासमें रचे हुए नगरके समान क्षणिक है, युवानी व धन मेघपटलके समान विलय होजाते है, सम्बन्धीजन पुत्र व शरीरादि सबका सम्बन्ध बिजुलीके चमत्कार-वत् चंचल हैं, इसी तरह सर्व ही ससारका चरित्र क्षणभंगुर जानना चाहिये।

इस तरह सर्व जीव और पुद्गलकी स्थूल और सूक्ष्म पर्यायोंको अनित्य विचार कर यह ज्ञानी जीव नित्य शुद्ध जीव व शुद्ध पुद्गल परमाणुकी तरफ अपनी दृष्टि लेजाता है। फिर पुद्गलको भी परद्रव्य मानकर छोड़ देता है। मात्र शुद्ध जीव द्रव्योंकी तरफ ही लौ लगाता है। फिर अन्य शुद्ध जीवोंसे भी उपयोग हटाकर अपने ही शुद्ध चैतन्य मात्र ज्ञायक जीवपदार्थ पर दृष्टि रखता है। फिर तो दृष्टि इस तरह अपने स्वामी आत्माके स्वरूपके मध्यमें घुल जाती है जिस तरह निमककी डली समुद्रके पानीमें घुल जावे। अपने ही द्रव्यसे एकमेक हो स्वानुभवमई मनोहर शय्या-पर यह ध्याता विश्राम करता है और शिवनारीको अपने ही आत्म-घरमें देखकर उसीके साथ कल्लोल करनेमें अनुरक्त हो जाता है। फिर जो कुछ अतीन्द्रिय आनन्द पाता है वह वचन अगोचर है। उस समय यह साक्षात् भाव निक्षेपरूप मोक्ष मार्गमें जम जाता है जिस भावके प्रतापसे कर्मके बन्ध स्वयमेव टूटकर गिरजाते हैं। इस ज्ञानीको न कर्मोंके रहनेका विकल्प है न जानेका ख्याल है। यह तो स्वरूप समाधिका ही अधिकारी होरहा है।

अशरण भावना।

(२)

यह ज्ञानी ऐलक मुनिव्रतकी भावना भाता हुआ आज अशरण भावनाका चिंतवन कर रहा है। इस संसारमें यह ससारी जीव जिस शरीरमें प्राप्त होता है उस शरीरकी स्थिति आयुकर्मकी स्थितिके ऊपर निर्भर है। आयुकर्मकी जंजीरमें जकड़ता हुआ यह प्रणी किसी शरीरमें रहता है। अब वह जजीर छूट जाती है तुर्त दूसरी आयुकर्मकी जंजीरमें जकड़ जाता है। अनादिकालसे आज-तक यह कभी भी आयु कर्मकी जंजीरसे नहीं छूटा। शरीर रूपी जेलखानेमें पड़ा हुआ कभी दुःख कभी सुख भोगा करता है। जहां घना दुःख मिलता है वहां यह मूर्ख प्राणी चाहता है कि शरीर छूट जावे व जहां कुछ सुख मिलता है वहां यह चाहता है कि शरीर कभी छूटे नहीं। परन्तु इसकी चाहके ऊपर इसकी कैद निर्भर नहीं है, वह तो अयुकर्मकी स्थितिपर है। देवगतिमें इन्द्र, अह-मिंद्र व देवपदमें रहते हुए अधिक साताकी प्राप्ति होती है। कुछ इष्ट इन्द्रियभोग प्राप्त होते हैं तब वह चाहता है कि मैं कभी मरूं नहीं, परन्तु जब देवायुकर्म खिर जाता है तब इसको सहसा देव-शरीरको छोड़ देना पड़ता है, उस समय कोई ऐसा नहीं है जो मरणसे बचा सके। मनुष्य गतिमें जब कुछ पुण्यका उदय होता है और इष्ट विषयोंको पाता है तब उनमें रंजायमान होजाता है। शरीरको पुष्ट रखनेका बहुत कुछ उद्यम करता है, मरणसे बचनेका बहुत कुछ उपाय करता है परन्तु सब कुटुम्बके देखते २ चल-

देता है, कोई बचा नहीं सक्ता। पशुगतिमें भी यही हाल है। इस गतिवाले जीव भी कभी मरना नहीं चाहते। परन्तु मरण जब आजाता है तब बच नहीं सक्के। मध्य लोकमें कर्मभूमिमें पैदा होनेवाले नर व तिर्यंचोंकी बाहरी विरुद्ध कारणके होनेपर अकाल मृत्यु भी होजाती है, तब तो यह प्राणी असमयमें मरकर दूसरी जेलमें चला जाता है। नरकगतिके नारकी रातदिन महा कष्टको उठाते हैं, मार २ धाड़ २ नित्य सहते है। शारीरिक तथा मानसिक कष्टोंके घोर सतापसे पीड़ित हो मरना चाहते हैं परन्तु वे विना पूरा समय कष्ट भोगे कभी उस जेलसे निकल नहीं सक्के। इस तरह चारों ही गतिके प्राणियोंको अनादिसे ही आयुकर्मकी जजीरमें जकड़े रहकर चारों ही प्रकारके शरीररूपी जेलोमे चक्कर लगाना पड़ता है। यदि यह प्राणी चाहे कि मैं आयुकर्मरूपी यमराजके फन्देसे छुट्टी पाजाऊ तो किसकी शरणमें इसको जाना चाहिये। यदि यह इन्द्रकी शरणमें जावे तो वह स्वयं यमराजके वशमें है, यदि देवी देवता धरणेन्द्र क्षेत्रपाल पद्मावती दुर्गा आदिकी शरणमें जावे तो ये भी यमराजके पासमें बधे हुए हैं। यदि किसी चक्रवर्ती राजा महाराजाका आश्रय लेवे तो वे बचा नहीं सक्के। उनको भी यमराजने दबा रक्खा है। संसारमें कोई भी नहीं है जो मरणके संकटोंसे रक्षित कर सके। फिर कौन है जो बचा सके। हां! वास्तवमें सिवाय अपने आपके आपको कोई बचा नहीं सक्ता। आयुकर्मके जीतनेका उपाय अभेद रत्नत्रयमई धर्म है, जो स्वात्मानुभव रूप है। जो महन्त वीर साहसी पुरुष इस धर्मरूपी शस्त्रको हाथमें लेते हैं और किसी प्रकारकी निर्बलतासे इसको छोड़ते नहीं

हैं वे अवश्य शुक्लध्यानकी खड्गको पा लेते हैं। जिस-खड्गसे वे आठो ही कर्मोके वशका विध्वस कर डालते हैं और यकायक अनादिकी जंजीरोसे छूटकर परमात्मा सिद्ध भगवान होजाते हैं। फिर यमराजकी क्या मजाल जो उधर मुह कर सके। फिर तो वे अनेक कालतक परम सुखासनपर शोभायमान रहते है। जो मानव ऐसे वीर नही हैं कि निजात्मानुभवकी खडगको दृढ़तासे वरावर हाथमे लेसकें वे अरहंत सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच महान आत्माओकी शरणमें जाते है, इनका गुणानुवाद करते हैं, इनकी भक्तिमें लवलीन होते हैं, तव यद्यपि भक्तजन चाहते है कि हम यमराजके फंदेसे छूट जावें परन्तु उनकी भक्ति मात्र इतना कर सक्ती है कि प्राणीको नरक निगोद व पशुगति व कुमनुष्यगतिसे बचा सके। वह भक्ति सुमानवगति व देवगतिकी जेलमें जानेसे रोक नहीं सक्ती है। इन जेलोंसे भी बचानेवाली तो एक आत्मभक्ति ही है। ज्ञानी विचारता है कि मरणके कष्टोसे कोई बचानेवाला नहीं ह और न कोई तीव्र कर्मोके उदयसे आनेवाले महान संकटोंसे बचानेवाला है। जब रोग वियोग सताता है जब दालिद्र व अकस्मात् संकट आघेरता है तब भी कोई देव दानव मानव बचा नहीं सक्ता। इसको स्वयं भोगना पड़ता है। ऐसे संकटोसे जो आगामी आनेवाले हैं बचानेके लिये प्रथम नम्बर आत्मभक्ति व द्वितीय नं० पचपरमेष्टीकी भक्ति कारण है। वास्तवमें भक्तिमें रंजायमान हुआ भाव पिछले पापोकी कमर तोड देता है, उनका जोर घटजाता है, बस संकट टलजाता है या बहुत कम रहजाता है। विचारवान प्राणीको यही विचारना चाहिये कि इस

जीवको दुःखोंसे व मरणसे बचानेवाला कोई भी नहीं है। न मा है, न पिता है, न पुत्र है, न बन्धु है, न नौकर है, न फौज है, न प्रजा है, न दुर्ग है न कोई देव है, न देवी है, न कोई राजा है, न कोई वीर योद्धा सिपाही है, न अपनी परमप्यारी स्त्री है, सब मुंह देखते २ रहजाते हैं। जब यमराज उठाकर जीवको दूसरी जेलमें लेजाता है या जब पापकर्म रोग वियोग आपत्तिमें पटक देता है। यदि कोई शरण है तो अपना आत्मा है या पचपरमेष्ठी हैं। श्री शुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं–

अस्मिन्नन्तकभोगिवक्रविवरे संहारदंष्ट्रांकिते।
संसुप्तं भुवनत्रयं स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम् ॥
प्रत्येकं गिलितोऽस्य निर्दयधियः केनाप्युपायेन वै।
नास्मान्निःसरणं तत्वार्य कथमप्यत्यक्षबोधं विना ॥

भावार्थ–हे आर्य! यमराज रूपी सर्पके मुखमें जिसकी दाढ़ें संहार करनेवाली हैं ये तीन जगत्‌के प्राणी कामदेवके विषकी गहलतासे मूर्छित होकर गाढ़ नींदमें सोरहे है उनमेंसे हरएकको यह निर्दयी काल निगलता जाता है। इसके मुखसे निकलनेका उपाय सिवाय आत्मज्ञानके व प्रत्यक्ष केवलज्ञानके कोई और किसी भी तरह नहीं है। इस तरह अशरण भावनाको विचारता हुआ यह ऐलक सोचता है कि मैं शीघ्र मुनिका व्रत धारण करूं और ध्यानकी अग्नि जलाकर कर्मोंके वनको जलाडालूं, तब ही मेरी रक्षा काल-विकरालके महान चर्वण रूप गालसे होसकती है। ऐसा विचारता २ यह यकायक निश्चयनयका आलम्बन करता है और उस दृष्टिसे जो देखने लगता है वो इसे न काल दीखता है न शरण योग्य

कोई दीखता है, न कोई दुःखी दीखता है न कोई संतोषित दीखता है न कोईका जन्म दिखता है न कोईका मरण दिखता है, न कोई लघु दिखता है न कोई गुरु दिखता है, न कोई पूज्य दिखता है न कोई पूजक दिखता है, न कोई नारकी दिखता है न नर दिखता है, न कोई देव दिखता है न पशु दिखता है, न कोई बाल दिखता है न वृद्ध दिखता है। इस दृष्टिमें तो तमाशा दिखता है। अनन्तानन्त जीव सब एक रूप परम शुद्ध सर्वज्ञ वीतराग परमानन्दी अमूर्तीक एकाकी अपनी २ सत्तामें प्रफुल्लित सूर्यके समान प्रतापी, चन्द्रमाके समान शात, समुद्रके समान गंभीर, रत्नके समान अमूल्य चमक रहे हैं। उनके भीतर न कहीं राग है न द्वेष है न क्रोध है न मान है न माया है न लोभ है न दया है न हिंसा है न असत्य है न कुशील है न परिग्रह है न ममता है, न वहां व्रतोंका विकल्प है न वहां प्रमत्त गुणस्थान है न अप-मत्त गुणस्थान है, न वहां प्रमाण व नयका विकल्प है न वहां मतिज्ञान है न श्रुतज्ञान है न अवधिज्ञान है न मन: पर्ययज्ञान है। निश्चयनयसे देखते हुए पुद्गल अलग जीव सब अलग दिखते हैं। यह छहों द्रव्योंके भीतर भी देखना छोडता है, जीवोंमें अन्य जीवोंका देखना भी छोड़ता है। यह मात्र अपने ही शुद्ध आत्माको आप ही देखने लगता है। देखते २ देखनेवालेमें और देखने योग्यमें कोई भेद नही रहता है, तब तो अभेद वचन अगोचर होजाता है और आप आपी आपमें रमण करता हुआ आपको आपसे ही आपका आत्मीक रस लेलेकर आप ही अपने आपसे लेता है और आप ही उस निर्मल अमृतको पीता है और परम

तृप्ति पाकर सुखसमुद्रमें मानों डूब जाता है। ऐसे स्वात्मानुभवमें जमना ही परम शरण है, और सर्व अशरण हैं।

संसार भावना।

(३)

यह ज्ञानी ऐलक निश्चिन्त होकर ससाके स्वरूपका विचार कर रहा है। जिस अवस्थामें जीव ससरण क्रिया करें व भ्रमण किया करें उसको ससार कहते हैं। यह संसार जन्म मरणसे व्याप्त है, यहा जन्मना, मरना फिर जन्मना और मरना यह सदा काल होता रहता है। इस ससारमें यह जीव पुण्य तथा पापके उदयसे देव, मनुष्य, तिर्यंच व नारक चारो ही गतियोंमें जाकर अकुलतामें ही अपने जीवनका समय विता देता है, अन्तमें तृषातुर ही मरता है फिर किसी जन्ममें पहुच जाता है। सर्वज्ञ भगवानके द्वारा जैसा प्रकट है उससे झलकता है कि नरक धरा सात नरकोंसे व्याप्त हैं जिनमें कुल ८४ लाख बिलोंके सदृश बड़े २ विशाल भाग हैं जिनमें नारकी उत्पन्न होकर वहाके क्षेत्रजन्य आदि अनेक शारीरिक व मानसिक कष्टोंको सहन किया करते है। रातदिन मार धाड़में ही समय जाता है। किसीके पुण्यके उदयसे कोई देव तीसरे नरक तक जाकर धर्मोपदेश देकर सम्यग्दर्शन ग्रहण करता है तब वह नारकी कर्मोंके उदयका सच्चा स्वरूप जानता हुआ यद्यपि दुःखोंको भोगता है पर कभी २ आत्मानुभवमें जब लीनता होती है तब आत्म सुखको भी भोग लेता है। वास्तवमें ऐसा

सम्यक्ती तो मानों संसारसे भिन्न ही है क्योंकि उसकी दृष्टि अब संसारसे मुड़कर मुक्तरूप आप स्वभाव पर होगई है तथापि नरकका संसार तो क्लेशोंका ही कारण है। वहांसे निकलकर मिथ्यादृष्टि नारकी भी पचेंद्रिय पशु या मनुष्य ही होता है। पशु पर्यायमें क्या २ कष्ट है सो प्रत्यक्ष प्रगट है।

इस गतिमें एकेन्द्रिय स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति भी शामिल हैं। ये बिचारे घोर अज्ञानसे पीड़ित हैं, तथापि आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंको या भावोंको लिये रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंमें फसे हैं। इनमें कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्या सम्बन्धी परिणमोंका उतार चढ़ाव होता रहता है। स्पर्शके द्वारा ही विषयका जानपना करते हुए श्रुतज्ञानके द्वारा दुःखका भोग करते हैं। मानव व पशुओंके नाना प्रकार आरम्भोंके कारण इन एकन्द्रिय प्राणियोंके प्राण गमानेका व कष्ट पानेका कोई पार नहीं है। जिन किसीको किसी साधु महात्माके संयोगसे व धार्मिक भावोंके वातावरणसे कुछ उच्च भाव होजाता है व एकेन्द्रियसे द्वेद्रियमें आकर पैदा होजाते हैं यहां रसना व स्पर्शन इन्द्रियके भोगकी लालसामें उन्मत्त रहते हैं। जब तक जीते हैं इन्हीं इन्द्रियोंकी तृप्तिका व्यापार है, यकायक शरदी गर्मी व दवने जलने वहने आदिसे मर जाते हैं। इनके भी तीन अशुभ लेश्याएं होती है। कुछ कषायकी मंदतासे जब तेन्द्रिय जाति बांध लेते हैं तब तेन्द्रिय चीटी आदि होजाते हैं। ये जंतु स्पर्शन, रसना, घ्राण इन तीन इंद्रियोंके पदार्थोंके भोगनेकी लालसामें दिनरात चेष्टित रहते हुए यकायक अनेक पराधीनताओंमें

फंसकर मरजाते हैं। कहीं कभी कोई शुभ वातावरणसे भावोंमें कुछ मन्द कषायपना होजाता है तब तेन्द्रियसे मरकर चौन्द्रिय जंतु मक्खी आदि होजाते हैं। यहां आंखका विषय भी जोर करता है और यह चारों ही विषयोंकी तृप्तिके लिये खूब परिश्रम करते २ एकदिन दबकर जलकर बहकर व कुचले जाकर मरजाते हैं। कोईके शुभ वातावरणमें रहनेसे कभी कापोत सरीखी लेश्या होजावे तब पचेंद्रिय पशु जातिकर्म बांधकर घोड़ा, बैल, कुत्ता, बिल्ली, बन्दर, मोर, कबूतर, मच्छ आदि होजाते हैं। यहा कर्ण इन्द्रिय भी जोर करती है। पांचों इन्द्रियोंके भागोंमें उलझकर यह प्राणी अपना जीवन बड़े कष्टसे बिताते है। जो पालतू नहीं होते हैं उनको पेट भर खानेको नहीं मिलता है। कभी पेटभरा कभी न भरा, कभी भूखे कभी प्यासे पड़े रहते हैं। जो पलतू होते है उनको बहुत बोझा ढोना, तेज धूपमें चलना, कोड़ोंकी मार सहना, वे वक्त कमती भोजनपान पाना, इंद्रियोंके अगोंका छेदा जाना आदि घोर कष्ट पाते हैं। यद्यपि मन होता है, विचार सक्ते हैं, परन्तु इन विचारोंको कोई शिक्षा देता नहीं। शिक्षा दी जावे तो ये मनवाले पशु बहुत कुछ सीख सक्ते हैं। अधिक रोगी होनेपर मालिक यों ही डालदेता है व जो पालतू नहीं है वे सबलोंसे नित्य सताए जाते हैं। सिंह बाघसे चीरे जाते हैं, परस्पर लड़कर मरजाते हैं, अज्ञान व मिथ्या-त्वसे बहुत कर्म बांधते रहते हैं। किसी २ को किसी शांत स्वभावी महात्माके दर्शन होजावें व धार्मिक पाठ आदि सुननेसे कषाय मंद होजावे तो मानव आयु बांधकर मनुष्य होजाते है। यहा भी पांचों इंद्रियोंके दास होकर व इस शरीरमें ही आत्मबुद्धि रखते हुए

रातदिन इष्टवियोग अनिष्टसंयोगके कष्ट पाते हैं व तृष्णाकी दाहके जलनेसे तो कभी नहीं बचते। पर्याप्त धन होनेपर भी सम्पत्ति संग्रहसे तृप्त नहीं होते, धन लोभी होकर असत्य बोलते, हिंसा करते, विषयोंमें अन्धे होकर वेश्या व परस्त्रीका सेवन करते हैं। दूसरोंको सताकर तीव्र कर्म बांधकर कभी निगोदमें कभी, पशु गतिमें व कभी फिर नरक गतिमें चले जाते हैं। कदाचित् किसी मानवकी कुछ कषाय मंद हुई तो वह दया धर्म पालता है, परोपकारमें अपना बल खर्च करता है, दुखीजनोंकी सेवा करता है। कष्टोंको समभावसे सहलेता है, तो मानवसे देवगतिमें आकर देव होजाता है। सम्यग्दर्शनके बिना चारों ही प्रकारके देव भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी अनेक सुन्दर देखने योग्य स्थान व भोगने योग्य देवांगनाओंको पाकर उनके भोगमें लिप्त रहते हैं। एक साथ कई विषय न भोग सकनेके कारण इसको छोड़ इसको ग्रहूं ऐसी आकुलतामें फसे रहते हैं। दूसरे देवोंको अपनेसे अधिक सम्पत्तिवान् देखकर अनेक देव मानसिक कष्ट पाकर विलाप करते। जब मरणसे छः मास शेष रहते है तब यह विचार कर कि अब सब कुछ छोड़ देना पडेगा महान् आर्तध्यानमें फंस जाते हैं। मात्र सम्यक्ती देव ही आत्म-सुखको पाते हुए सुखी है। मिथ्यादृष्टी जीव तो चारों ही गतिमें किसीमें अधिक व किसीमें कम काल रहकर इंद्रियोंके दास होकर क्लेश ही उठाते हैं। ये संसारके पदार्थ मृग-तृष्णावत् हैं। जैसे झूठे जलको पीनेसे मृगकी प्यास नहीं बुझती है वैसे इंद्रियोंके काल्पनिक विषयभोगोंके करनेसे कभी भी सुख-शांति नहीं मिलती है। इसलिये संसारका भ्रमण व्यर्थ

समय व शक्तिका नष्ट करना है। धन्य हैं वे प्राणी जिन्होंने संसार भ्रमण मेटनेको मुक्ति पथका अवलम्बन लिया है और अनुपम अतीन्द्रिय आनन्दसागरसे परमामृतमई जल लेकर पीने योग्य अपनेको बना दिया है। वास्तवमें पचमगति ही थिरतारूप व सदा सुखदायी है। चारों ही गतिका भ्रमण सदा ही आतापकारी है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं–

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्तेत कर्मणा वंचितो वलाव् ॥१९॥

भावार्थ–इस ससारमें यह राजा पाप बांधकर कीड़ा होजाता है और एक कीड़ा क्रमसे चढता हुआ इन्द्र होजाता है। इसतरह अपने २ बाधे हुए कर्मोंके फलसे बलपूर्वक ठगे गए प्राणी संसारमें नीचसे ऊंच व ऊचसे नीच हुआ करते है।

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै–
स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः ।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवसगैर्देवेषु रागोद्धतैः,
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये वम्भ्रम्यते प्राणिभिः ॥१८॥

भावार्थ–इस संसारमें महा भयायक दुर्गतियां भरी है उनमें यह प्राणी भ्रमण करते हैं। नरकमें जाते हैं तो शूलारोहण, कुठारीसे चीराजाना, यत्रोंमें पीलाजाना, अग्निमें तपाया जाना, खार जलमें डुबाया जाना, छुरोंसे काटा जाना आदि दुःखोंको पाते है। तिर्यंचगतिमें वहुत ही श्रम व दुःख उठाते हैं। कभी अग्निकी शिखामें भस्म होजाते हैं। मानवगतिमें भी नानाप्रकार उद्यमके वशीभूत हो क्लेश व संताप ही पाते हैं व देवगतिमें रागभावोंसे घोर पीड़ित

हो कष्ट पाते हैं। वास्तवमें ये चारों ही गतियां दुःखरूप हैं। ऐसा चिंतवन करके वह ऐलक विचारता है कि इन चार गतियोंसे निकलनेके लिये नौकाके समान साधुका चारित्र है। मुझे अब शीघ्र ही मुनि होकर आत्म मननके द्वारा परमानन्दको टालकर शिवरानीको अपनी माननमें आकर्षण करके उसीके संभोगमें तृप्त रहना चाहिये और अनन्तकालके लिये सुखी होजाना चाहिये। व्यवहारनयसे विचारते २ अब यह निश्चयनयको ग्रहण कर लेता है। और तब देखता है कि न कोई यहां संसार है, न मोक्ष है, न आत्मामें नारकीपन है, न तिर्यंचपन है, न मानवपन है, और न देवपन है, न यहां कोई इष्टवियोग है, न अनिष्टसंयोग है, न यहां कोई जन्म है न कोई मरण है, न कोई संताप है, न आताप है, न कोई शोक है न हर्ष है, न यहा हिंसा है न अहिंसा है, न असत्य है न सत्य है, न चोरी है न अचोरी है, नअब्रह्म है न ब्रह्मचर्य है, न परिग्रह है न परिग्रहका त्याग है, न यहां कोई कषाय है न कषायका त्याग है, न यहा कोई श्रावक है न कोई मुनि है, न केवली है न अर्हंत है, न सिद्ध है न संसारी है, न यहां द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंचपरिवर्तनरूप ससार है, न भ्रमणसे रुकावट है, न यहां आश्रव है न बंध है न संवर है, न निर्जरा है। यहा तो मैं आप आपी ज्ञाता दृष्टा वीतरागी परमानन्दमई अपनी सत्तामें मगन अपने सुखका भोगी व अपनी शुद्ध गुण परिणति रूपी संपदामें तृप्त आत्माराम विहारी सर्व आकुलता हारि अनंत गुणधारी, अविकारी, असंसारी, चिद्गुणधारी, निज परिणमनमई कर्म संचारी, भावाभाव स्वभावधारी, उत्पादव्यय

ध्रौव्यकारी, संतन चित्तविहारी, सकलताप शमकारी, आनन्द विस्तारी परमात्मा पदधारी, आपमें आप रमणकारी, स्वात्मानुभवके आनन्दका विलास लेरहा हूं ।

एकत्व भावना ।
(४)

आज क्षायिकसम्यग्दृष्टी ऐलक बारह भावनाओंमेंसे एकत्व भावनाका चिन्तवन कर करा है। इस जगतमें हरएक जीवकी सत्ता निराली है । हरएक जीव अपने भले बुरेका आप जिम्मेदार है । हरएक जीव अपने अच्छे भावोंसे पुण्यबंध, बुरे भावोंसे पापबंध तथा शुद्ध भावोंसे कर्म नाश कर सक्ता है । जीवको अपना किया हुआ पाप या पुण्यका फल, दुःख तथा सुख अकेला ही भोगना पड़ता है। जिस कुटुंबके मोहमें पड़कर कोई अज्ञानी तीव्र पापकर्म बांधता है वह कर्म जब उदय आता है तब इस जीवको स्वयं उसका फल भोगना पड़ता है, कुटुम्ब उस समय कुछ भी मदद नहीं देसक्ता है। हमारा कैसा भी कोई मित्र हो हमारा साथ दुःख भोगनेमें व सुख भोगनेमें नहीं देसकता । चारों ही गतियोंमें यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है। इस जीवकी सत्ता सब जीवोंसे निराली है। यह न कभी किसीका खण्ड है न कभी किसीसे मिलता है। यह अनादिसे अनन्तकाल तक एकरूप रहता है। इसका स्वभाव बिलकुल वीतराग व ज्ञानानन्दमई है। रागद्वेष मोह क्रोधादिभाव इसका स्वरूप नहीं है। कर्मोंका भी जो सम्बन्ध है वे कर्म भी पुद्गलमई जड़ हैं। इस जीवके साथ यद्यपि कर्मवर्गणाओंका

एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है तथापि वे दोनों भिन्न २ हैं। आत्मा चेतन हैं कर्म जड़ है। दोनों निराले पदार्थ हैं। इस एकत्व भावनाका यह फल है कि इस जीवको शरीरादि परपदार्थोंसे मोह नहीं होता है। परके सम्बन्धको धर्मशालामें मिले हुए यात्रियोंके मेलेके समान समझता हैं। अपने आत्माके उद्धारका यत्न उनके पीछे नहीं बिगड़ता है। सदा सावधान रहता है कि मुझको अकेला जाना पडेगा इसलिये मैं पापका संचय न करूं। नीतिपूर्वक धन कमाकर लाता है उसीसे ही आवश्यक गृहस्थके काम निकालता है। गृहमें जलमें कमलके समान रहता है और अपने एकाकी स्वरूपको कभी नहीं भूलता है। इस भावनाके भानेवालेको कभी संसार अपने फन्देमें नहीं फंसा सक्ता है। इसे जगतका सारा प्रपंच इन्द्रजालके समान दिखता है। श्री शुभचन्द्राचार्यने ज्ञानार्णवमें कहा है—

स्वयं स्वकर्म निर्वृत्त फलं भोक्तुं शुभाशुभम्।
शरीरांतरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥ २ ॥

भावार्थ—इस संसारमें यह आत्मा अकेला ही तो अपने पूर्व कर्मोंके सुखदुःखरूप फलको भोगता है और अकेला ही सर्व गतियोंमें एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाया करता है।

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखांभोजभृंगः ।
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः ॥
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान् ।
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥१.१॥

भावार्थ—यह जीव अकेला ही स्वर्गमें जाकर देवांगनाओंके सुखका अमृतरूप भोगता है व अकेला ही नारकी होकर तलवारोंसे छेदा

जाकर अपने ही रुधिरको पीता है व अकेला ही क्रोधादिकी अग्निसे जलकर कर्मोंको बांधता है व अकेला ही यदि विद्वान हो तो सर्व कर्मोंका आवरण हटाकर ज्ञानके राज्यको भोगता है। इस तरह यह ज्ञानी एकत्व भावनाको विचारता हुआ व्यवहार नयद्वारा कल्लोल कर रहा था। अब अपने परिणामोंको हटाता है और निश्चय नयके द्वारा देखने लग जाता है तब क्या देखता है कि यह मेरा आत्मा सर्व तीन लोक व अलोकको अपने ज्ञानके भीतर जमाए बैठा है तब भी ज्ञानमें ऐसी शक्ति है कि जो ऐसे २ कितने ही लोक आजावें तब भी ज्ञानमें समा जावें। मेरे आत्मामें इतना वीर्य है कि कितने भी पर पदार्थ मेरी आत्माकी शक्तियोंको चूर्ण करना चाहें तो किसीमें भी ताकत नहीं है कि वह ऐसा कर सके। मेरे आत्मामें इतना अपूर्व आनन्द है कि जिसके लिये किसी पर पदार्थकी मददकी जरूरत नहीं होती है। इस आनन्द रसका भोग कितना भी करते रहो परन्तु वह आनन्दरस कभी समाप्त नहीं होता है और न कभी कम होता है। यह मेरा आत्मा ऐसा दृढ़ है व ऐसा वीतराग है कि संसारमें किसी मोह शत्रु व कामशत्रुकी शक्ति नहीं है जो मुझे रागी करसके। मैं चाहे जहां रहूं, मै एकरूप परम प्रभु परमानन्दी परमात्मारूप हू। मेरेमें मेरे सिवाय कुछ नहीं है मैं अब अपने इस अनुपम निज घरमें ही विश्रांति लेता हूं और यहीं बैठकर सर्व विश्वका दृश्य देखता हुआ भी सिवाय अपनी आत्मानुभूतिके किसी औरको नहीं देखता हूं। मैं एक हूं व एक रहूंगा। मैं कभी भी द्वैतभावरूप नहीं होता हूं। मैं अद्वैतमें जमा हुआ निजानंदका भोग कर रहा हूं।

अन्यत्व भावना।

(९)

यह ऐलक आज बडी शांतिसे बैठा हुआ मुनिधर्मकी भावना कर रहा है और बारह भावनाओंका विचार कर रहा है। अन्यत्वभावनाको मनमें सोचते हुऐ यह देख रहा है कि जिस २ को मैंने अपना माना था वह सब मुझसे भिन्न है। मैने इस शरीरको अपना माना था सो भी भिन्न है। यह जड परमाणुओंसे बना है विघटनेवाला है। मैं चैतन्यमय अखंडित हूं। जैसे औदारिक शरीर मेरा नहीं वैसे इस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री पुत्र कुटुम्बादि व राज्य खेत मंदिर वस्त्रादि भी मेरे नहीं। न कोई मेरे मित्र हैं न कोई शत्रू हैं। मेरे साथ तैजस व कार्मण ये जो दो सूक्ष्म शरीर हैं सो भी तेजस व कार्मण वर्गणाओंसे रचित पुद्गलमई जड़ हैं, मुझसे भिन्न हैं। जब आठो कर्म जड तब इनके उदयसे जो आत्मामें अज्ञान, मिथ्यात्व, असयमपना है व राग द्वेष भय कामभावपना है सो सर्व मोहनीय आदि घातिया कर्मोंका रस है, इसलिये ये राग द्वेष मोह भाव भी मुझसे अन्य है। मेरा द्रव्य एक स्वतन्त्र सत्ताका रखनेवाला है। मेरी सत्तासे सर्व आत्माओंकी सत्ता भिन्न है। पुद्गलके सर्व ही अणु व स्कन्ध मुझसे भिन्न है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश व कालद्रव्य यद्यपि मेरे समान अमूर्तिक हैं परन्तु जड़ व ज्ञान रहित हैं। इससे मेरे आत्मासे भिन्न हैं। एक परमाणु मात्र भी परद्रव्य, परभाव, पर पर्याय मेरी नहीं है। मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई अमूर्तीक असंख्यात प्रदेशी जीव हूं। इसके सिवाय सर्व ही द्रव्य, गुण, पर्यायें मेरे स्वभावसे अन्य हैं।

हां ! मैं संसारमें बहुतसे स्त्री व पुरुषोंको अपना सहायक मानलेता हूं, उनके संयोगमें हर्ष व वियोगमें शोक करता हूं परन्तु यह मेरी मान्यता मिथ्या। सर्व अपने २ स्वार्थमें आसक्त हैं। श्री शुभ-चन्द्राचार्यने ज्ञानार्णवमें कहा है—

ये ये संबंधमायाताः पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते सर्वेपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ॥८॥

भावार्थ—इस जगतमें जो २ चेतन व जड़ पदार्थ इस अपने जीवके साथ आकर मिलते रहे हैं वे सर्व ही सर्व जगह अपने इस आत्माके स्वरूपसे भिन्न हैं—

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं ।
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं ॥
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम् ।
स्वस्थं स्वं प्रतिगाह्य सिद्धिवनिता वक्त्रं समालोकय ॥१२॥

भावार्थ—इस संसारके भयानक वनमें मिथ्या दर्शनसे बन्धे हुए एकान्तमार्गमें भ्रमण करते हुए तूने अपनेसे बाहरी पदार्थोंको, राग-द्वेषादिको, स्त्री पुत्रादिको, शुभ व अशुभ कर्मको अपना मानके चिरकालसे पहले दुःख उठा चुका है। सर्व भ्रमके बोझेको फेंककर और अपने आपमें रहनेवाले अपने ही उत्कृष्ट चैतन्य स्वरूपमें डुबकी लगाकर मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखको देखकर इस तरह व्यव-हारनयसे विचारते हुए अब यह निश्चयनयसे देखने लगता है तो क्या पाता है कि मेरे स्वरूपमें एकत्व है न अन्यत्व है, न भाव है न अभाव है, न विचार है न वचन है, न काय है। मैं सबसे निराला एक ज्ञानानन्दमई अमृतका समुद्र हूं, मैं ही उस समुद्रमें

रहनेवाला महामत्स्य हूं । मैं उस अमृतसे ही जीता हूं, उसीके सहारे उसीमें क्रिया करता हूं, उसीमें ठहरता हूं, उसीमें खेलता हूं, उसीसे ही उसी अमृतमई जलको लेकर पान करता हूं, उसीमें शयन करता हूं, उसीमें जाग्रत रहता हूं उसीको अपना अटूट अखण्ड जलमई किला मानता हूं। इस मेरे ज्ञानानन्द मई अमृतके समुद्रको कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति किसी भी तरह मलीन या अशुद्ध नहीं कर सक्ता है । इस मेरे समुद्रमें ऐसी निर्मलता है कि इसमें मुझे अपना रूप भी दिखता है तथा इसमें सर्व लोक अलोक अपने अनन्त द्रव्यको लिये हुए एकदम झलक रहे हैं । द्रव्योंकी तीन कालवर्ती सर्व पर्यायें भी चमक रही हैं, झलकनेवालोंकी जैसी२ परिणतियें समय २ होती रहती हैं, उनके निमित्तमें मेरे ज्ञानसमुद्रमें भी तरगे उठ रही हैं । भले ही मेरे ऐसे अनन्तानन्त समुद्र हों मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है । उनका मेरेमें अभाव मेरा उनमें अभाव !! बस अब सर्व प्रपंच जालोंसे छुटा हुआ मैं इसीमें विश्राम करता हूं और अपनेको बन्ध व मोक्ष दोनों मार्गसे जुदा करता करता हुआ आपसे आपमें अपनेको देखता हुआ व अपना स्वाद लेता हुआ तृप्त होरहा हूं ।

अशुचि भावना ।

(६)

ज्ञानी ऐलक मुनिव्रतकी तय्यारी करता हुआ अशुचि भावनाका चिन्तवन कर रहा है । यह विचारता है कि मैं जिस शरीरको अपना मानकर उससे बहुत प्रीति करता हूं वह शरीर मेरे स्वभावसे

विलकुल जुदा है । मैं चेतन्य स्वरूप हूं तब यह जड़ अचेतन है । मैं अखण्ड व अकाट्य हूं, तब यह खण्ड २ होनेवाला व करनेवाला है । मैं जब सुख रूप हूं तब यह शरीर सर्व सांसारिक दुःखोंका मूल है । जितने भी कष्ट हैं वे सब शरीरके निमित्तसे सहने पड़ते हैं । इसीमें भूख-प्यास लगती है जिसके लिये बहुत कष्ट उठाकर पैसा पैदा करना पडता है । शरीरके भीतर जो पांचों इंद्रियां हैं उनकी चाहके वशीभूत होकर पांचों इंद्रियोंकि भोगने योग्य पदार्थोंका सग्रह किया जाता है, उनको भोग देते २ भी वे तृप्त नहीं होती हैं । उनमें पुराना पडकर वेकाम होनेका स्वभाव है । जब शरीरकी इद्रियां शिथिल होजाती हैं तब प्राणीको वड़ा कष्ट होता है, क्योंकि चाहकी दाह मिटती नहीं । यह बार२ उद्यम करता है परन्तु सफलीभूत नहीं होता है । शरीरसे सासारिक सुख होता हुआ मानकर हम इसको सदा बनाए रखना चाहते है, पर यह एकदिन दगा देता है और छूट जाता है । इस शरीरके ही कारणसे जगत्‌में अशुचिपना फैलता है । इसके नौ द्वारों (अर्थात् १ जबान, २ नाक, २ आंख, २ कान, २ पाखाना व पिशावके स्थान) से निरंतर मैल वहा करता है । इतना ही नहीं, शरीरके भीतरसे पीव, खुन, मल व कीड़ों आदिसे भरा हुआ है । ऊपरसे चमड़ा निकाल डाला जावे तो किसीके देखने योग्य भी न रहे । इसको चील, कौवे, व मक्खियां नोचनोच कर खाजावें । इस शरीरके भीतर इतने रोएं हैं कि उनके छिद्रोंको यदि एक लाइनमें रखदिया जावे तो २७ मीलतक लम्बी लाइन बन जावे । इन छिद्रोंसे भी निरंतर मैल निकला करता है । वड़ा ही पवित्र जल एक दफे शरीरमें स्नान

द्वारा स्पर्श पाजाय तो वह फिर महा अशुचि होजाता है। यदि दूसरे पर छींटा पड़जावे तो वह फिर स्नान करता है। मानवोंके शरीरके मलसे ही गन्दगी फैलती है व बहुतसे विकलत्रय कीडे, मकोड़े आदि जतु पैदा होते हैं व मरते हैं। इस शरीरकी अशुचिता कथनमें नहीं आसक्ती है। ऐसा अशुचि व क्षणभगुर शरीर भी यदि तप व गुणोंसे विभूषित आत्मासे सम्बन्ध पाए हुए हो तो पूजने वन्दने व स्तुतियोग्य होजाता है। इस शरीरको अपवित्र व इसके भीतर वेंठे हुए आत्मारामको परम पवित्र मानना चाहिये। शरीरके भीतर अहंकारपन व शरीर सम्बन्धी पदार्थोंमें ममकारपना छोड़कर अपने पवित्र आत्माको ध्याना चाहिये। इस शरीरसे आत्माका काम बना लेना ही बुद्धिमानी है। शरीरको चाकरके समान ही रखना चाहिये। भीतरसे वैरागी रहकर इसकी रक्षा करते हुए अपने आत्मीक कार्यको बना लेना चाहिये। शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

अजिनपटलगूढं पंजरं कीकसानाम्।
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम्॥
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं।
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम्॥१३॥

भावार्थ—हे मूढ़! यह शरीर चमड़ेके परदेसे छिपा हुआ है, हाड़ोंका पिंजरा है, बिगड़ी हुई पीपकी दुर्गंधसे खूब भरा है, मरणके सन्मुख है तथा रोग रूपी सर्पोंका घर है। ऐसा शरीर बुद्धिमानोंके लिये किसतरह प्रीतिके योग्य माना जासक्ता है?

ज्ञानी आत्मा इस शरीरसे वैराग्य भावनाको मनकर व्यवहार-

नयको छोड़कर निश्चयनय पर आता है और निश्चयनयसे विचारता है कि न मेरे शरीर है न कहीं जन्म है न मरण है, न रोग है, न संयोग है, न वियोग है। मैं तो ज्ञान शरीरी हूं, सदा अजर अमर हूं, परम पवित्र हूं। मैं सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर एक परम पवित्र अपनी स्वभावरूपी पवित्र गंगानदीमें स्नान करता हूं और उसीका परम मिष्ट स्वानुभवरूपी जल पीता हुआ अपने अनन्त-जीवनको परम सुखी बना रहा हूं।

आस्रव भावना।

(७)

यह ज्ञानी ऐलक मुनि धर्मकी भावना भाता हुआ व बारह भावनाओंका चिंतवन करता हुआ आज आस्रव भावनाका विचार कर रहा है। इस संसारमें संसारी जीवोंके वैरी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग हैं। इनहीसे आत्माके प्रदेश मलीन और चंचल होते हैं। मैं रागद्वेषी संसारी हूं, ऐसी पर्याय सम्बन्धी बुद्धिको मिथ्यात्व, हिंसादि पांच पापोंमें प्रवृत्तिको अविरति, क्रोध मान माया लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा व काम भावोंको कषाय तथा मन वचन कायोंकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं। हम एक शब्दमें लेश्याको ही आस्रव कह सकते हैं। आस्रव बन्ध एक समयमें ही होते हैं, इसीलिये आस्रव भावनामें बंध भावना भी गर्भित है। रागद्वेष मोहको भी भावास्रव कहते हैं, क्योंकि इनसे ही आठ कर्मोंका बन्ध होता है। आस्रव भाव ही संसारके वासमें फिराने वाले हैं। ये ही मेरी आत्माके शत्रु हैं। इनके ही वशमें होकर

यह संसारी जीव जुआ रमना, मांस भक्षण, मदिरापान, चोरी, शिकार, वेश्या सेवन व परस्त्री सेवनके बुरे व्यसनोंमें फंस जाता हैं। इनहीके वशमें रहकर पांच इन्द्रियोंको दमन नहीं करसक्ता है। अभक्ष्य भक्षणादि इन्हींके कारण होते हैं। जगतके दुःखदायी कामोंको यह प्राणी करने लगता है। ये आस्रव भाव वास्तवमें पूर्वमें बाधे हुए कर्मोंके असरसे होते हैं। यदि कोई महात्मा कर्मोंका निर्मूलन कर डाले तो उसके भावास्रवोंका अभाव होजायगा। विचारना यह चाहिये कि मेरा आत्मा क्षीरसमुद्रके समान निर्मल गुणरूपी जलोंसे भरा हुआ है। रागद्वेष मोहरूपी भावास्रवोंके पवन इसको क्षोभित कर देते हैं। तब यह महान् दुःखी व तृष्णावान होजाता है, पर पदार्थोंके मोहमें महा व्याकुल होजाता है और चिंताकी ज्वालासे जला करता है। संसारकी ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करनेवाले नरक निगोदके घोर कारावासोंमें डालनेवाले, दालिद्र रोग वियोगके असहनीय उद्वेगोंमें पटकनेवाले, जन्म मरणके अत्यन्त कष्टोंको देनेवाले ये आस्रव हैं। श्रीशुभचद्राचार्यजी ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पंचविषयाः।
प्रमोदा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च॥
दुरन्ते दुर्ध्याने विरति विरहश्चेति नियतम्।
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम्॥ ९॥

भावार्थ—मिथ्यात्व भाव, क्रोधादि चार कषाय, कामदेवके मित्र पांचों इद्रियोंके विषय, भोजन कथा, स्त्रीकथा, राष्ट्रकथा, व राजा कथा आदि १९ प्रमाद, रौद्रध्यान और आर्तध्यान, हिंसादि

पापोंसे विरक्त न होना व मन, वचन, काय, ये सब सदा ही प्राणियोंको संसारमें भयदायी पाप कर्मोंका आस्रव कराते हैं ।

इसलिये ये सब आस्रवके भाव त्यागने योग्य है । इस तरह व्यवहारनयसे आस्रवका विचार करता हुआ व व्यवहार नयके विकल्पको बंधका कारण जानता हुआ, अब यह निश्चयनयकी दूरबीनको उठाता है, उससे जो देखने लगता है तो उसे न आस्रव दिखता है न बंध दिखता है, न आस्रवके व बंधके भाव दिखते हैं । चेतन चेतनरूप व जड़ जड़रूप ही विदित होते है । जितने अनंतानंत जीव इस विश्वमें हैं वे सब एकसा ही स्वभाव रखते हैं । जैसा मैं वैसा वे, जैसे वे वैसा मैं । नर्क, तिर्यंच, मानव व देवगतिके सर्व भेदोंकी कल्पना मात्र कर्मजन्य भेष हैं । अब मेरा न कोई मित्र दिखलाई पडता है न कोई शत्रु दिखाई पड़ता है । मैं उन सबका भाई हूं । अब मेरेमें न राग है न द्वेष है । मैंने अपनेको वीतरागताके आसनपर विराजमान करदिया है । अब तो इसी आसनपर बैठा हुआ मै अपने आपके स्वादमें लीन हूं । क्या स्वादमें अनुभव कर रहा हूं सो कुछ कहा नहीं जाता है । क्योंकि जो कहता है वह अनुभव नहीं करता है व जो अनुभव करता है वह कहता नहीं है । मेरा जीव अपने आत्माके प्रदेशोंमें ही अपना सिद्ध लोक देखरहा है । मैं ही देवल हू मैं ही देव हूं, मैं ही पुजक हूं, मैं ही पूज्य हूं, मैं ही ध्याता हूं, मैं ही ध्येय हू, मैं ही सर्वदर्शी हूं, मै ही वीतरागी हूं । असलमें क्या हूं क्या नहीं हूं, न कुछ कहने योग्य हूं न चिन्तवन करने योग्य हूं । मैं हूं सो हूं, बस मैं मौनमें ही अपना आनन्द लेरहा हूं ।

संवर भावना।

(८)

यह ज्ञानी ऐलक आज मुनिधर्मकी भावना भाता हुआ संवर भावनाका विचार कर रहा है। जिन २ कारणोंसे कर्मोंका बन्ध होता है उन २ कारणोंको रोकदेना संवर है। इस संसारी जीवके कर्मबन्धके मूल कारण मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग हैं। पहले गुणस्थानमें चारों ही कारण कर्मबन्धके मौजूद है। जो दूसरे सासादन गुणस्थानमें हैं उनके मिथ्यात्व कारण नहीं, अन्य सब है। जो तीसरे मिश्र गुणस्थानमें होता है उसके अनतानुबंधी कषाय कारण नहीं रहते किन्तु मिश्र प्रकृति कारण होजाती है। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानमें मिथ्यात्व अनंतानुबन्धी कषाय नहीं है, शेष सर्व कारण हैं। पाचवें देशविरत गुणस्थानमें कुछ अविरति है, मिथ्यात्व तथा अनंतानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं है। छटे प्रमत्तगुणस्थानमें मात्र संज्वलन तीव्र कषाय और योग कारण रह जाते हैं। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें संज्वलनका मंद उदय और योग हैं। अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणमें सब कषाय मिट जावे। जब मात्र सूक्ष्म लोभ व योग कारण रहते हैं तब दसवा सूक्ष्मलोभ गुणस्थान होता है। उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली इन तीन गुणस्थानोंमें मात्र योग कारण है। चौदहवें अयोगीके योगका भी संवर होता है।

इसतरह ज्यों ज्यों गुणस्थान चढ़ता जाता है त्यों त्यों भाव निर्मल होते जाते और आस्रवका निरोध होता जाता है। वास्तवमें

संवर बहुत उपकारी है। सबसे अधिक उपयोगी मिथ्यात्वके आस्रव द्वारको बंद कर देना है। जहां इसका संवर हुआ वहां बंधका संवर पूर्ण हो ही जायगा, यह पक्का निश्चय होजाता है। वस्तुका स्वभाव जब सच्चा झलक जाता है तब मानों संसारका सवर ही होजाता है। आत्मा और अनात्माका भेद विज्ञान बहुत ही आवश्यक है। इंद्रियोंके भोगोंकी चाह और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय कर्मबंधमें बड़ा भारी हिस्सा लेते हैं। इन नौ घोड़ोंको सदा अपने काबूमें ही रखना चाहिये। जब यह कुमार्गमें जाना चाहें तब ही उनको ज्ञानकी डोरीसे पकड़कर खींच लेना चाहिये। इद्रियां व मन बड़े ही चंचल हैं। निरंतर भोग्य पदार्थोंके मिलनेकी चिन्ता किया करते है। इनहीके वश जगतके प्राणी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पापोंमें फंसजाते है। जिनके पास ज्ञान, वैराग्यका अंकुश है वे कर्मोंके बंधके कारण जो आश्रव भाव है उनको रोकते रहते हैं। पुरुषार्थी ही आत्मबलसे संवर कर सक्ता है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें लिखते हैं—

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥१०॥
विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः।
यदा धत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ॥११॥

भावार्थ—जिस पुरुषके मनमें द्वारपालीके समान विचार करनेमें चतुर ऐसी बुद्धि होती है उनके पापका बंध स्वप्नमें भी नहीं होता है। जिस समय कल्पनाजालोंको त्यागकर अपने आत्माके स्वरूपमें मन निश्चल किया जाता है तब ही मुनिके परम संवर

होता है। इसतरह व्यवहारनयसे स्वपरका स्वरूप विचार करते हुए निश्चयनयका आश्रय लेता है तब यह अनुभव करता है कि संवर रूप तो हमारा आत्मा ही है। इसमें तीनकालमें कभी भी कोई प्रकारका बन्ध नहीं होता है। यह निर्बंध, अविनाशी, सत्, चित्, आनन्दमय, अमूर्तिक, परब्रह्म, परमात्मा सदा ही है। इसमें आस्रवके विजयी वीर सब समा रहे हैं। यही सम्यग्दर्शन है, यहीं सच्चा महाव्रत है, यहीं सच्चा निष्कषाय भाव है, यहीं सच्ची निश्चलता है। इस तरह विचारते हुए वह अपने आत्माके मनोसरोवरमें ही स्नान कर रहा है व उसीके निर्मल पानीको पीता है। यह महासंतुष्ट है और आनन्दका भोग लेरहा है।

निर्जरा भावना।

(९)

अध्यात्मरसमें मगन शुद्ध सम्यग्दृष्टी ऐलक मुनिपदकी भावनाका चिंतवन कर रहा है। आत्माके स्वाभाविक गुणोंके विकाशमें विरोधी है। इसलिये इस कर्म बन्धको अवश्य ही आत्माकी सत्तासे हटाना चाहिये। यद्यपि जितने भी कर्म बंधते हैं, वे किसी मर्यादाको लिये हुए बन्धसे हैं और वे उस ही मर्यादाके भीतर झड़जाते हैं। परन्तु जैसे वे झड़ने हैं वैसे दूसरे कर्म और बन्ध जाते हैं। इस तरह बन्धने रहनेसे कभी भी आत्माकी सत्ता कर्मोंके बन्धनसे खाली नहीं होसकती है। खाली करनेका उपाय यह है कि नया बन्धन तो कम हो व पुराना अधिक झड़े। अपने नियत समयके पहले ही झड़े तो काम सरे। इस अवि-

पाक निर्जराका हेतु परम तप है। इस तपसे संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है। वास्तवमें आत्माके वीतराग मई ध्यानको ही तप कहते है। परन्तु इस तपके सहकारी अर्थात् जिन निमित्तोंके होनेपर वीतरागमई ध्यान सुगमतासे होसकता है वे अनशनादि ग्यारह प्रकारके तप है। उपवास करना, भूखसे कम खाना, नियम मिलनेपर भोजन करना, नहीं तो संतोष रखना, रसोंको छोड़ना, एकान्तमें शय्या आसन करना, कायको क्लेशरूप रखना ये सब बाहरी साधन मनको आत्मामें जोड़नेके लिये हैं। इसी भावोंकी शुद्धिके लिये दोषोंके लगनेपर प्रायश्चित्त लेना, धर्मकी विनय करना, शास्त्रोंका मनन करना, धर्मात्माओंकी सेवा करना, परिग्रहसे ममत्व हटाना ये पाच अतरंग तप भी आवश्यक हैं। मुख्य तप सर्व वाछा त्याग व सशय निकाल एकाग्र चित्त हो निज आत्माका ध्यान करना है। आत्म-ध्यानसे अनेक भवोंके बाधे कर्म अपनी स्थिति घटाकर तुर्त क्षय होजाते है। श्री शुभचन्द्र-जीने ज्ञानार्णवमें कहा है—

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम्।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यंगो सुवर्णवत॥ ८॥

भा०—यद्यपि प्रवाह रूपसे कर्मोंका सम्बन्ध अनादिकालसे है तथापि वे कर्म ध्यानकी अग्निके जला लेनेसे शीघ्र जल जाते हैं और आत्मा शुद्ध होजाता है। जैसे मैला सोना अग्निसे तपाए जाने पर शुद्ध होजाता है। और भी कहा है:—

तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम्॥

क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलम् ।
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥९॥

भा०–पवित्र आचरण करनेवाला साधु पुरुष पहले बाहरी तपोंको आचरण करता है। फिर अभ्यन्तर तपको अभ्यासमें लाता है। फिर आत्माकी तरफ सन्मुख हो उत्तम ध्यानमें लय होता है। उस ध्यानके बलसे चिरकालसे इकट्ठे किये हुए कर्मके परदोंको नाश करदेता है। फिर परमानन्दमई ज्ञानसमुद्रमें प्रवेश करजाता है।

बड़े २ पापी अंजनचोर सरीखे महापुरुष ध्यानके बलसे कर्मकाट उसी शरीरसे मुक्त होजाते हैं। तप ही परम हितकर है, परम कल्याणकारी है। मैं सदा तपका अभ्यास करता हूं। इस तरह व्यवहारनयसे विचारते २ निश्चयनयपर आता है। तब क्या देखता है कि मेरा आत्मा तो परम निर्जर स्वरूप है। इसमें कोई कर्मके बन्ध है ही नहीं। यह तो परम पवित्र, ज्ञाताद्रष्टा, आनन्द-मई, अमूर्तिक, शरीरप्रमाण, शुद्ध चैतन्य धातुकी एक अपूर्व अवि-नाशी मूर्ति है। इसका अनुभव वही शुद्धात्मानुभव है। मैं इस शुद्धोपयोग भावके अंगनमें खेलता हुआ अपनी स्वानुभूति रानीके साथ, जो परम शीलवती व बिलकुल अव्यभिचारिणी है, केल करता हुआ उस ही को अपनी गोदीमें बिठाकर परमालिंगन करता हुआ द्वैतसे अद्वैतमें होजाता हू, साम्यभावमें मानो समाजाता हूं। इस सम्मेलनका फल आत्मानंदमई अमृतका बहाव है। यह ज्ञानी इसीको पीता, इसीमें स्नान करता व इसीमें कल्लोल करता हुआ अपना उत्साह बढ़ा रहा है और पर पदार्थोंसे बिलकुल उदास रह आपमें ही आपको रमाता हुआ अदभुत संतोषको पारहा है।

धर्म भावना ।

(१०)

आज यह सम्यग्दष्टी ज्ञानी ऐलक मुनिधर्मकी दृढ़ताके लिये बारह भावनाओंमेंसे १० वीं धर्मभावनाका चिन्तवन कर रहा है। धर्म वास्तवमें आत्माके असली स्वभावको कहते हैं। जिस उपायसे उस व्यक्तिको जिसे अपना असली स्वरूप प्रगट नहीं है वह असली स्वभाव प्रगट होजावे उसको भी कारणमें कार्यका उपचार मानके धर्म कहते हैं। अर्थात् निज आत्माको यथार्थरूपसे जैसा वह असली द्रव्य है वैसा श्रद्धान करना, जानना व वैसा ही उसका सेवन करना—यह स्वानुभव या आत्मध्यान रूप ही धर्म है। आत्मा स्वभावसे रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्मसे तथा अन्य आत्माओंसे व धर्म, अधर्म, आकाश, काल व पुद्गल द्रव्यसे बिलकुल जुदा है। यह पूर्णपने ज्ञाता, दृष्टा, वीतराग, आनन्दमई, अमूर्तीक, अपने शरीरके आकार, गुणपर्यायमय, व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सत् वस्तु है। इसी ज्ञानमें लवलीन होना धर्म है व इसी धर्मकी भावनाके लिये मुनिका आचरण पालना महाव्रतरूप धर्म है। स्वानुभवके लिये तपस्या करना, पूजन पाठ करना, व्रत धारना, उपवास करना, सामायिक करना, तीर्थयात्रा करना, शास्त्र पढ़ना, दान देना आदि सर्व ही धर्म हैं परन्तु स्वानुभवका लाभ करना हेतु न हो तो मुनि व श्रावकका कोई भी आचरण धर्म नहीं है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य, ब्रह्मचर्य ये दश धर्म भी स्वानुभवके हेतुसे पाले हुए धर्म कहलाते हैं। आत्माकी उन्नतिका मूल

कारण धर्मका आचरण है। यह धर्म वर्तमान सुखशांति देता है, आत्मबल बढ़ाता है, संकटमें धैर्य देता है, पूर्वकृत पापोंको काटता है, पुण्यको बढ़ाता है। सांसारिक असाताओंसे बचानेवाला, साताकारी सम्बंधोको मिलानेवाला यही धर्म कर्मोंकी निर्जरा कर स्वाधीनताको देनेवाला है। मानव जन्मकी सफलता धर्मके पालनेसे है। धर्म विना नर जन्म पशुसे भी निष्कृष्ट है। धर्मकी महिमा वचन अगोचर है, यही रामचन्द्रजी महाराज कहते हैं—

पवित्रीक्रियते येन येनैवाध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥ १ ॥
न धर्मसदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदयसाधकः।
आनन्दकुंजकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ॥ १६ ॥
यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्मभिः कार्यम्।
स्वप्नेपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिंगम् ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिससे यह जगत् पवित्र होता है व जो अपना उद्धार करता है उस दयासे भीजे हुए कल्पवृक्षके समान धर्मको नमस्कार हो। धर्मके समान कोई सर्व संपदाका कारण नहीं है। यही आनंददायी वृक्षका कन्द है, यही हितकारी, पुज्य व मोक्षदाता है ॥१६॥ धर्मका मुख्य चिह्न यह है कि जो २ बातें अपनेको बुरी लगती हो सो दूसरोंके लिये मन, वचन, कायसे स्वप्नमें भी न करें। वास्तवमें यह परम अहिंसा धर्म सर्व जीवोंका हितकारी है।

यह धर्म मेरे हृदयमें सदा वास करे, धर्ममय मेरा जीवन रहे, मैं धर्मको सदा सेवता रहूं, धर्महीसे बंधसे छूटकर मुक्त हूंगा।

ऐसा विचार करता हुआ ज्ञानी व्यवहारनयसे निश्चयमें आता है और मनन करता है कि धर्म तो कहीं अन्य जगह नहीं है, धर्म आत्माका स्वभाव है। वह न कहीं जाता है न उसे कहींसे लेना है। आत्मामें अधर्मका संसर्ग नहीं है न कोई कर्म मेल है, जिसे धोनेके लिये धर्मरूपी जलको काममें लिया जावे। मैं स्वयं परम अभेद रत्नत्रय रूप धर्मसागरमें नित्य मगन हूं, धर्म ही मेरा घर है, धर्म ही मेरी शय्या है, धर्म ही मेरा भोजन है, धर्म ही मेरा पान है, धर्म ही मेरा वस्त्र है, धर्म ही मेरा सेवक है, धर्म ही मेरा बंधु है, धर्म ही मेरा मित्र है। वह धर्म मैं ही हू। मुझसे अलग कोई धर्म नहीं है। मैं निज धर्ममई शुद्ध भावमें कल्लोल कर रहा हू। मैं अविनाशी हूं। मेरा यह धर्म अविनाशी है। मैं सुखी हूं मेरा धर्म सुख है, मै ज्ञाता हूं मेरा धर्म ज्ञान है, मैं दृष्टा हू मेरा धर्म दर्शन है, मैं वीर्यवान हूं मेरा धर्म वीर्य है, मैं चारित्रवान हूं मेरा धर्म चारित्र है, मैं त्यागी हूं मेरा धर्म त्याग है, मैं ब्रह्मचारी हू मेरा धर्म ब्रह्मचर्य है, मै तपस्वी हूं मेरा धर्म तप है, मैं सिद्ध हूं मेरा धर्म सिद्धत्व है, मैं जीव हू मेरा धर्म जीवत्व है, मैं सतोषी हूं मेरा धर्म सन्तोष है, मैं अपने धर्मसे सदा तन्मय हू-कभी भिन्न था नहीं, हूं नहीं हूंगा नहीं। इस तरह निश्चयधर्मका मनन करते हुए यह ज्ञानी यकायक एक ऐसी स्वानुभूति गुफामें पहुंच जाता है जहां मन, वचन, कायकी गम्य नहीं, वहा यह परम विश्राम लेता हुआ जिस अमृतका पान करता है वह अनुपम परमानंददायक है।

लोक भावना।

(११)

आज यह सम्यग्दृष्टी ऐलक ११ वीं लोकभावनाका मनन कर रहा है। यह विचारता है कि यह लोक जैन सिद्धान्तके अनुसार अनन्त आकाश द्रव्यके मध्यमें १॥ मृदंगके व पैरे फैलाए हुए व दोनोंहाथ कमर पर रखते हुए पुरुषके आकारके समान ३४३ घन राजू प्रमाण है। यह सदासे चला आता है व चला जायगा जहा छः द्रव्य दिखलाई पड़ते हैं, वही लोक है। पुरुषाकार लोकाकाशमें सर्व ठिकाने पांचों ही अन्य द्रव्य भरे हुए हैं। सूक्ष्म स्थावर पृथ्वी जल, वायु, अग्नि, वनस्पति कायके जीवोंसे कोई स्थान खाली नहीं है। बादर एकन्द्री, द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय; चौन्द्रिय, पंचेंद्रिय, पशु, मानव नारकी व देव इन सबका रहनेका यही ठिकाना है। पुद्गल अणु व स्कन्धरूपसे सर्व जगह भरे हैं, कालाणु असख्यात लोकके एक १ प्रदेश पर फैले हुए सर्वत्र हैं। धर्म अधर्म लोकाकाश प्रमाण हैं। इस लोकमें जितने पदार्थ हैं वे सत् हैं, सदा थे सदा रहेंगे, तौभी नित्यानित्य स्वभाव हैं। द्रव्यकी सत्ताकी अपेक्षा नित्य है, अवस्थाके उपजने विनशनेकी अपेक्षा अनित्य है। सत पदार्थको कोई बनाया नहीं करता है। छःद्रव्योंका समुदाय जगत् जब सत् रूप है तब इसका कोई बनानेवाला व विगाडनेवाला नहीं है। इस लोकके मध्यमें १४ राजू ऊंची व एक राजू लंबी चौडी त्रस नाड़ी है। इसीमें त्रस जीव पैदा होते हैं, स्थावर तो सब तरफ हैं। तीन लोकके ऊपर ४५ लाख योजन चौड़ी सिद्ध शिलाके मस्तकपर सिद्धक्षेत्र है, जहां

अनंते सिद्ध विराजते हैं। वही स्थान उपादेय है, ठहरने योग्य है शेष सर्व क्षणभंगुर व हेय है। इस लोकमें यह अपना जीव भी सदासे है सदा रहेगा, यदि कर्म मैलको काटेगा तो सिद्ध परमात्मा होजायगा। ज्ञानार्णवमें श्रीशुभचन्द्रजी कहते हैं—

निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा।
न भग्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ॥३॥
अनादिनिधनः सोयं स्वयंसिद्धोप्यनश्वरः।
अनीश्वरोपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम् ॥४॥

अर्थ—यह लोक न किसी ईश्वरसे बनाया गया है न कोई पुरुष इसको उठाए हुए है। यह किसी पुरुषके आधार न होने-पर भी टूट नहीं जाता, यह आकाशके मध्यमें स्वयं ठहरा है। इसको तीन प्रकारकी बातें थामें हुई है। घनोदधि, घनवात, तनु-वात जिसकी मोटाई नीचे बीस बीसहजार योजन है। इस लोकका न आदि है न अन्त है, यह स्वय सिद्ध है अविनाशी है। इसका कोई कर्ता ईश्वर नहीं है, यह जीवादि द्रव्योंसे ठूस ठूस कर भरा हुआ है। इस तरह व्यवहार नयसे विचार करता हुआ निश्चय-नय पर आता है तब विचारता है कि मेरा लोक तो मेरा आत्मा है, जिसमें सर्व ही पदार्थ झलकते हैं। मैं अब सबसे मनको मोड़ कर दर्पणसम निजात्माको ही देखूंगा। उसीमें उपयोग जमा दूंगा व-इससे बड़ा कोई लोक नहीं है। इस स्वलोकमें तिष्ठा हुआ मैं अपने आत्माके शुद्ध गुणोंको भलेप्रकार देख रहा हूं, देखनेवाला भी वही व जिसको देखता है वह भी वही है। वास्तवमें सत्य बात तो यह है कि न कोई द्रष्टा है न कोई दृश्य है। जो कुछ

आप है सो है। यह ज्ञानी अपने ही अद्वैत सामान्य रूपमें मस्त होरहा है। उसके उपयोगमें कोई अन्य पदार्थ स्वाद योग्य नहीं है। यह अपनी ही स्वानुभूति परिणतिका स्वाद लेता हुआ अपने लोकको अवलोकन करता हुआ लौकिक जनोंसे परे रहता हुआ भी स्वयं लौकिक भावना करता हुआ लोकदर्शी व आत्मदर्शी होकर परमानन्द लाभ करता है।

बोधिदुर्लभ भावना।

(१२)

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी ऐलक आज १२ वीं बोधिदुर्लभ भावनाका विचार कर रहा है। इस अनादिकालीन संसारके भीतर रत्नत्रयरूपी बोधिका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यह वही जहाज है जिसपर चढ़कर संसारी प्राणी संसाररूपी समुद्रसे पार उतर कर शिवमहलमें पहुच जाता है। एकेंद्रियकी वनस्पति पर्यायमें इस जीवको दीर्घकाल विताना पड़ता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कायोंमें भी बहुत काल रहना पड़ता है। द्वींद्रियादि त्रस पर्यायका पाना बहुत ही कठिन है। द्वींद्रियसे लेकर असैनी पचेंद्रिय तक जीवोंमें मानसिक बल नहीं होता है जिससे उनमें स्वाधीनताके मार्गको पानेकी योग्यता नहीं होती है। वे नहीं विचार सक्ते कि आत्महित क्या है। मन सहित पंचेंद्रिय पशु होना भी कठिन है। यदि ऐसे पशु भी हुए तो वहांपर धर्मोपदेशका अवसर पाना बहुत ही दुष्कर है यदि मानव हो सो भी आर्य खण्डमें हो, दीर्घायु हो, बुद्धिमान हो, बहुत रोगी व दलिद्री न हो। सुसंगतिका लाभ

पासके व श्री सर्वज्ञ कथित जिन धर्मका उपदेश पासके सो बहुत ही कठिन है। उपदेश पानेपर भी यदि मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषाय अतिप्रबल हो तो कुछ भी अवसर उपदेशका नहीं होता है। कषायोंके मन्द उदयसे ही उपदेश दिलमें बैठता है। उपदेशको समझकर ग्रहण करना, फिर उसपर विश्वास लाना, फिर श्रद्धाके अनुसार चारित्र पालना ये सब बातें एक दूसरेसे दुर्लभसे दुर्लभ हैं। वह ऐलक विचारता है कि मैंने बड़े ही उत्तम प्रयोग पाए है। रत्नत्रयका लाभ मुझको होगया है। मैं आत्मीक धर्मपर चल रहा हूं। अब मुझे उचित है कि इस जहाज पर जमकर बैठा रहं और मुनिधर्मको अगीकार करूं जिससे शीघ्र ही शिव द्वीपमें पहुंच जाऊं। मेरेलिये यह परमोत्तम सुवर्णमई अवसर है। श्रीशुभचन्द्रजी ज्ञानार्णवमें इसी भांति लिखते हैं—

सुप्राप्यं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे।
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे॥

भावार्थ—संसाररूपी समुद्रमें रत्नत्रयका लाभ होना इसी तरह दुर्लभ है जैसे महान सागरमें महान मूल्यवान रत्न हाथसे छूटकर गिर पड़े तो उसका मिलना कठिन है—

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-
मुरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम्॥
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्।
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम्॥

भावार्थ—इस जगतमें सर्व अन्य वस्तु सुलभ हैं जैसे धरणेंद्र, इन्द्र, चक्रवर्ती द्वारा वांछनीय तीर्थंकरपना व उत्तम कुल, बल,

सौभाग्य, सुन्दर स्त्री आदि, परंतु यदि कोई वस्तु दुर्लभ है तो वह एक रत्नत्रयमई धर्म है। इसलिये यह अमूल्य रत्नको पाकरके मुझे भलेप्रकार पालन करना चाहिये। इसतरह व्यवहारनयसे रत्नत्रयकी दुर्लभताको विचार करता हुआ—यह ज्ञानी आत्मा अब निश्चयनयका आश्रय लेता है और देखता है तो इसे रत्नत्रय अपने ही पास दीख पडते हैं—रत्नत्रयरूपी हार आत्माके गलेमें पडा हुआ चमक रहा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न अपूर्व शोभाको विस्तार रहे है। परतु उसको ये तीन भिन्न २ नहीं भासते है। ये तीनों एकरूप ही आत्माकी सत्तामें एक आत्मानुभवके रूपमें देदीप्यमान होरहे हैं। इस अपूर्व रत्नमई प्रकाशको अपना ही स्वभाव जानता हुआ—यह ज्ञानी इसही प्रकाशमें अपना सर्वस्व प्रगटपने देखता हुआ, व अपना भंडार आपमें ही पाता हुआ—सर्व परद्रव्योंकी चाहसे विलकुल छूटा हूआ, रागद्वेष मोहादि भावोंकी कल्पनासे अति दूर तिष्ठा हुआ, वीत-राग विज्ञानके मनोहर आसन पर बैठा हुआ, समताके स्वच्छ व शुक्ल वस्त्रोंसे अलंकृत होता हुआ, आत्मीक आनदरूपी अमृतका पान करता हुआ, अपने अमिट आत्मीक स्वराज्यका उपभोग करता हुआ, पराधीनताकी उलझनोंसे बिल्कुल छूटा हुआ, स्वाधीनताका मुकुट पहने हुए, सर्व चिन्ताओंसे रहित होता हुआ परमकृतार्थ और निराकुल होता हुआ—अपनेको परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, व चिदानंदमई मानता हुआ जो रत्नत्रयका लाभ पारहा है वह वचन-अगोचर है।

अहिंसा महाव्रत।

मुनि मार्ग गमनका उत्सुक ऐलक श्रावक आज अहिंसा महाव्रतके गुणोंकी भावना भा रहा है। वास्तवमें मुक्ति सुंदरीके मिलानेके लिये अहिंसा निकटवर्ती सखी है। यह अवश्य शिव महलमें पहुचा देती है। परम मुनि भाव अहिंसाको इसतरह पालते हैं कि अपने आत्माके घातक रागद्वेष मोह भावोंको नहीं होने देते हैं। समतारूपी ढालके प्रतापसे आते हुए क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंके बानोंको तुर्त रोक देते हैं। यदि साधुको कोई दुर्वचन सुनाते हैं, विना कारण उपसर्ग करते हैं, मारने लगते हैं व उनके प्राण तक घात करने लगते हैं तो भी साधु भाव अहिंसामई वीतराग भावको क्रोध या द्वेषके मेलसे किंचित भी मलीन नहीं करते हैं। पूजा प्रतिष्ठा किये जानेपर भी व निरादर पानेपर भी मान भावको नहीं उठाते हैं, कष्टोंके पानेपर भी मान भावको नहीं उठाते हैं कष्टोके पानेपर भी व अति क्षुधा तृषासे पीड़ित होनेपर भी मायाचारका भाव नहीं जगाते है, अनेक रसीले पदार्थोका आहार पानेपर भी व अनेक सुन्दर स्त्रियोका संघट्ट देखनेपर भी मनमें लोभ भाव व राग भाव नहीं लाते है। मित्र शत्रुपर, लोष्ठ कांचनपर, प्रशसक निन्दकपर, उपवन मशानपर, सरस नीरस आहारपर, सुन्दर असुन्दर वस्तिकापर, ऐक्यता भाव रखनेवाले, कभी भी साम्यभावसे नहीं हटनेवाले साधु भाव अहिंसाके पालक होते हैं। सर्व संसारी प्राणियोंको अपने २ द्रव्य प्राण प्यारे हैं, कोई उनको छोड़ना नहीं चाहता है। सर्व ही जीना चाहते हैं तब साधु स्थावर त्रस सर्व जीव

-मात्रकी रक्षामें सावधान रहते हैं। बुद्धिपूर्वक कोई ऐसा व्यवहार, व्यापार व आरम्भ नहीं करते हैं जिससे किसी एक स्थावर व त्रसके प्राण पीड़े जायें। इसलिये वे गृहारम्भोंके व परिग्रहोंके त्यागी होते हैं। वे प्राणीमात्रकी रक्षार्थ निरंतर यह भावना भाते हैं कि हमारे वचन ऐसे न निकल पड़ें कि जिनसे किसीके प्राण पीड़े जावें, हमारे मनमें भी किसीको कष्ट पहुचानेका भाव न आजावे, हम चार हाथ भूमि आगे देखकर दिनमें रौंदे हुए मार्ग-पर चलें, कोई जंतु पगके नीचे मर न जावे, हम पीछी, कमण्डल, शरीर, पुस्तक देखके धरें व उठावें कि जिससे कोई छोटा प्राणी भी दबकर व कुचलकर कष्ट न पावें, हम भोजनपान देखकर करें जिससे किसी जन्तुके गिरकर पड़कर मरजानेकी संभावना न हो। ऐसी पांच भावनाओंको भाते हुए ये साधु महात्मा सर्व जीवोंको मित्रके समान देखते हैं। इस प्रकार द्रव्य अहिंसाको पालते हैं। द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसाको पालते हुए साधुजन वास्तवमें बडे दयालु, बडे भारी रक्षक व बड़े भारी परोपकारी होते हैं। सत्यभावसे अहिंसाव्रतका पालन स्वपर हितकारी होता है। यह अहिंसाव्रत सर्व अन्य व्रतोंकी जड है। इसके पालक साधु परम शांतिके समुद्र होते हैं, इस तरह व्यवहार नयसे अहिंसाव्रतकी भावना करता हुआ अब वह निश्चयनयसे विचारता है तो क्या देखता है कि मैं आतमाराम स्वय अहिंसा स्वरूप हूँ। न मेरे आत्मप्रदेशोंका कभी कोई घात होसकता है, न मेरे ज्ञान दर्शन सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि गुणोंका कोई नाश होसक्ता है। मैं अमूर्तिक हूं, मेरा कोई खण्ड नहीं कर सक्ता है। मेरेको

कोई जला नहीं सक्ता है, मै वीतराग हूं, मेरेमें कोई रागद्वेष मोह पैदा नही कर सक्ता है । मेरेको अगुरुलघुगुण है जिससे न दूसरे द्रव्यका गुण मेरेमें आसक्ता है न मेरा गुण दूसरेमें जासक्ता है, न दूसरेको मेरेसे बाधा पहुच सक्ती है, न मुझे दूसरेसे बाधा पहुंच सक्ती है । मेरे प्रदेश प्रदेशमें वीतरागताका शुद्ध वर्णन है । मैं अहिंसक, मेरे सर्व गुण अहिंसक, मेरी सर्व पर्यायें अहिंसक । मैं परमानन्दमई द्रव्य सदा नित्य और स्वाधीन हूं, मैं अपने स्वाभाविक सर्व गुणोंकी रक्षा अपने निश्चय चारित्रके बलसे कर रहा हूं । दूसरे द्रव्योंसे मेरा कोई सम्बन्ध ही नही है जो उनको मेरे द्वारा कोई भय हो। मेरी तरफसे सबको अभयदान है । मैं एकाकी अपनी त्रिगुप्तिमई शांत गुफामें विश्राम करता हुआ तथा रत्नत्रयमई आभूषणसे शोभता हुआ, शुद्धोपयोगके पवित्र वस्त्रोंको पहरे हुए, स्वानुभूति तियाके साथ एक आसनपर विराजमान होकर, अहिंसा महाव्रतका मुकुट लगाए हुए अपने अटूट भण्डारसे आनन्दामृतको लेता हूं । आप भी पीता हू व स्वानुभूति तियाको भी पिलाता हूं । वास्तवमें यही भावना अहिंसाव्रतकी ज्योति है ।

सत्य महाव्रत ।

यह ज्ञानी ऐलक मुनिधर्मकी भावना भाता हुआ, आज दूसरे सत्य महाव्रतकी भावना कर रहा है । यह समझता है कि वस्तुका जो खरा स्वरूप है वह सत्य है । उसमें असत्यका प्रवेश नहीं होसक्ता है । सत्य पदार्थको सत्य ही विचारना व सत्य ही कहना उचित है व सत्य ही उसका व्यवहार करना उचित है । वास्तवमें

सत्यव्रत भी अहिंसाव्रतकी रक्षार्थ है। असत्य कथन अपने स्वार्थ साधनके लिये व परकी हानि करनेके लिये ही किया जाता है। जहां असत्य है वहां हिंसा है, जहां सत्य है वहां अहिंसा है। साधुजन परम वैरागी सर्व जीवमात्रके प्रेमी होते हैं। इसलिये वे कभी भी अपने स्वार्थके हेतु किसी जीवको कष्ट नहीं देते हैं। वे कषाय भावके त्यागी है। वे निरतर भावना भाते हैं कि मैं क्रोधके वश न होजाऊ क्योंकि क्रोधभाव बुद्धिको अन्धा कर देता है तब यह अन्ध प्राणी शास्त्रविरुद्ध हिंसाकारी कठोर वचन बोल देता है। मै लोभके वशीभूत न होजाऊ। मै कभी किसी अपने शरीरके हितके लिये कोई असत्य बात व मायाचारीकी बात न कह उठूं। मैं भय कभी न करू, मेरे आत्माको कोई काट नहीं सक्ता। शरीर नाशवंत है। इसका मुझे मोह नहीं, इसलिये मैं किसीकी मारका व किसीके दुर्वचनका कुछ भी भय नहीं रखता हूं। यदि प्रमादसे कोई भूल होजावे तो मुझे अपने गुरुके सामने स्पष्ट कह देना उचित है, कभी छिपाना नही चाहिये। मैं कभी हास्यके वश न होऊ, हास्य करना समयका व शक्तिका दुरुपयोग है, असत्य भाषणका प्रेरक है। मैं सदा शास्त्रकी पद्धतिके विरुद्ध किंचित् भी वचन न कहूं। इसतरह व्यवहार नयसे सत्य व्रतकी भावना भाता हुआ अब यह निश्चयनयपर आरूढ़ होता है तो क्या देखता है कि मेरे आत्मामें मन ही नही है जो सत्य या असत्यका विचार करे, न मेरे पास वचन है जो असत्य व सत्य कहे, न मेरे पास कान है जो सत्य या असत्य वर्तन करे। मैं आप अकेला हूं, सर्व आत्माओंसे भी निराला हूं व अन्य सर्व अनात्मा द्रव्योंसे भिन्न हूं। मैं

सर्वांग अमूर्तीक हूं, पूर्ण ज्ञाता दृष्टा हूँ, पूर्ण वली हूं, पूर्ण आनंदवान हूं, पूर्ण वीतरागी हूं, पूर्ण सम्यक्तधारी हूं। मेरा सर्वस्व सत्य व मेरेमें स्वात्माका सत्य है तथा अन्य सबका असत्य है। कल्पनाके समय मैं सत्यासत्य स्वरूप हूं। अन्यथा न मैं सत्य हूं, न असत्य हूं, मैं जो हूं सो हूं। इस तरंगसे भी मुक्त हूं। मैं क्या हूं, क्या नहीं, कुछ कहा नहीं जाता। मैं वास्तवमें अनुभवगोचर हूं। इसीलिये मैं सर्व प्रपंचसे मुंह मोड़ व्यवहार धर्मका आलम्बन छोड आपहीसे अपना नाता जोड़ सर्व आकुलताओंके भावोंको मरोड़ एक शुद्धोपयोगमें ही रमता हुआ परम सुखका स्वाद लेरहा हूं।

अचौर्य महाव्रत।

यह ज्ञानी ऐलक मोक्षके साधक मुनिधर्मकी मंगलीक भावना भारहा है। आज तीसरे अचौर्य महाव्रत पर अपना लक्ष्य लेजाता है। इस ज्ञानीके ये निर्मल भाव हैं कि वास्तवमें तो कोई वस्तु अपनी नहीं है, शरीर भी अपना नहीं है परन्तु व्यवहारमें मुझे अचौर्यव्रत भले प्रकार पालना चाहिये। प्रमाद अथवा कषायके वशीभूत होकर बिना दी हुई वस्तुको लेलेना चोरी है। इसलिये साधुजन भोजन पान भी बिना दिया हुआ नहीं लेते है, अपने आप न कहींका पानी लेते न बनके फल लेते हैं। वे हिंसाके भी त्यागी हैं। वे आरम्भी हिंसा भी नहीं कर सक्ते, इसलिये जो गृहस्थोंने अपने कुटुम्बके लिये भोजन बनाया हो उसीमें वे संतोष करते हैं। वे किसी भी प्राणीके मनको दुःखित नहीं करना चाहते हैं, न

अपने भावोंमें मलिनता रखना चाहते हैं इसलिये वे ऐसी भावना भाते हैं कि हम ऐसी जगह बैठें व ध्यान करें जो निर्जन वन व शूना स्थान हो, पर्वतकी गुफा हो, वृक्षका कोटर हो, नदीका तट हो व जिस मकानको कोई दीर्घकालसे छोड चुका हो और वह -बनमें ऊजड़के समान पडा हुआ हो व ऐसा स्थान हो कि जहां कोई भी अपनेको मना न करे। तथा साधु जहां भी ठहरते हैं उस स्थान पर भी यात्रीके समान ठहरते है। उसपर अपना स्वामित्व नहीं रखते है। इसलिये यदि कोई अन्य मुनि व श्रावक वहा आकर ठहरना चाहे व बैठना चाहे तो वे निःस्पृही साधु उस आगंतुकको किसी तरह भी मना नहीं करेंगे। यदि उसके बैठने व उसकी संगति करनेके निमित्तसे अपने सयममें बाधा होती जानेंगे तो आप स्वय वहांसे उठकर अन्य स्थानमें चले जावेंगे। साधुजन शास्त्रोंकी आज्ञानुसार चलते हैं। जिन २ रीतियोंसे भोजन करनेकी आज्ञा है जिन २ दोषोंके दूर करनेकी आज्ञा है व जिन २ अन्तरायोंके टालनेकी आज्ञा है उन सबको दूर करके आहार लेते हैं। यदि दोष बननेपर भी व अन्तरायका कारण होनेपर भी भोजन करलूंगा तो चोरीका अपराधी हूगा ऐसा जानकर सदा भिक्षाकी शुद्धिपर ध्यान रखते हैं। साधुजन वडे ही निर्ममत्व होते है, वे किसी साधर्मीसे ऐसा झगड़ा नहीं करते कि यहां तुम न ठहरो हम ही ठहरेंगे। यह शास्त्र तुम न पढ़ो हम ही पढ़ेंगे। गुरुकी वैयावृत्ति तुम न करो हम ही करेंगे। जिन धार्मिक वस्तुओंमें सर्वका हक है उनमें अपना स्वामित्व लगा लेना चोरी है। इसीलिये साधर्मी विसंवाद नहीं करते। इस तरह साधु पांचों

भावनाओंको भाते हुए अचौर्य्य महाव्रतको दोष रहित पालते हैं। जिनकी ममता अपने शरीर पर भी नहीं है वे अदत्त वस्तुको लेकर किस तरह चोरीके पापके भागी बनेंगे? वे बहुत ही शुद्ध भावके धारी हैं। चोरीका कोई दोष न लगे इसी कारणसे वे आरम्भ व परिग्रहसे भी पूर्ण विरक्त हैं व उनके त्यागी हैं। अचौर्य महाव्रत परिणामोंको उज्वल रखने वाला, जगतमात्रका विश्वास बढ़ानेवाला व वीतरागताकी उन्नति करनेवाला है, व्यवहार नयसे इस व्रतकी भावना करते २ जब यह सम्यग्दृष्टि निश्चयनयसे देखने लगता है तब मालूम करता है कि इस लोकमें मेरा कोई भी पदार्थ नहीं है। मैं आप अकेला एक आत्मा हूं, मेरा घर मेरे असंख्यात प्रदेश हैं, मेरा धन मेरा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य है। मेरे पास आत्मानुभव-रूपी मनोहर भोज्य पदार्थ है, जिसका स्वाद लेकर मैं अवर्णनीय आनन्दका भोग करता हूं। मेरे पास वीतरागताका वस्त्र है। सम्यग्ज्ञान मेरा हार्दिक मित्र है। सम्यग्दर्शन चारित्र रूपी रसोईका निमक है। मै अपने घरमें विश्रांति लेता हुआ अपनी सम्पदा व अपने भोज्य पदार्थोंसे इतना संतुष्ट हूं कि मुझे किसी भी वस्तुकी चाह नहीं है। मेरे तो स्वाभाविक ही अचौर्य व्रत बन रहा है। न मैं किसी परद्रव्य परगुण परपर्यायको चुराता हूं न कोई मेरे द्रव्य, गुण, पर्यायको चुरा सक्ता है। मैं सच्चा महाव्रती व मुनि होता हुआ अपने स्वभावके विलासमें आनन्द भोग रहा हूं। अचौर्यव्रत मेरा ही स्वभाव है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत।

यह ज्ञानी ऐलक मुनिव्रतकी भावना भाता हुआ आज पांच महाव्रतोंसे ब्रह्मचर्य व्रतकी भावना भारहा है। यह व्रत भी परमोपकारी है। अपने मनकी वृत्तिको काम सज्ञासे भिन्न रखना परम ब्रह्मव्रत है। जब मनका वर्तन अपने आत्मस्वरूपमें रमने लगता है तब अन्य विषयोंसे उदास होजाता है उसी समय यह मैथुन सज्ञा निरर्थक होजाती है। वास्तवमें आत्मध्यानके लिये मैथुन भाव वर्जित वृत्तिकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। जहां ऐसा परिणाम होजाता है कि जगतमें सर्व स्त्री व पुरुष सब समान दिखते है, किसीको भी देखकर परिणाममें काम विकार नहीं पैदा होता है वही चित्त निर्मल ध्यानमें भले प्रकार मग्न होजाता है। धन्य हैं वे वीर पुरुष जो इस ब्रह्मचर्य व्रतको पालते हैं। वे अपने परिणामोंमें यह ध्यान रखते हैं कि ऐसा निमित्त न मिलाया जावे जिससे स्त्रियोंमें राग बढानेवाली कथाओंको सुना जावे। न ऐसी पुस्तकें पढते हैं जिनके द्वारा स्त्रियोंमें राग उत्पन्न हो। वे अपनी दृष्टि ऐसी निर्मल रखते हैं कि स्त्रियोके रूपको देखते हुए भी विकार भाव नहीं लाते हैं। जिन मनोहर अगोंके देखनेसे काम भाव उत्पन्न होसकता है उनकी तरफसे अपने भावोंको अलग रखते हैं। वे कभी भी उन रति भोगोंका स्मरण नहीं करते हैं जिनको उन्होंने पूर्व कालमें भोगा था। अपने खान पानमें इस बातका बराबर ध्यान रखते हैं कि ऐसा भोजन न ग्रहण किया जावे जो किसी प्रकार इन्द्रियोंकी चेष्टाको विकारी बना देवे–सादा

शुद्ध भोजनपान लेना ही हितकारी समझते हैं। वे महाव्रती साधु अपने शरीरकी शोभा नहीं बढ़ाते हैं। इसलिये स्नान व मज्जन आदि नहीं करते हैं। जिनके भावोंमें अपना शरीर मात्र पुद्गल-पिंड दिखता है उसपर रजका लेप रहना उनके परिणामोंमें ग्लानि नहीं पैदा करता है। वे वस्त्र अलग करके तो त्यागी होते ही हैं। वे साधु ऐसे स्थानमें ठहरते नहीं जहां आसपास स्त्रियोंके शब्द व गानादि सुन पड़ें व उनकी चेष्टाएं दृष्टिमें आसकें। जहां वे ठह-रते हैं वहां स्त्रियोंके चित्रादिका सम्बन्ध भी नहीं रहता है। निमि-त्तोंसे बचना उस समय तक आवश्यक है जहांतक प्रमत्त गुणस्थान होता रहता है, क्योंकि छठे गुणस्थान तक संज्वलन कषायके उद-यकी तीव्रता रहती है इसीलिये मैथुनका भाव होसक्ता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर आत्मध्यानकी ही चेष्टा है। वहां ध्यान ध्याता ध्येयके विकल्प भी नहीं उठते हैं तो वहां काम भावादि कैसे पैदा होसकते हैं? बात करना, चलना आदि भी प्रमत्त अवस्था तक ही है। क्योंकि साधुओंके अभ्यास दशामें तथा इस पंचम-कालकी मुख्यतासे प्रमत्त गुणस्थान ही अधिक रहा करता है। यद्यपि मध्यमें अंतर्मुहूर्तके लिये सातवां गुणस्थान होजाता है इसलिये साधुओंको व्यवहार नयसे इस ब्रह्मचर्यव्रतके प्रयत्न रख-नेकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो साधु इस अहंकारसे कि हम तो कामवशी हैं, इंद्रियविजयी हैं, स्त्रियोंकी संगति रखनेमें कोई परहेज नहीं रखते हैं, उनसे एकान्तमें भी बातचीत करलिया करते हैं वे बहुधा स्त्रियोंके द्वारा फैलाए हुए हाव भाव कटाक्षरूपी जालोंके भीतर फंसकर अपना शीलरत्न गमा बैठते हैं और आत्म चिंताके

स्थानमें काम चिंतामें उलझ जाते हैं। इसलिये परिणामोंके विचलित होनेका भरोसा नहीं है, ऐसा जानकर बाहरी कारणोंसे भले प्रकार अपनेको बचाना चाहिये। वास्तवमें वीर्य रक्षा तब ही होसक्ती है जब मन, वचन, कायसे शीलव्रत पाला जावे, कोई प्रकारका काम विकार भावोंमें न लाया जावे। व्यवहार नयसे ब्रह्मचर्यव्रतकी भावना भाता हुआ अब यह ऐलक निश्चयनयकी ओर झुकता है तब क्या देखता है कि न कोई स्त्री है, न पुरुष है; न नपुसक है। सर्व ही जगतमें प्राणी परम ब्रह्मस्वरूप हैं, सर्व ही परम ब्रह्मचारी हैं। आप ही आपमें रमणकारी हैं। सर्व ही अपनी स्वात्मानुभूति नारीमें रातदिन मस्त है, सर्व ही मोहकी परिणतियोंसे सर्वथा शून्य हैं। किसीके ही वह कर्मका मैल नहीं है जो भावोंको विकारी बना सके। सर्व ही परम संतुष्ट हैं, सर्व ही परम शील-शिरोमणि है, सर्व ही परम जितेंद्रिय हैं, सर्व ही परम जिन हैं, सर्व ही परमात्मा हैं, मैं भी परमात्मा हू, मैं भी रागद्वेष विहीन हू, मैं भी परम निष्कांक्षित हूं, इसलिये मैं सर्व तरंगावलीसे मुक्त हो निश्चल समुद्रकी तरह परम गम्भीरभाव व परम शांतभावमें रमण करता हुआ अपनी ही परिणतिरूपी नारीसे उत्पन्न अपने ही स्वात्मानुभूति रूपी कन्याके साथ परम एकाग्रभावसे रमण करता हुआ स्वात्मरमणसे उत्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दका अदभुत स्वाद पारहा हू और परम कृतकृत्य होरहा हू।

परिग्रहत्याग महाव्रत।

यह ऐलक आज मुनि धर्मकी भावनाके लिये पाचवें महाव्रतकी भावना भा रहा है। आत्माके निजगुण पर्यायके सिवाय

सर्वही पर द्रव्य है, उस सबसे ममत्वका त्याग कर देना परिग्रह-त्याग महाव्रत है। जैन सिद्धांतमें अंतरंग परिग्रह १४ प्रकार व बाहरी परिग्रह १० प्रकार बताया है। सर्व कर्मोंको आह्वान करनेवाला मोहनीय कर्म है। भावोंको विकारी व अशुचि करनेवाला मोहनीय कर्म है। इसहीका परिणाम अंतरंग परिग्रह है। जिसके १४ भेद हैं–

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुंसकवेद। ये मेरे नहीं, मैं इनका नहीं, इस तरह विरक्तता होना ही परिग्रह त्याग है। बुद्धि-पूर्वक एक साधु इन कुत्सितभावोंमें वर्तन नहीं करता है। सप्तम गुणस्थानसे लेकर आत्मरमण रूप एकाग्र भाव है, वहा इनमेंसे किसी एकका व्यक्त उदय संभव नहीं है। प्रमत्तमें इनमें किसीका प्रगट उदय सभव है परन्तु साधु इनके आक्रमणको पूर्ण आत्मबलके साथ रोकता है। बाहरी परिग्रह प्रगट त्याग योग्य है इससे साधु त्याग देता है। क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, गोधन, धान्य, दासी, दास, कपड़े, वर्तन ये १० प्रकार बाहरी परिग्रह ममताके उत्पन्न करनेमें कारण हैं। अतएव त्याज्य है। निर्ग्रन्थ साधु वही है जो परिग्रहका त्यागी हो। इस साधु वृत्तिको धारते हुए मुझे अवश्य लंगोट छोडना पड़ेगा। यद्यपि मैं शीत उष्णादि डांस, मच्छर आदिकी परीषह सह सक्ता हू तथापि मुझे लज्जाको भी जीतना होगा, बालकवत निर्लेप व निर्विकार होना होगा। यथाजातरूपका धारी ही वह वीर योद्धा होसक्ता है जो कर्म शत्रुओंसे लड़ करके उनका संहार कर सके। श्री वीर भगवानने व उनके पूर्वज तीर्थ-करोंने इसी मार्गका अवलंबन किया था। मुझे भी मुक्ति पथपर

पूर्णतया चलनेके लिये यही मार्ग धारण करना पड़ेगा। निस्पृही, निर्विकारी, इंद्रियविजयी ही महात्मा परिग्रह त्याग महाव्रतको धारण कर सक्ता है। परिग्रहका संबन्ध हिंसाका भी कारण है। अहिंसा महाव्रतीको आरम्भ परिग्रहका त्याग करना ही चाहिये। परापेक्षित व्यवहारनयसे परिग्रह त्यागव्रतकी भावना भाता हुआ यह महात्मा अब निश्चयनयका आश्रय लेता है। इस नयसे विचारते हुए इसको यह दिखता है कि मेरे आत्माके पास कोई परिग्रह है ही नहीं जिसका मुझको त्याग करना पडे, न आत्माको कोई ऐसी आवश्यक्ता है जिससे किसी वस्तुको ग्रहण करना पडे। वास्तवमें आत्माके स्वरूपमें ग्रहण त्यागका कोई विकल्प नहीं है। यह आत्मा पूर्ण स्वतत्र अपने अनतगुणोंका धारी है। इसके अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि ही इसका अनुपम परिग्रह है, इस परिग्रहसे इसकी आत्माका तादात्म्य सबघ है। यह इसे कभी भी त्याग नहीं करता इसीसे यह कभी निर्ग्रन्थ नहीं होता तथा सग्रन्थ दर्शक न रहता हुआ स्वानुभूतियोंके साथ ग्रहीधर्म निवाहता है और परमानन्दका विलास करता है। इसका यह स्वानुभूतिसे अमिट अखड अनादि अनंत सम्बंध है। स्वभावरूप स्वपरिग्रहका धारी आत्मा बिलकुल स्वतंत्रतासे अपने असंख्यात प्रदेशरूप क्षेत्रमें स्वराज्यका भोग करता हुआ जिस स्वाधीनताका आनन्द लेरहा है उसका वर्णन बचनोंसे नहीं होसक्ता है। इस आनंदको वही जान सक्ता है जो सर्व व्यवहार व निश्चयके विकल्पसे उन्मुख हो, आप आपमें ही राजकर चमक रहा है।

साधु पर्याय।

यह ऐलक पांच महाव्रतोंकी भावना भाता हुआ अपने परिणामोंको दृढ़ कर चुका है कि महाव्रतोंको धारण किया जावे। ज्यों२ इसका इरादा दृढ़ होता जाता है त्यो२ प्रत्याख्यानावरण कषायका अधिक क्षयोपशम होता जाता है। यह शीघ्र ही उत्कंठित हो श्री पार्श्व तीर्थंकरके समवशरणमें जाता है और गणधरोंको नमस्कार कर एक गणधरकी साक्षीसे मुनि दीक्षाको स्वीकार करता है। केशोंको लोंचकर लंगोटको त्यागकर पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्तिरूप इसतरह तेरह प्रकार मुनिधर्मको धारण कर सामायिक चारित्रमें आरूढ होजाता है। इसी समय मात्र संज्वलनका मन्द उदय रह जाता है। यह अप्रमत्त गुणस्थानी होजाता है। एक वेलेके उपवासका नियम करके धर्मध्यानमें एकाग्र होजाता है।

इसने वास्तवमें वीर सिपाहीका भेष धारण किया है। मुक्तिके साम्राज्यका लाभ तब ही होता है जब मोहकी सेनाका सर्वथा विध्वंश किया जावे। यह साधुका निर्ग्रन्थ भेष ही एक अपूर्व वीर बाना है। इसमें बाहरी दो ही शस्त्र पास रहते हैं—एक मोर-पिच्छिका इसलिये कि बैठने उठने रखने उठाने आदिमें जंतुओंकी रक्षा की जावे। एक काठका कमंडल जिसमें शौच करने व हस्तादि धोनेके लिये उष्ण जल रखा जावे। आवश्यक्ता होती है तो शास्त्र भी पास रक्खा जाता है। इस वीर सिपाहीकी चर्या यह है कि यह भूमि निरखकर दिनमें प्राशुक स्थानपर चलता है, रात्रिको न गमन करता है न वार्तालाप करता है। शुद्ध सभ्य मिष्ट मलको

वचन बोलता है । शुद्ध आहार जिसे गृहस्थने अपने कुटुम्बके लिये ही किया हो, दिनमें एकवार खड़े होकर मौन सहित संतोष-पूर्वक रसोईकी लालसा रहित शरीर रक्षार्थ ग्रहण करता है । पीछी कमण्डल शास्त्रादि देखकर रखता है व उठाता है । मल मूत्र निर्जन्तु भूमिमें देखकर करता है । मन वचन कायको समता भावमें व प्रमाद रहित रखता है । समयका कभी दुरुपयोग नहीं करता है । रात्रिके बीचमें दो पहरोंमें लगातार पौन घंटेसे अधिक निद्रा नहीं लेता है—तीन काल व रात्रिको धर्मध्यान व सामायिकमें मग्न रहता है । अवसर पाकर धर्मोपदेश करता है ।

इस तरह व्यवहारनयसे इसने साधुके महाव्रतोंको धारण करके अपना नाम मुनिवर्गमें लिखा लिया है । निश्चयनयसे इस वीर आत्माके शरीर ही नहीं है तो मुनि भेष हितकारी कैसे होगा । यह तो स्वयं मुनि है, केवली है, ज्ञानी है, वीतरागी है । इसका सम्पूर्ण स्वरूप परमानन्द मई है । यह आप ही अपने भीतरसे सुखशांतिको लेकर उसका भोग करते हुए स्वसमाधिमई योगका साधन करता है इसलिये यह सच्चा साधु है । स्वरूपमें मग्नता व समताका प्रसार इसका सच्चा भेष है । आत्माका आपमें ही समभावसे लीन होना सामायिक चारित्र है । इसका साधुस्वरूप अनादिसे अनंतकाल तक इसमें बना रहता है, यह कभी भी असाधु भावमें नहीं जाता । यह अनुपम साधु स्वात्मानंदमई निज रसका पान करता हुआ जो आनंद भोग रहा है उसका वर्णन किसी भी तरह किया नहीं जासक्ता है ।

साधु दिनचर्या ।

यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि परम वैरागी जैन साधुके चारित्रको यथार्थ रूपसे पालता हुआ अपने २४ घंटेके समयका भले प्रकार सदुपयोग कर रहा है । यद्यपि कभी अप्रमत्त व कभी प्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ता उतरता है तथापि यह आलस्यके वशीभूत नहीं होता । प्रमाद भाव पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें था उसका शेषांश यहां छठे गुणस्थान तक है । आहार सम्बन्धी भाव भी प्रमाद है । मात्र आत्मस्थ भाव ही अप्रमाद है । इस निर्ग्रंथ साधुको अपने जीवनको आत्मध्यानकी अग्नि जलाकर कर्मकाष्ठके जलानेमें उपयुक्त रखनेकी तीव्र उत्कण्ठा है, इसीलिये इसने चिंताओंके जालरूप गृहका त्याग किया है। यह सूर्योदयसे ३ घड़ी पहलेसे लेकर सूर्योदयसे ३ घड़ी आगे तक ६ घड़ी (अर्थात् २४×६=१४४ मिनट) या २ घंटे २४ मिनिटके लिये लगातार सामायिक प्रतिक्रमणादि क्रियाओंमें मौनसे वर्तता है। इस समयके मध्यमें आत्मध्यानकी अग्नि जलाकर कर्मोंको दग्ध करता है । इस सामायिक कालके पीछे अनुमान ९ वजेतक यह कंठस्थ अनेक आध्यात्मिक पाठोंको पढ़ता है व किसी ज्ञानप्रद ग्रन्थकी स्वाध्याय करता है । फिर उठकर शरीरशुद्धिके लिये एकांत स्थलमें जाता है । शौचसे निवटके कायोत्सर्ग करता है । यही साधुका मात्र स्नान है । फिर वृत्तिपरिसंख्यान तपके अनुसार अपने शरीर व मनकी स्थितिको देखकर कोई प्रतिज्ञा लेकर नगरमें मौन सहित भिक्षावृत्तिके लिये जाता है । यह विचारवान साधु ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं लेता है जिससे गृहस्थोंको विशेष आरम्भ करना पड़े । यह बहुत ही दया-

वान है, ग्रहस्थोंको अपने निमित्त किसी प्रकारके कष्टमें नहीं डालना चाहता है। धनवान व निर्धनके घरके संकल्परहित जहां प्रतिज्ञाका निमित्त मिलता है यह बड़े ही संतोषसे मात्र शरीररक्षार्थ जिह्वाके स्वादको वशमें रखते हुए अल्पाहार करता है जिससे ध्यान व स्वाध्यायके साधनमें प्रमाद न सतावे। इस तरह आहारक्रियाको समाप्त कर अपने नियत वनके व एकांतके स्थानमें ११ बजेके पहले आजाता है। मध्यान्हकालमें भी यह छः घडी सामायिकमें लगाकर सफल करता है। १ बजके १२ मिनटके अनुमान सामायिकसे निपटकर यह ज्ञानी २॥ बजे तक शास्त्र विचार व ग्रन्थका उल्था व शास्त्र संकलन आदि ज्ञानवृद्धिके कार्यमें समय विताता है, फिर २ घटे तक धर्मोपदेश व प्रश्नोका उत्तर करता है। ४॥ बजे अन्य त्यागी व श्रावक श्राविकाएं आते हैं-धर्मोपदेशामृतके प्यासे उत्सुक रहते हुए बैठ जाते हैं, तब यह कभी १ घटा कभी १॥ घटा अध्यात्मरस गर्भित तत्त्वोपदेश सुनाता है। जिनको सुनकर श्रोतागण अपनेको पुद्गलकी क्रियाओं व परिणतियोंसे भिन्न-मानो सिद्ध लोकमें ही विराजित हैं ऐसा अनुभव करते हैं। ४॥ बजेतक प्रश्नोत्तरके लिये समय रहता है। फिर साधु उठकर एकांतमें चले जाते हैं। यदि शौच क्रिया करनी हो तो उससे निवटने हैं अन्यथा कुछ देर विश्राम करते हैं। फिर ६ बजे सूर्यास्त मानकर २ घड़ी पहलेसे २ घड़ी पीछे तक ऐसे स्थानमें आत्मध्यान सहित सामायिक भावमें तल्लीन होते हैं कि जहां रात्रिको मौनसहित व्यतीत करना हो। साधुगण शरीर शुद्धिके लिये अपने ठहरनेके स्थानमें निकट प्रासुक भूमिको दिनमें ही देख

रखते हैं, जिससे रात्रिको वेखटके शरीर शुद्धि कर सकें व जंतु-ओंके बाधक न होवें । मार्गमें शका हो तो मोर पिच्छिकाका उपयोग करते हैं । सामायिकके पीछे रात्रिको तत्त्वविचारमें व कभी आत्मध्यानमें कभी ग्रन्थको कंठस्थ करनेमें विताते हैं । कभी लेट जाते हैं । विना देखे व झाड़े आसन बदलते नहीं । विलकुल एकांतमें ही रात्रि विताते है । आत्मरसका मौन सहित पान किया करते हैं । रात्रिके मध्यके दो पहरके मध्यमें कभी निद्रा लेते हैं, सो लगातार एक मुहूर्तके भीतर ही लेसक्के हैं, क्योंकि प्रमत्त गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त रहता है, फिर ध्यानरूप अप्रमत्त भाव आजाता है । इस तरह यह प्रवीण साधु मुनिधर्ममें अपनी दिन चर्या रखता है । व्यवहारनयसे इस प्रवृत्तिको साधु प्रवृत्ति मानते हुए भी निश्चयनयसे शरीर, वचन व मनकी क्रियाको अपने आत्माकी क्रिया न समझ कर यह इन तीनोंकी ममता त्यागता है और एक अपने निज आत्माकी भूमिमें ही चर्या करता है । इस भूमिमें चलते हुए राग द्वेष मोहके काटे नहीं लगते है। यह भूमि परम निर्मल है, स्पष्ट सुचारु है । न यहां कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं न आहारक वर्गणादि नोकर्म है। यहा ज्ञानज्योतिका प्रकाश है, परम शांतिकी परम सुहावनी ठडक है । ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, चारित्र, आत्मवीर्य आदिके परम मनोहर वृक्ष यत्र तत्र शोभायमान हैं। इस भूमिमें विश्राम करते हुए यह स्वात्मरमणरूप साधुभावमें वर्तन करके अपने ही भीतर भरे हुए ज्ञानानन्दमई अमृतको निकालता है, पुनः २ उसीका पान करके सतोषी रहता है । यही साधुकी निश्चय दिनचर्या है ।

धर्म ध्यान।

(१)

यह ज्ञानी आत्मा साधु अवस्थामें कभी सविकल्प व कभी निर्विकल्प धर्मध्यानका अभ्यास करता है। सविकल्प अवस्थामें आज्ञाविचय धर्मध्यानका चिंतवन करता है। ज्ञानी विचारता है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवान निर्दोष वक्ता हैं। जैसा वस्तु स्वरूप है वैसा ही प्रभुने अपनी दिव्यध्वनिसे प्रतिपादन किया है। जिन आगममें जो कुछ कथन किया है वही ऋषियोंके द्वारा सिद्धांत ग्रन्थोंमें पाया जाता है। ऋषिकथित ग्रन्थोंमें सर्वज्ञ कथित वचन ही हैं इसका प्रमाण यह है कि उसकी परीक्षा प्रमाण नयके ज्ञाता विद्वान जब करते है तब उनको उसकी प्रामाणिकता विदित होजाती है। बुद्धिकी प्रखरता तथा मंदता ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके अनुकूल होती है। प्रखर बुद्धिमान ग्रन्थकथित वचनोंकी परीक्षा कर लेते हैं जब कि मंदबुद्धिमान तीव्र बुद्धिवालों द्वारा परीक्षित ग्रन्थोंपर अपना विश्वास करके संतोष प्राप्त करते हैं। प्रखर बुद्धिमान भी किन्हीं सूक्ष्म बातोंका निर्णय नहीं कर सके, उन सूक्ष्म विषयोंके लिये आगम प्रमाणकी शरण लीजाती है।

आगमकी प्रमाणता आगमके वक्ताकी प्रमाणतासे होती है। जिस शास्त्रका वक्ता प्रयोजनभूत स्थूल तत्वोंको यथार्थ कर रहा है उसके द्वारा सूक्ष्म तत्व अयथार्थ नहीं कहे जासक्ते। इस प्रतीतिको समझकर एक मोक्षार्थी साधु जिनशास्त्रोंकी प्रमाणतामें निःशंक होजाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य सरीखे विद्वानोंके कथनोंमें कौन शंकाशील होसक्ता है जिनके वचन सर्वज्ञके तुल्य स्पष्ट हैं व मनको

आकर्षण करने वाले है । वास्तवमें जितने अन्य जैनग्रन्थ हैं उनकी प्रमाणता श्री कुन्दकुन्दाचार्यके वचनोंके आधार पर है । धर्मध्यानमें षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्व व गुणस्थान मार्गणाका विचार प्रायः किया जाता है । आज्ञाविचय धर्मध्यानमें जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है जैसा जिन ग्रन्थोंमें कहा है ऐसा प्रतीतिमें लाकर द्रव्य व तत्वोंके स्वरूपका चिन्तवन किया जाता है, कर्मबधकी रीतियोंका विचार किया जाता है । १४८ कर्मके भेदोंका, उनके बंध योग्य भावोंका व उनके अनुभागका, उनकी स्थितिका, उनके हृदयमें लानेयोग्य नोकर्मोंका विचार किया जाता है । सिद्धांतके कथनका विचार मनसे आर्त रौद्र ध्यानको हटाकर धर्मध्यानके पाएपर उपयोगको जमा देता है । अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगमें चित्त रम जाता है । कर्मसिद्धांतका विचार ध्याताके हृदयमें यह भाव जाग्रत करता है कि इस मेरे आत्माने चार गतिकी अनेक अवस्थाओंमें भ्रमण करके कहीं भी साता नहीं प्राप्त की है । जिन २ पर पदार्थोंके संयोगसे कुछ कालके लिये सुखकी कल्पना करली जाती है उन पदार्थोंका अवश्य वियोग होजाता है । अथिर पर्याय व अथिर उसका सम्बंध मनको विना तृप्त किये छूट जाता है । उदासी व वियोगकी आकुलता चित्तको खेदित कर देती है । इसलिये इन आठों कर्मोंकी कैद हरतरह आत्मस्वतन्त्रताकी बाधक है । मुझे अवश्य ही निज स्वभावका लाभ करना चाहिये । उसके लिये जो रत्नत्रयमई मार्ग श्री जिनेन्द्रदेवने बताया है वही ठीक है । धन्य हैं प्रभु परमोपकारी ! मैंने उनकी आज्ञाको मस्तक चढ़ाया है, मेरा

अवश्य हित होगा इस तरह व अन्य तरह धर्मध्यानके भीतर जिनेन्द्र कथित तत्त्वोंको आज्ञानुसार विचार करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। व्यवहारनयसे इस विकल्पमय धर्मध्यानको करते हुए अब यह सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प ध्यानपर जमनेके लिये निश्चयनयसे देखने लगता है तब क्या देखता है कि मै स्वयं परमात्मा हूं, मैं स्वय अरहंत व सिद्ध हूं मै स्वयं परमतृप्त हूं, मेरेमें किसी भी पर-द्रव्यका सयोग नहीं है। मै अनादिसे अनत कालतक एक शुद्ध चिद्रूप वस्तु मात्र चैतन्य द्रव्य हूं। न मेरा जन्म है न मरण है, न मेरा बंध है न मोक्ष है, न मेरेमें प्रमाद है न अप्रमाद है, न मेरे धर्मो व गुणोंके भेद है, न यहां दर्शन ज्ञानचारित्रके भेद हैं। मैं तो जो हूं, सो हूं, जैसा था वैसा हू, जैसा हूं वैसा रहूंगा, न मेरेमें गुणस्थान है न मार्गणा स्थान हैं न जीवसमासके स्थान हैं। न कोई अनुभाग स्थान है न बन्धस्थान है, न संयम लब्धिके स्थान है न विशुद्धि लब्धिके स्थान है। मै सर्वांग परमानद अनुपम वीतरागता और अनुपम अमोघ आत्मसत्तासे भरपूर हूं। मैं निजमें ही निजसे निजको ठहराता हूं और स्वानुभवमई भूमिमें बैठकर, स्वरूप मस्त होकर व मन वचन कायसे छूटकर आत्ममय होकर विश्राम करता हूं।

(२)

परम वीतराग भावमें चढ़नेका अभ्यासी यह ज्ञानी साधु साधुपदमें धर्मध्यानका अभ्यास कर रहा है। अपायविचय धर्म-ध्यानको विचारते हुए यह भावना भाता है कि मेरा आत्मा जब स्वभावसे ज्ञानचेतना रूप है तब इसमें कर्मचेतना व कर्मफलचेत-

नाके भाव व नाना प्रकार अशुद्ध परिणतियें न होनी चाहिये। वह समय कब हो जब मैं इन सर्व परभावोंको नष्ट कर अपने स्वभावका ही विलाश करूं, अपने शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमें ही नित्य रमण करूं। इन पर भावोंसे कर्मोंका बंध होता है, जो बंध आत्माकी स्वतन्त्रतामें बाधक है। इस बंधका काटना ही जीवका हित है। जगतके अनेक प्राणी भी कर्मोंकी पराधीनतामें महा आकुल व्याकुल होते हुए परम कष्ट उठा रहे हैं। मिथ्यात्वकर्मने जीवोंको ऐसा भुलावा दिया है कि जिससे उनको वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं दिखता है। इस हेतु ये प्राणी हितको अहित, कर्त-व्यको अकर्तव्य, पूज्यको अपूज्य, शुद्धको अशुद्ध, यहांतक कि चेतनको जड़के समान मान रहे हैं। शुद्ध स्वाधीन आत्मसुखको विलकुल भूल रहे हैं। प्रमादके वशीभूत हो रातदिन विषय कषा-योंमें लीन हैं। धर्ममार्गसे हटकर अधर्ममें प्रवृत्ति कर रहे है। अपने अज्ञान भावसे घोर पापकर्म बाधकर दुर्गतिमें घोर दुःख उठा रहे हैं। इष्ट वियोग अनिष्ट सयोगके सिवाय अनेक शारीरिक, मानसिक व परकृत वेदनाए है, जिनको ये प्राणी कर्मोंकी पराधीन-तासे भोगते है। क्या उपाय किया जावे जिससे जीवोंका यह मिथ्यात्व मिटे और सम्यक्त्व ज्योतिका प्रकाश हो—सम्यक्त्व सहित तो नरकमें रहना भी ठीक है, परन्तु मिथ्यात्व सहित स्वर्गका वास हितकर नहीं। सम्यक्त रोशनी है तब मिथ्यात्व अन्धकार है, सम्यक्त अमृतका समुद्र है तब मिथ्यात्व विषका कूप है। सम्यग्दृष्टी गृह-स्थसे मिथ्यात्वी मुनिका पद तुच्छ है। यद्यपि पापरूप सावद्ययो-गके कारण ग्रहस्थी असातावेदनीयादि कर्मोंका अधिक बंध करता

है जितना वह मुनि नहीं करता है तथापि घातिया कर्मोंका बन्ध ज्ञानी ग्रहस्थीसे एक आत्मज्ञान रहित साधुके अधिक होता है। मैं क्या उपाय करूँ जिससे जीव मिथ्यात्वके विषको उगल कर सम्यक्तके अमृतका लाभ लेवें। हा! मैं देखकर अति क्षुभित होता हूं कि छोटे२ जन्तु किस तरह दबकर, छिदकर, भिदकर, हिंसकोंके कलेवर होकर मरते हैं। पशुगण किस तरह भूख, प्यास सहकर शरदी व गरमीसे पीड़ित होकर, अधिक बोझा लादे जानेपर व कसाईखानोंमें काटे जानेपर तीव्र वेदना भोगते हैं। अनेक मानव रोगसे, दालिद्रसे, बहु कुटुम्बके खर्चसे व प्रतिकूल संयोगोंसे अति पीड़ाको उठाते हुए इस नर जन्मको पूरा करते हैं। सुखशांतिका लाभ होना बहुत ही दुर्निवार है। वास्तवमें कर्मोंका सम्बन्ध जीवकी स्वतंत्रताका बाधक है। धन्य हैं वे महापुरुष जिन्होंने कर्म जालसे अपनी निर्वृत्ति करके परम पदको पालिया है। इस तरह व्यवहार नयसे अपायविचय धर्मध्यानका विचार करते हुए अब निश्चयनयका आलम्बन करता है तब क्या देखता है कि मैं स्वय शुद्ध वीतराग चिदानन्दमई परम पदार्थ हूं। न मेरे कोई भी परवस्तु व परभावका संयोग है न किसी तरहका विकार है। मैं अनादि अनन्त अविनाशी एक परम स्वाधीन द्रव्य हूं। जैसा मैं हूं वैसे ही और भी जगतके जीव दिखते हैं। सर्व ही एक समान शुद्ध चित्‌पिंड हैं। न कोई राजा है न रंक है, न कोई धनवान है न कोई निर्धन है न कोई बड़ा है न छोटा है, न कोई बालक है न वृद्ध है, न कोई शरीर धारी है न कोई रागी द्वेषी है। सर्व ही परम वीतरागी स्वाधीन निजानन्दमें मग्न हैं। किससे राग व किससे द्वेष किया जावे,

किसको नमन किया जावे व किसका नमस्कार झेला जावे। न कोई पुज्य है न कोई पूजक है, न ध्येय है न ध्याता है, न गुरु है न शिष्य है। वास्तवमें इस विश्वके अनन्त आत्माओंका एक समान दर्शन परम समताके समुद्रमें डवोनेवाला है, स्वानुभवकी कलाको जगानेवाला है, परमानन्दका स्वाद देनेवाला है, सच्चे आत्मध्यानको विस्तारनेवाला है, जीवन्मुक्तिका सुख देनेवाला है। ऐसा विचारते२ यह ज्ञानी मुनि ज्यों ही आपके मनोहर अमृत जलके पानमें लवलीन होता है तब निश्चय नयसे भी छूटकर नयातीत किस अवस्थाको पहुंच जाता है उसका वर्णन यह कलम नहीं कर सक्ती।

(३)

यह ज्ञानी मुनि उपयोगको शुद्ध भावमें रखनेके हेतु धर्मध्यानके तीसरे भेद विपाकविचयका चिन्तवन करता है। आठ प्रकार मूलकर्म है। उत्तर भेद १४८ हैं। उत्तरोत्तर भेद असंख्यात हैं। सुख-दुःख जीवन मरण सब कर्मोंके उदयसे है। संसारमें कर्मोंका नाटक होरहा है। आत्मा स्वभावसे शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनदमई परम वीतरागी सिद्ध भगवानके समान है। संसारी आत्माओंमें जो कुछ अज्ञान व असंयम व अश्रद्धान है सो सब कर्मोंके उदयसे है। जो कुछ निर्बलता है वह भी कर्मोंके उदयसे है। जितना कुछ रागद्वेष आदि कषायोंका झलकाव है सो भी कर्मोंके उदयसे है। प्राणियोंके नानाप्रकार देव, नारक, पशु, मानवके सुन्दर व असुन्दर, पूर्ण व अपूर्ण शरीरोंकी रचना भी नामकर्मके उदयसे है। साता व असाताका पाना भी वेदनीय कर्मके निमित्तसे है। ज्ञानी जीव अपने आपकी विभावपरिणति तथा अपने पासके बाहरी साताकारी व

असाताकारी सम्बन्ध देखके कर्मोंके उदयका चिन्तवन करता है। यह विचारता है कि मैने जैसा कर्मोका बंध किया था तदनुकूल उनका उदय आया है। यह कर्मका उदय एकसा कभी रहनेवाला नहीं है। मुझे धनादि व संतानादिके संयोगमें उन्मत्त व उनके वियोगमें उदासीन न होना चाहिये। धूप जहां होती है वहां कालांतरमें छाया आजाती है। सम्पत्ति तथा विपत्ति धूप और छायाके समान क्षणभङ्गुर है। इसी तरह ज्ञानी जीव जगतके नाटकको देखते हुए जब प्राणियोंको संपत्तिवान व सुखी देखता है तो उनके शुभ कर्मोंका उदय है ऐसा विचारता है। जब उनको रोगी, शोकी, दलिद्री, देखता है तो उनके अशुभ कर्मोंका उदय है ऐसा विचारता है। किसीको मरते देखकर आयुकर्मका क्षय हेतु है, किसीको जन्मते हुए देखकर आयुकर्मका उदय हेतु है ऐसा विचार लेता है। जीवोंकी अद्भुत सुख व दुःखकी अवस्थाएं ज्ञानीके मनमें कोई अचम्भा नहीं पैदा करती हैं, वह उन सबको कर्मोंका विपाक मानकर समता भावधारी होजाता है। जगतमें पुद्गलकी अनेक परिणतियें होती हैं जिनके द्वारा अनेक आश्चर्यकारी काम होते दिखते हैं इनको भी पुद्गलकी शक्ति कारण है ऐसा मानकर कोई अचम्भा नही पैदा करता है। इस तरह विपाक विचय धर्मध्यानमें वस्तु स्वरूपका विचार करते हुए ज्ञानी आत्माका उपयोग आर्त्त व रौद्र ध्यानसे छूटा रहता है और शुभोपयोगमें केल किया करता है। व्यवहारनयाश्रित इस विचार-प्रणालीको रोककर जब यह निश्चयनयका अवलम्ब लेता है तब क्या देखता है कि जितने द्रव्य हैं वे सब अपने अपने स्वभावमें कल्लोल कर रहे हैं। छः द्रव्य भिन्न २

झलक रहे हैं–जितने जीव हैं वे सब शुद्ध परमात्मा रूप दिख रहे हैं, उनमें कोई सुखी कोई दुःखी, कोई जीता कोई मरता नहीं मालूम होरहा है। सर्वही परमानन्दी स्वाधीन वीतराग भावमें मग्न हैं। इस दृष्टिमें रागद्वेष विलय होजाते हैं। आत्मानंदकी ज्ञानचेनता सामने झलकने लगती है–निश्चयनयके द्वारा भावना करते करते यह ज्ञानी यकायक ज्यो ही अपने आत्माके भीतर विश्राम करता है त्यों ही सर्व विचारकी तरंगोंको पारकर जाता है। मन वचन कायकी क्रियाओंसे अतीत एक ऐसी ज्ञानमय निष्क्रिय दशाको प्राप्त होजाता है जहां मात्र निज स्वभावका स्वाद आता है– स्वानुभवकी छटा छाजाती है–ज्ञानचेतना मय परिणति होजाती है। वचन अगोचर दशामें पहुंचकर जिस वीतराग विज्ञानका मजा पाता है वही अपूर्व मोक्षका द्वार है।

(४)

धर्म ध्यानमें यत्नशील यह साधु आज संस्थानविचय धर्मध्यानका विचार कर रहा है। आत्माके आकारपर व गुणोंपर इसकी दृष्टि है। यह ज्ञानी पिंडस्थ ध्यानका विचार करता है। अपने ही पिंड अर्थात् शरीरमें स्थित अपने ही आत्माका ध्यान करना पिंडस्थ स्थान है। इस ध्यानके अभ्यासके लिये पांच प्रकारकी धारणाएं है (१) पृथ्वी (२) अग्नि (३) पवन (४) जल (५) तत्वरूपवती। पृथ्वी धारणाके विचारमें ऐसा अनुमान करता है कि यह मध्य लोक क्षीरसमुद्रके समान है। इसके मध्यमें जंबूद्वीपके समान १ लाख योजनाका चौड़ा एक हजार पत्तेका लाए हुए सुवर्णके रंगका एक बड़ा फैला हुआ कमल है। उस कमलके मध्यमें सुवर्णके रंगकी मेरु-

पर्वत सदृश कर्णिका है। यह कर्णिका मेरु पर्वतके समान एक लाख योजन ऊंची है। इस मेरु पर्वतके पांडुक वनमें पांडुक शिला है उसपर स्फटिक मणिमई सिंहासन है, उसपर मैं पद्मासन बैठा हुआ हूं, इसलिये कि उन आठ कर्मोको दग्ध करूं जिनके संयोगसे यह आत्मा पराधीन होरहा है व भव वनमें भटकते हुए अनेक प्रकारके असहनीय कष्टोंको सहन कर रहा है। इतना विचार वार वार करना पृथ्वी धारणा है। इस धारणाके अभ्याससे वह मन जो अनेक रागद्वेष मई प्रपंच जालोंमें भटक रहा था इतनी ही सीमामें रमण करने लगता है। ध्यान आत्माकी शुद्धिका दृढ़ होजाना है। यह ज्ञानी समझता है कि चित्तको रोकनेके लिये बहुत अधिक परिश्रमकी आवश्यकता है इसलिये ऐकान्त स्थानमें जाकर प्रातःकाल, मध्याह्नकाल व शायकाल बहुत देरतक इस धारणाका अभ्यास करता रहता है। क्योंकि यहां उद्देश्य आत्माकी शुद्धिका व कर्मोके ईंधनको जलानेका है इसलिये यह धर्मध्यान है। इस ध्यानके आलंबनसे आर्त व रौद्रध्यानके औपाधिक भाव प्रवेश नहीं करपाते हैं। अशुभ आश्रवसे बचना होता है, यद्यपि शुभोपयोगसे शुभाश्रव होता है। यह सम्यग्दृष्टी इस बातको भले प्रकार जानता है कि यह शुभास्रव भी कार्यकारी नहीं है—यह भी बंधरूप है। बंध है सो मोक्षका विरोधी है, अतएव अब यह इस धारणाके व्यवहार धर्म ध्यानके विकल्पको त्यागता है और निश्चय आत्मध्यानकी जागृतिके लिये निश्चयनयका आश्रय लेता है। निश्चयनयकी दृष्टिसे देखते हुए इस साधुको यह जगत भिन्न२ छः द्रव्यमई दिखता है। जितने जीव हैं वे सब पुद्गलसे अलग शुद्ध ज्ञान चेतना रूप पर-

मानन्दमई सिद्ध सम दिख रहे हैं। न कोई बड़ा दिखता है न छोटा, न ऊचा न नीचा, न गुरु न शिष्य, न पूज्य न पूजक, न ध्येय न ध्याता, न स्वामी न सेवक, न बालक न वृद्ध, न युवान न युवती, न पशू न मानव, न देव न नारकी, न वृक्ष न कीट। सर्व ही परम शिरोमणि परमात्मा सूर्यके प्रकाश सम झलक रहे है। यह ज्ञानी इन सर्व जीवोको आप समान देखता हुआ परम समता-सागरमें मग्न होजाता है। स्वानुभवमई दशापर चढ़जाता है। अपने आत्माके भीतर अपने ही आत्मीक सुखका स्वाद पाने लगता है। उस समय जिस ध्यानमें है उसे ही सच्चा आत्मध्यान कहते है और वही सुख शातिका अनुपम श्रोत है।

(५)

यह ज्ञानी मुनि सर्व प्रपंचसे रहित होकर धर्मध्यानका अभ्यास कर रहा है। पिंडस्थ ध्यानकी पार्थिवी धारणाके पीछे आज अग्नि धारणाका चिंतवन कर रहा है। उसी सुमेरु पर्वतके पाडुक वनमें पांडुक शिलापर बैठा हुआ ऐसा विचारता है कि मेरी नाभिके भीतर ऊपरको उठा हुआ एक कमल १६ पत्रेका फैला हुआ सफेद रंगका विराजित है।

इस कमलके १६ पत्तोंपर १६ स्वर अ आ आदि पीले रंगके लिखे हुए हैं व उसके मध्यमें ई लिखा है, यह भी पीले रंगका है। इस कमलकी सीधमें हृदयके स्थानपर दूसरा एक आठ पत्तोंका कमल काले रंगका अधोमुख है जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय ऐसे आठ कर्म रूप है। फिर सोचता है कि ई के रेफसे धुआं निकला। धूआं अग्नि

मय परिणत होगया। अग्निज्वाला नाभिके कमलसे उठकर ऊपर हृदयके कमलके मध्यमें आकर आठ कर्मरूप कमलको जलाने लगी। फिर यही ज्वाला हृदयस्थ कमलके मध्यको छेदकर ऊपर मस्तकतक पहुंच गई तथा उसकी एक शाखा एक ओर, दूसरी शाखा दूसरी ओर शरीरके नीचे जाकर आसनकी तरफ उनकी लाईन मिल गई अर्थात् अग्निने शरीरके तीन तरफ वेढ़कर एक त्रिकोण आकार बना लिया इस त्रिकोणके तीनों रेखाओंमें अग्निमय ररररर अक्षरोंको अंकित विचार करता है। फिर इस त्रिकोण मण्डलके तीन बाहरी कोनोंमें अग्निमय स्वस्तिकको और भीतरी कोनोंमें ॐ र्ं को अग्निमय लिखा हुआ विचारता है। इसतरह अग्निमण्डल बनाकर यह चिंतवन करता है कि बाहरी त्रिकोणकी अग्नि नोकर्ममई शरीरको और भीतरी कमलकी अग्नि आठ कर्मोंको जला रही है। जलाते२ आठ कर्म व शरीर सब भस्ममय परिणत होगए हैं और तब अग्नि भी बुझ गई है।

इस तरह अग्नि धारणाका विचार करते हुए शुद्धात्माकी ओर लौ जमती जाती है और आत्माका जो सम्बंध है उससे वीत-रागता बढ़ती जाती है। जिसका फल यह होता है कि वास्तवमें कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है क्योंकि निर्ममत्व भाव ही बंधको काटनेकी छेनी है। यह साधक इस अग्नि धारणाका बहुत काल-पर्यंत चिंतवन करते हुए सर्व जगतका विस्मरण करके इस परम तपमें लवलीन होजाता है। जब चित्त विश्रांतिको चाहता है तब यह मुनि इस व्यवहार धर्मध्यानसे उपयोगको हटाकर निश्चय धर्म-ध्यानपर आनेके लिये निश्चयनयका आश्रय लेता है। तब यह

विचारता है कि मैं स्वयं परमात्मा परम प्रभु वीतराग ज्ञाता दृष्टा अविनाशी द्रव्य हूं। अनादिसे अनन्त कालतक जैसा हूं वैसा हूं। इस मेरे आत्मद्रव्यमें आत्मामय द्रव्यकी, आत्मामय असंख्यात प्रदेशरूप क्षेत्रकी, आत्माके परिणमनरूप कालकी व आत्मीकभावकी सत्ता है तब मेरे सिवाय अन्य सब आत्माओंकी और सर्व अन्यात्माओंकी असत्ता है। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें नहीं है। मैं एक ही समय अस्ति नास्तिरूप या भावाभावरूप हूं। इसी तरह मैं द्रव्यापेक्षा नित्य व पर्यायापेक्षा अनित्य होकर एक ही समय नित्यानित्य स्वरूप हूं। मैं अखण्ड अमिट होनेसे एक अभेद हूं तब अनेक सामान्य व विशेष गुणोंकी व्यापकता रखनेके कारण मैं अनेक भेदरूप हूं। इस तरह मैं एक ही काल एकानेक व भेदाभेद रूप हूं। इस तरह अपने ही शुद्ध आत्माके गुणोंका मनन करते हुए जब उपयोग थिर हो जाता है तब मन द्वारा जितना कुछ विचार होरहा था वह सब बंद होजाता है और यकायक स्वानुभव रसकी धारा बहने लगती है। यह ज्ञानी मुनि इस धारामें गोते लेता हुआ स्वरूप समाधिमें गुप्त होकर जिस आध्यात्मिक आनन्दका भोग करता है वह वचनातीत है और परम सन्तोषमय है।

(६)

यह ज्ञानी मुनि आज धर्मध्यानका विचार कर रहा है। पिंडस्थध्यानकी तीसरी वायु धारणाका चिन्तवन करते हुए ऐसा विचार करता है कि जब ध्यानकी अग्निसे मेरे सर्व कर्म जलकर भस्म होगए हैं तब इस भस्मको उड़ाना चाहिये और अपने आपके

शुद्ध स्वरूपको झलकाना चाहिये । तब यह देखता है कि बड़ी भारी पवनका मंडल अपने चारों तरफ बहने लगा है। इस मंडलके चारों तरफ स्वाय स्वाय स्वाय स्वाय बीजाक्षर लिखे हैं। यह पवन बहती हुई कर्म और नोकर्मकी रजको उड़ा रही है । बारबार ऐसा अभ्यास करना वास्तवमें कर्मोंकी निर्जराका कारण है । इसको व्यवहारनयसे ध्यान इसीलिये कहते हैं कि इसमें परद्रव्यका आलम्बन है । साधकको उचित है कि इस पवन धारणाका पुनः पुनः अभ्यास करे और अपने आत्माकी शुद्धि करे । मुनिपदकी शोभा ध्यानहीसे है । ध्यानके लिये ही मुनि मुनिर्लिंग सरीखे कठिन नग्नव्रतको धारण करते हैं ।

वास्तवमें मुनि अवस्था एक उन्मत्त कीसी अवस्था है । अपने आपमें इतने लवलीन रहते हैं कि उनको सिवाय आपके और कुछ दिखता नहीं है । उनकी दशा ऐसी होती है जैसा कि श्री पूज्यपाद-स्वामी समाधिशतकमें कहते हैं–

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवसात्किंचित् वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥

अर्थ–आत्मज्ञानके सिवाय और किसी कार्यको बुद्धिमें चिरकाल तक न धारण करे । यदि प्रयोजन पड़े तो किसी कार्यको मात्र वचन और कायसे करे–मनसे उसमें आसक्त न हो । साधुके छठा व सातमा गुणस्थान एक २ अंतर्मुहूर्त पीछे होता है । सातमा आत्मध्यानमय है, तब छठा धर्मध्यानरूप है । परन्तु प्रमादके वशीभूत है इसीलिये इसको प्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं । इसका भी

समय बहुत थोड़ा है । इसी ही स्थितिमें साधुगण आहार, निद्रा, उपदेश, शास्त्रविचार, विहार आदि शुभ कार्योंको शुभ हेतुसे करते हैं । इन कार्योंको करते हुए भी मध्यमें जब सातवां गुणस्थान होता है अर्थात् जब अपने आत्मस्वरूपमें एकतानता होती है तब आत्मस्थ होजाते हैं या अपने आत्मामें लय हो विकल्पोंसे अतीत होजाते हैं । मुनियोंकी विचित्र चेष्टा होती है । वे लौकिक जगतकी अपेक्षा निद्रित हैं परन्तु अपने स्वरूपके साधनकी अपेक्षा जाग रहे हैं । यह साधु पवन धारणाका कुछ देर अभ्यास करके पराधीन व्यवहार ध्यानसे मुंह मोड़ता है । और निश्चय ध्यानकी तरफ झुक जाता है । तब अपनी सम्पूर्ण शक्ति एक अपने ही आत्माकी तरफ लगा देता है। आत्मामें किसी पर वस्तुका सम्बन्ध है इस कल्पनाको जाग्रत नहीं करता है । उसके सामने शुद्ध स्वभावमई अपने ही आत्माका चित्र खिंच जाता है । उसमें यही दिखता है कि यह मेरा आत्मद्रव्य शुद्ध गुणपर्यायोंका समूह है । यही सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग व परमानन्दमई, अनत वीर्यवान, बिलकुल अमूर्तीक, कर्माजन रहित परमात्मा सदृश निर्मल आत्मा है । इसमें यद्यपि सर्व ज्ञेय प्रतिबिंबित होरहे हैं तथापि उनके झलकनेसे इसकी पवित्र चैतन्यमय भूमिमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता है । अपनी शुद्ध दर्पणसम भूमिमें यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकताकी मालाकी दीप्तिके समान देदीप्यमान देखता हुआ जिस स्वरूप मगनताको पाता है उसका वर्णन नहीं होसक्ता । इसीसे ही आत्मसुधा बहती है और यह उसका पान करता हुआ स्वाधीन आनन्दका भोग करता हुआ परम सुखी होरहा है ।

(७)

यह ज्ञानी मुनि आज पिंडस्थ ध्यानकी जलधारणाका चिन्तवन कर रहा है, इसका उपयोग अन्य सब ओरसे खिंचकर मात्र आत्माकी शुद्धि पर ही जमा हुआ है। यह जंबूद्वीप सम कमलके मध्य सुमेरु पर्वतके ऊपर पाडुशिलापर विराजित स्फटिकमणिके सिंहासनपर बैठा हुआ ही धारणाओंका विचार कर रहा है। अग्नि धारणासे यह विचारा था कि सर्व कर्म व शरीर जलकर भस्म बन गए। पवन धारणासे विचारा था कि वह भस्म उड गई। तथापि आत्मा बिलकुल शुद्ध न हुआ है, यत्र तत्र आत्माके प्रदेशोंमें कर्मरज व नोकर्मरज चिपटी हुई है। इस रजको भी धोडालनेके लिये यह विचारता है कि घनघोर मेघोंका काला २ समूह आगया और अपने ऊपर खूब वृष्टि होने लगी। पानीकी वर्षाका मानो अर्द्धचंद्राकार मडल अपने ऊपर होगया। इस मडलके मध्यमें जलका बीजाक्षर प कई स्थानोंपर जलके रंगमें ही लिखा हुआ विचार करे। प प प प प प प से अलंकृत जलमडल मेरेपर पानी वर्षाता हुआ मेरे आत्मापर लगे हुए सर्व रजको धीरे २ धोरहा है। आत्मा बिलकुल साफ होरहा है। ऐसा बार २ मनन करना अर्थात् अपने आत्माको जलके प्रवाहसे धोया हुआ विचारना जल धारणा है। इस धारणाके प्रतापसे वास्तवमें कर्मोंकी निर्जरा होती है। क्योंकि उस समय ध्याताकी भावना यही रहती है कि यह कर्म व नोकर्म दोनों ही आत्माकी स्वाधीनतामें बाधक हैं। मुझे सिद्धसम शुद्ध अवस्थाको प्राप्त करना चाहिये। इसलिये इसकी रुचि वीतरागतापर है-निज भावपर है। और यह नियम है कि जहां जितने

अंश वीतरागता होगी वहां उतने अंश कर्मकी निर्जरा होगी । इस तरह यह मुनि व्यवहार ध्यानके विकल्पको करता हुआ थक जाता है और निश्चय ध्यानकी तरफ आता है । तब निश्चयनयके चश्मेको अपने उपयोगमें लगा लेता है । इस चश्मेसे देखते हुए इसको सिद्ध लोक सर्वत्र दिखाई पड़ता है । तीनसे तेंतालीस घन राजू प्रमाण यह लोक चैतन्यके चमत्कारसे अलंकृत परम शुचि परमानन्दमय एक अद्भुत आत्मसागर नजर आता है । क्योंकि लोकका कोई स्थान ऐसा नहीं है जहा आत्मा न हो । सूक्ष्म स्थावर सर्वत्र भरे हुए हैं । ये सर्व ही आत्माए निश्चयनयसे देखे जाते हुए शुद्ध सिद्धसम झलक रही है । सर्वत्र सिद्धलोकको देखते हुए या मानो शुद्ध आत्मसागरको देखते हुए इसकी दृष्टिमें राग द्वेषमय, अज्ञानमय, असंयममय, मिथ्यात्वमय, चतुर्गतिमय भवसागरका कहीं पता ही नहीं मालूम पडता है । यह ज्ञानी जीव अपने वांछनीय सागरको पाकर सागरस्नान प्रारम्भ कर देता है, बार २ इसी आत्मसागरमें डुबकी लगाता है । इसी सागरमें कल्लोल करता है । इसीमें तैरता है । इसी सागरका स्वानुभवरूपी अमृतका पान करता है । फिर जो सतुष्टि व सुख पाता है उसका वर्णन किसी तरह हो नहीं सक्ता । सिद्ध सुखमें और इस सुखमें कोई अतर नहीं है । इसकी उसकी जाति एक ही है । ऐसे सुखको जो पावे, उसके स्वादको वही जाने, कहलानेवाला क्या पहिचाने ?

(८)

आज यह परम तप करनेमें उद्यमी साधु धर्मध्यानका विचार करता हुआ पिंडस्थ ध्यानकी पांचमी धारणाका मनन करते हुए

ऐसा देख रहा है कि मेरे आठों कर्म जल गए, मेरा शरीर जल गया। रजोंको पवनने उड़ाया व जलने धो डाला। अब तो आत्मा जैसा मूलमें था वैसा प्रकाशमान होगया। यह तो बिलकुल शुद्ध सिद्धसम आनन्दमय वीतराग ज्ञाता दृष्टा है। चैतन्यमई आकार अपने शरीरके आकारके समान झलक रहा है। यह बिलकुल स्फटिक समान परम स्वच्छ है। इसमें सर्व कुछ प्रतिबिम्बित होता है तब भी इसमें कोई विकार नहीं होसक्ता, क्योंकि विकारक पुद्गलका सर्व सम्बन्ध छूट गया। अब यह अपने रूपको यथार्थ देखता हुआ वास्तवमें निश्चय तथा व्यवहारके विकल्पोंसे दूर है। दर्शक और दृश्य, ज्ञाता व ज्ञेय, अनुभवकारक व अनुभवने योग्य, ध्याता व ध्येय यह द्वैतभाव जाता रहा। अद्वैत एकाकार अडिग अचल स्वरूपाचरण मात्र रह गया। इस स्वस्वरूप थिरताका माहात्म्य अनिवार है। इसहीको परमात्मदशा कहते हैं। इसीको योगीका परमयोग कहते हैं। इस योगमें किसी पवनके रोकने थांमनेकी जरूरत नहीं है। एक आत्मा द्रव्य ज्योंका त्यों व्यवस्थित है। यद्यपि द्रव्यत्व नाम सामान्य गुणके कारण पर्यायोंका परिणमन होता है—कोई भी द्रव्य व कोई भी गुण कूटस्थ नित्य नहीं रह सक्ता है। अगुरुलघु नामके सामान्य गुणमें सर्वज्ञ द्वारा बोधित वचनके अगोचर आगम प्रमाण संग्राह्म षट्गुणी पतित हानि तथा वृद्धि होती है। यह गुणद्रव्यमें सर्वांग व्यापक होता है इसीसे इस गुणके परिणमनके आश्रयसे सर्व द्रव्यमें व द्रव्यके सर्व गुणोंमें परिणमन होजाता है। यह परिणमन अटल स्वाभाविक परिणमन है। इससे द्रव्यकी द्रव्यतामें कोई दोष नहीं आता है वरन् द्रव्यके अस्तित्वका प्रकाश रहता है। सर्व

सिद्धोंमें, आकाशमें, धर्म, अधर्म व कालमें जो शुद्ध परिणमन है वही इस शुद्ध आत्मतत्वमें है। जैसे क्षीरसागरमें विना किसी मलके संयोगके निर्मल सदृश ही कल्लोल मालाए उठती हैं उसी तरह शुद्ध आत्मा द्रव्यमें पर्यायें होती हैं। तत्वरूपवती धारणाका ऐसा अनुभव करता हुआ यह मुनि पिंडस्थध्यानके रसको लेता हुआ परम संतुष्ट हो रहा है। पचधारणामई पिंडस्थध्यानके विकल्पको भी व्यवहार ध्यान ही कहते हैं। अब यह निश्चयनयसे जो देखता है तो इसको अपना आत्मा एक विशाल लोक दिख रहा है जिसमें अनत द्रव्योंके आकार गुण पर्याय सर्व झलकते हैं तथापि वहां रागद्वेष मोहका रंच मात्र भी झलकाव नहीं है। इस लोकको विश्वदर्पण कह सक्ते हैं। इस दर्पणमें सर्व कुछ दिखता है पर दर्पण उस किसी भी दृश्यमें रजित नहीं होता है। यह आत्मदर्पण अपने स्वभावमें मगन है। अपने स्वरूपमें तन्मय है। अपनी आभामें ही विकाशमान है। यह चैतन्य प्रभु इसतरह अपने भीतर भरे हुए शाति सुखके भडारका भोक्ता होता हुआ जिस स्वरूपानुभवसे प्रादुर्भूत आनन्दका अनुभव कर रहा है उसका वर्णन किसी तरह पर भी होना अशक्य है। यही स्वानुभव आध्यात्मिक सोपान है।

(९)

एक ज्ञानी मुनि सर्व प्रपचोंसे रहित हो धर्मध्यानका भले-प्रकार अभ्यास कर रहा है। पिंडस्थध्यानके अभ्यासके पश्चात् आज इसने पदस्थध्यानका आश्रय लिया है। किसी पदको कहीं विराजमान करके उस पदका आश्रय ले व उस पदके वाचकभावका

विचार करना पदस्थ ध्यान है। हृदय स्थानमें एक आठ पत्तेका कमल सफेद रंगका है उसके आठ पत्तोंपर क्रमसे णमो अरहंताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण, सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः ऐसे आठ पद पीले रंगके लिखे विचारे। फिर एक २ पत्तेपर क्रमसे ध्यान लगावे। जैसे पहले पत्तेके णमो अरहंताणं पर भाव जमावे। कभी तो उसे ही देखता रहे, कभी अरहंतके गुणोंका चिंतवन करे। इसी तरह शेष ७ पदोंकी तरफ जावे और उनके वाचक भावोंका मनन कर जावे। इस मननके समय यह भी विचार करे कि मेरे ही आत्मामें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुपनकी व सम्यग्दर्शन आदिकी शक्तियें भरी हैं। इस व्यवहार धर्मध्यानसे मन प्रापंचिकभावोंसे हटकर शुभोपयोगसे मिले हुए शुद्ध भावोंपर जम जाता है जिसके फलसे कर्मकी निर्जरा भी होती है व पुण्य कर्मोंका बंध भी होता है। कुछ देरतक ऐसा ध्यान करनेके पश्चात् यह ज्ञानी जीव निश्चयनयका आश्रय करता है और तब यह विचारता है कि मैं एक शुद्ध आत्म द्रव्य हूं, मेरे सर्व गुण शुद्ध हैं, मेरे सब परिणमन शुद्ध हैं। मैं एकाकी चैतन्यरूप हूं। जगतमें जितनी आत्माएं हैं वे सब मेरे समान शुद्ध व निर्विकार हैं। मेरेमें न किसीसे राग है न किसीसे द्वेष है। मैं अपने आपमें एक ऐसा दुर्ग पाता हूं जहां मिथ्यात्व व क्रोध, मान, माया, लोभका रंचमात्र भी प्रवेश नहीं होसक्ता है, न वहां कोई कर्मवर्गणा जासकती है न नोकर्मवर्गणा प्रवेश करसक्ती हैं, न वहां किसी अन्य आत्माका प्रवेश है। इसके असंख्यात प्रदेशोंमें ऐसी

संगठन शक्ति है कि लाख कोई कितना ही चूरे, खंड २ करे वे प्रदेश कभी टूटते नहीं, छिदते नहीं, भिदते नहीं। इस आत्माके लिये आध्यात्मिक भावोंका दुर्ग ही अनध्यात्मिक भावोंसे रक्षित रखनेवाला है। इस किलेमें इसके आरामके लिये सब कुछ सामान है। यह निःशंक क्षमाभूमि पर बैठा हुआ ज्ञान वैराग्य मित्रोंके साथ गोष्ठी कर रहा है वे ही मित्र अज्ञान और कषायसे इसे बचा रहे हैं। यह स्वानुभूति तियाके प्रेमसे प्रेमालु हो रात दिन उसीका ही ध्यान करता है। रत्नत्रयमय आभूषणोंसे अलंकृत हो यह ज्ञानी परम शोभाको विस्तार रहा है। यह अपने ही आपको अपने ही ज्ञान दर्पणमें पुनः २ देखता हुआ रंचमात्र तृप्ति नहीं पारहा है। परम शिवस्वरूप निजात्माका ही अनुभव करके जो सुख भोग रहा है वह वचनोंसे कहा नहीं जाता।

(१०)

यह ज्ञानी मुनि कर्मोंके बन्धनोंको काटनेके लिये धर्मध्यानका अभ्यास कर रहा है। पदस्थ ध्यानकी अनेक रीतियां है। उनमेंसे कभी किसी रीतिको कभी अन्य रीतिको काममें लेरहा है। आज यह विचारता है कि मेरे भौओंके मध्यमें ॐ अक्षर सूर्यसम चमकता हुआ विराजमान है, इस अक्षरपर यह अपना ध्यान जमाता है और मध्यमें इस अक्षरके वाच्य श्री अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठियोंका ध्यान करता है—उनका स्वरूप विचारता है। अरहंतका अ, सिद्धको अशरीर कहते हैं उसका प्रथम अक्षर अ, आचार्यका आ, उपाध्यायका उ, साधुको मुनि कहते हैं प्रथम अक्षर म्, इसतरह पांच प्रथम अक्षरोंको मिलानेसे ॐ शब्द

बन जाता है। भावमें आत्मश्रद्धा होते हुए तथा आत्माका यथार्थ स्वरूप ज्ञानमें झलकते हुए मनकी एकाग्रताके लिये यह पदस्थ-ध्यान आलम्बन मात्र है। इस मंत्रको ध्यान करता हुआ यह भले प्रकार समझता है कि यह आत्मा ही यथार्थमें पंचपरमेष्ठीरूप है। उनकी भक्ति व आराधना इसीलिये है कि उनमें शुद्धोपयोगका निवास है। इस तरह व्यवहार ध्यानसे दिल हटाकर अब यह निश्चयनयके आश्रयसे देखने लगता है तब ध्याता और ध्येयका द्वैतभाव मिट जाता है। अद्वैत एक निज आत्माराम ही उपयोगमें जम जाता है, उस समय एक अद्भुत दृश्य नजर आता है, हरजगह निर्मल ज्ञानका साम्राज्य दिखता है। हरजगह वीतरागताका खुशनुमा रंग झलकता है। हरजगह स्वाधीन आनन्दका स्वाद आरहा है। छः द्रव्योंके अस्तित्व नास्तित्वका विकल्प मिट जाता है। सात तत्वकी कल्पना विदा होजाती है। प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणका झगड़ा भी चला जाता है। निश्चयनय व्यवहारनयका द्वैतभाव भी मिट जाता है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन चार निक्षेपोंकी कल्पना भी चली जाती है। द्वादशांग वाणीका समस्त विस्तार एक आत्मीकभावमें समा जाता है। समयसारका परमानन्दमय भाव जागृत होजाता है। मन वचन कायका व्यापार बंद होजाता है। निश्चयनयके द्वारा जब उपयोग स्वात्माभिमुख होता है तब स्वानु-भवका साम्राज्य ही झलकता है इसके शांतमय राज्यमें परानुभवका प्रवेश नहीं होने पाता है। स्वानुभवका महत्व वही जाने जो स्वा-नुभवी हो। स्वानुभवका आनन्द वही भोगे जो स्वानुभवी हो। किसी महात्माके शब्दोंमें यह शक्ति नहीं है कि उस अद्भुत

आनन्दका वर्णन कर सके। यदि कोई कहनेका प्रयास बुद्धिपूर्वक करेगा वह मात्र पूर्वानुभवकी स्मृतिसे ही कुछ करसके तो करसके। सुननेवालेको शब्दोंसे स्वानुभव नहीं होसक्ता है। वह जब इन्द्रियोंका और मनका व्यापार त्यागकर आप ही आपसे आपमें तन्मय होगा तब ही स्वानुभवको पासकेगा। वास्तवमें स्वानुभव ही अध्यात्मिक सोपान है। यही सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्ज्ञान है व यही सम्यक्चारित्र है। यही संवर है, यही निर्जरा है, यही मोक्ष है। स्वानुभवकी धारा अविरत सम्यग्दर्शन नामके चौथे गुणस्थानसे बहती हुई लगातार सिद्ध पर्याय तक चली जाती है। यह गंगा नदी अपनी मुटाईमें बढ़ती जाती है। यहांतक कि अगाध समुद्रवत् होजाती है। जो इस गंगामें स्नान करते हैं वे ही आत्मिक सुखका स्वाद पाकर परम तृप्त होजाते हैं।

(११)

यह ज्ञानी मुनि सर्व प्रपंचजालोंसे मनको रहित करके एकांत स्थलमें तिष्ठकर धर्मध्यानका अभ्यास कर रहा है। पिंडस्थ तथा पदस्थ ध्यानका अभ्यास करके आज इसने रूपस्थ ध्यानका प्रारम्भ किया है। अपने हृदयमंदिरमें यह साक्षात् अरहंतका दर्शन कर रहा है। अरहंत भगवान गंधकुटीमें पद्मासन विराजमान हैं। छत्र सिंहासनादि प्रातिहार्योंसे शोभित हैं। बारह सभा लगी हैं उनमें चार प्रकारके देव, चार प्रकारकी देवियां, मुनि, आर्यिका, मनुष्य व पशु क्रमशः इसलिये विराजमान हैं कि प्रभुकी दिव्यध्वनि प्रगट हो, जिससे धर्मामृतका पान कर परम तृप्तता लाभ किया जासके। इन्द्रादिदेव आते हैं, परम भक्तिसे स्तुति पढ़ते हैं। मनोज्ञ अष्ट-

द्रव्योंसे पूजन करते हैं। चार तरफके भव्यजीव प्रभुके शांत मुखका दर्शन कर रहे हैं। प्रभुका देदीप्यमान मुख वीतरागताकी खान है। जहां क्रोध मान माया लोभका अंशमात्र भी नहीं है, प्रभु अपने आत्म-स्वरूपमें मग्न हैं, स्वात्मानंदका स्वाद लेरहे हैं। इतनेमें भगवत्‌की वाणी प्रगट होती है। सर्व श्रोता श्रवणकर जिस शांतिको प्राप्त करते है वह शांति किसी भी पौद्गलिक पदार्थसे कभी भी प्राप्त नहीं होसक्ती है।

श्री अरहंतके रूपके दर्शनमें एकाग्र मन करता हुआ रूपस्थ ध्यानका विचार कर रहा है, कभी अरहंतकी किसी ध्यानमई मूर्तिको हृदयमें धारण कर उसके द्वारा अरहंतकी वीतरागताका मनन कर रहा है। इसतरह रूपस्थ ध्यानके अभ्याससे वीतरागता गर्भित शुभोपयोगमें वर्तन कर रहा है। इस विकल्पमय ध्यानको बंधनका कारण जानकर यह ज्ञानी व्यवहार नयकी दृष्टिको गौण करता है और निश्चयनयसे पदार्थको देखना शुरू कर देता है। निश्चयनयसे देखते हुए सर्व ही जगतके पदार्थ अपने मूल द्रव्यके रूपमें दिख जाते हैं। जितनी अनंत पर्यायोंका नाटक जगतमें होरहा है उसका दिखना बन्द होजाता है। सर्वही द्रव्य निष्क्रिय, परम शात, अपने स्वभावमें चमक रहे हैं। इन सबमें एकके ऊपर ज्ञानोपयोग है, अन्य पाच ज्ञानोपयोगसे शून्य हैं। ज्ञानोपयोगके रत्नसे विभूषित सर्व ही जीव द्रव्य एक समान दिख रहे हैं। सबका आकार भी एक, सबके गुण भी एक, सबके स्वभाव भी एक। सर्वत्र लोका-काशमें भरे हुए शुद्ध जीवद्रव्य एक विशाल लोक प्रमाण ज्ञान सूर्यके समान दृश्य दिखलाये हैं। इनकी अद्भुत ज्योतिके सामने

और सब ज्योति मंद पड़ गई है। इसको केवलज्ञान ज्योति कहते हैं। इस ज्योतिमें जैसे सर्व जीव मग्न हैं वैसे मैं भी मग्न हूं। बस इस भावनाके प्रतापसे यकायक यह इस ज्योतिमें समा जाता है। मैं और मेरी ज्योति इस द्विविधाको मिटा देता है। एकाग्र होते ही जो स्वानुभवका आनन्द पाता है वह वचन अगोचर है। स्वानुभवकी मग्नता आध्यात्मिक सोपान है। इसीपर चढ़कर भव्य पुरुषार्थी स्वानुभवके महलमें पहुंच जाते हैं और तब वहां अनन्त-काल तक विश्राम ही करते रहते हैं। जो स्वानुभवको ध्यावे वही सच्चा श्रावक कहलावे, जो स्वानुभवको ध्यावे वही सच्चा सम्यग्दृष्टी कहलावे। स्वानुभव ही केवलीका स्वभाव है। स्वानुभव ही सिद्धका स्वभाव है। स्वानुभव ही मोक्ष है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है। स्वानुभव ध्येय है, स्वानुभव ध्यान है, स्वानुभव ध्याता है। स्वानु-भव ही आप है, आप है सो स्वानुभव है, यही अद्वैतभाव है। यही स्याद्वादमय गर्भित द्वादशांगका सार है। यही वास्तवमें समयसार है।

(१२)

यह ज्ञानी मुनि धर्मध्यानका विचार करता हुआ आज रूपा-तीत ध्यानका अनुभव कर रहा है। मैं सिद्धसम शुद्ध हूं, अमू-र्तिक हूं, पौद्गलिक रूपसे रहित परन्तु चैतन्यमई धातुसे बनी हुई स्फटिक मणिकी मूर्ति समान निर्मल हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं, तथापि अपने शरीरमें मैं सर्वांग व्यापक हूं, मेरेमें न राग है, न द्वेष है, न मोह, न कोई कर्म हैं, न नोकर्म हैं, न कोई आस्रव सम्बन्धी भाव हैं न अशुभ व शुभ उपयोग है न बंधके कारण

कषायोंके अश हैं, न मेरा रूप नारकी है न देव है, न मानव है, न पशु है, न मैं बाल हूं, न वृद्ध हूं, न युवान हूं, न मैं शिष्य हूं, न गुरु हूं, न मैं सेवक हूं, न मैं स्वामी हूं, न राजा हूं, न रंक हूं, न मैं श्रावक हूं न मुनि हूं। न केवली हूं न उपदेश-दाता हूं। मैं तो मात्र चैतन्य रूप ज्ञाता दृष्टा अविनाशी पदार्थ हूं। मेरे जितने गुण हैं मेरे जितने स्वभाव हैं सब मेरेमें हैं वे मुझसे कभी जुदे हुए नहीं होते नहीं, होंगे नहीं। मैं गुणपर्याय मय अखण्ड अमिट एक जीव द्रव्य हूं। मेरा यह देहसे रुका हुआ आकाश सिद्धक्षेत्र है उसमें विराजित मैं सिद्धरूप हूं। मैं कभी निर्मल नहीं होता क्योंकि मैं आत्मीक आनन्दरूपी अमृतका स्वाद लेता रहता हू। मैं सदा कृतकृत्य हू, मुझे कोई चाह नहीं होती जिसकी पूर्तिके लिये मुझे इस जगतमें कोई जातिका आरम्भ करना पड़े। मैं सदा वीतराग हूं, मेरे ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थ झलकते हैं परन्तु उनमेंसे किसीसे मैं राग व किसीसे द्वष नहीं करता। इस तरह सिद्धसम शुद्ध निर्मल जलके समान अपनेको अनुभव करना रूपातीत ध्यान है। इसको भी परमात्म तत्वके अनुभव करनेवालोंने व्यवहार ध्यान कहा है क्योंकि यहां द्वैत है। निश्चय ध्यान अद्वैत है। अद्वैत भावका अवलम्बन करते हुए यह कहां है कहां नहीं है यह क्या है व क्या नहीं है इत्यादि सर्व विकल्प जालोंका अभाव होता है। आप आपमें रमता हुआ १४ गुणस्थान व १४ मार्गणाओंके भेदोंसे अतीत होजाता है। इस कालमें यह ज्ञानी मुनि निजानन्दके स्वादको लेते २ ऐसा उन्मत्त और वेखबर होजाता है कि इसको अन्य कुछ विचार नहीं आता। सच है या तो मादक

वस्तुके सेवनसे उन्मत्तता आती है या अत्मानुभवके परम निर्मल मद्यके पानसे उन्मत्तता आती है। यह दशा साक्षात् परमात्म दशा है, यह दशा साक्षात् ज्ञान सूर्यका विकाश है, यह दशा साक्षात सुखशांतिका निवास है, यह दशा साक्षात यथाख्यात चारित्र है।

(१३)

यह ज्ञानी मुनि व्यवहारनयके द्वारा ध्याता व ध्येयकी भिन्न२ कल्पना करके ध्यानके अभ्यासको वढाता हुआ परम वीतरागभावोंकी वृद्धिका यत्न कर रहा है। जिन महात्माओंका ध्येय शुद्धात्मा है वे अशुद्धात्मापनकी परिणतियोंसे हटते हुए शुद्धात्मापनेकी ओर लेजानेवाली परिणतियोकी ओर झुकते चले जाते हैं और अपने भीतर वीतराग विज्ञान भावकी वृद्धि करते रहते हैं। जैसे मैले कपड़ेका मैल वार २ रगड़ देनेसे कटता है वैसे मैले आत्माका मैल वार २ धर्मध्यानके अभ्याससे कटता है। संवर और निर्जराका कारण यह धर्मध्यान है। सातवें व छठे अप्रमत्त व प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव इस तरह ध्यानका अभ्यास करता हुआ आत्मप्रगति करता है। परन्तु यह सब सविकल्प ध्यान है इससे वह एकाग्रता प्राप्त नहीं होती है जिसमें आत्मा आत्मरूप होकर आप आपमें तन्मय होजावे और कुछ कालके किये विचारकी तरंगोंसे वाहर निकल जावे। इस अनुपम ध्यानके लिये निश्चयनयके आश्रयकी जरूरत है। इसलिये यह ध्याता मुनि निश्चयनयके आलम्बनसे जव देखने लगता है तव अपने आत्माको जैसाका तैसा शुद्ध वीतराग ज्ञानानन्दमय परम अमूर्तिक पाता है। उसमें न रागद्वेष मोहकी कोई कालिमा नजर आती है न ज्ञानावरणादि आठ

कर्मोंके बंधन दिखते हैं न शरीरादिका कोई सम्बंध नजर आता है। सर्वसे भिन्न आत्माराम अपनी सत्ताको लिये हुए इसी तरह झलक रहा है जैसे सुवर्णमुद्रिकामें जड़ा हुआ एक हीरेका नगीना चमक रहा हो। निश्चयनयसे देखते हुए जैसा अपना आत्मा दिखता है वैसा ही अन्य आत्मा भी दिखता है। इस दृष्टिमें एकेंद्रियसे पंचेंद्रियतकके भेद व नारक, देव, पशु या मानवगतिके भेद कोई भी नहीं दिखलाई पड़ते हैं। न इसमें कोई बाल-वृद्ध युवावस्थाके भेद न नीच ऊचके कोई भेद नजर आते हैं। सर्व ही आत्माएं शुद्ध दिखलाई पड़ती हैं। सर्व ही निश्चल, अपने स्वरूपमें एकाग्र अपने आपमें मगन मालूम होरहे हैं। आत्माके सिवाय जितने पुद्गलादि द्रव्य है वे भी अपने २ स्वभावमें निश्चल दिख रेहे हैं। इस दृष्टिमें छहों ही द्रव्यको रखते हुए भिन्न २ सत्ता एक दूसरेके सम्बंध रहित झलक रहे है। इस तरह देखते हुए ज्ञानी जीवके भीतर साम्यभावकी अनुपम गुफा बनजाती है। यह उसी गुफामें बैठ जाता है और त्रिगुप्तिमई समाधिके किवाड लगालेता है। इस समय क्या अनुभवमें आता है इसको वही जानता है। यह अध्यात्मज्ञानकी अनुपम छटाको पहुच जाता है। मानो यह आत्मीक रसमें उसी तरह मगन होजाता है जैसे मक्खी मधुके स्वादमें तन्मय होजाती है। अद्भुत आनन्दका लाभ लेते हुए जो वचन अगोचर स्थिति उत्पन्न होजाती है इसको सिवाय अनुभवकर्ताके और कोई जान नहीं सकता है। वास्तवमें यही आध्यात्मिक सोपान है।

शुक्लध्यान ।

(१)

क्षायिक सम्यग्दृष्टि परमज्ञानी मुनि सातवें व छठे गुणस्थानमें धर्मध्यानको ध्याता हुआ परिपक्व होगया है । अब सातवें गुणस्थानमें क्षायिक श्रेणी चढ़नेके लिये सन्मुख हुआ है कि चारित्र मोहनीयका या रागद्वेषका सर्वथा संहार किया जावे । इसलिये पहले तो स्वस्थान अप्रमत्त कहलाता था अब सातिशय अप्रमत्त कहलाता है। जिन चढ़ते हुए विशुद्ध परिणामोंसे दर्शनमोहनीय या चारित्र-मोहनीयका उपशम या क्षय किया जाता है उन परिणामोंको करण कहते हैं । इनकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते है । इन परिणामोंकी तीन प्रकारकी जातियें हैं इसीसे करण लब्धिके तीन भेद हैं । जहां पीछेवाला आगेवालेके साथ बराबरी कर सके ऐसे परिणामोंकी प्राप्तिको अधःकरण लब्धि कहते हैं । जहां पीछेवाला आगेवालेके साथ कभी भी बराबरी न कर सके व एक साथ प्रारम्भ करनेवाले सदृश या विसदृश रहें उन परिणामोंकी प्राप्तिको अपूर्वकरणलब्धि कहते हैं । जहांतक साथ प्रारम्भ करनेवालोंके परिणाम समान उन्नति करते हुए सदृश रहें उन परिणामोंकी प्राप्तिको अनिवृत्तिकरण लब्धि कहते हैं । सातिशय अप्रमत्त होकर इस वैरागी मुनिने अधःकरण सम्बन्धी परिणामोंको अंतर्मुहूर्त तक सातवें ही गुणस्थानमें तय करके आठवें गुणस्थानपर पद रक्खा है इसको अपूर्वकरण गुणस्थान या अपूर्वकरण लब्धि कहते हैं । इसके अंतर्मुहूर्त कालमें परिणामोंकी उज्वलताकी अपूर्व छटा होरही है, यहां पृथक्त्व वितर्कविचार नामके शुक्लध्यानका प्रारम्भ होजाता है । जहां भिन्न २

करके शब्दका व द्रव्य गुण पर्यायका व मन वचन कायके योगके आलम्बनका परिवर्तन हुआ करे उसे प्रथम शुक्लध्यान कहते हैं। यह परिवर्तन ध्याताकी बुद्धि पूर्वक नहीं होता है किन्तु पूर्व अभ्यासके बलसे अबुद्धिपूर्वक होजाता है। पहले धर्मध्यानमें आत्मा, जीव, चैतन्य, ज्ञान, दर्शन आदि शब्दोंका व आत्मद्रव्य, सिद्ध पर्याय, ज्ञानगुण, दर्शनगुणका व काय, वचन, मनका बुद्धिपूर्वक परिवर्तन था वह यहां अबुद्धिपूर्वक होजाता है जैसे चिरअभ्यासीके मुखसे पाठोच्चारण विना सोचे हुए होजाता व निरन्तर मार्गगमनशीलका पाद उसी मार्गमें विना सोचे हुए ही पड जाता। इस ध्यानमें ध्याताका भाव शुद्ध इसलिये कहाता है कि कषायका इतना मंद उदय होरहा है कि ध्याताके भावोंको नहीं मालूम होता कि उनमें कोई मेल है। वास्तवमें यहां बिलकुल स्वानुभवरूप आत्मस्थ दशा है न यहां व्यवहारनयका न निश्चयनयका कोई आलंबन है। यह दशा विलकुल स्वानुभव रूप आतमस्थ दशा है न यहां व्यवहारनयका न निश्चयनयका कोई आलंबन है। यह दशा बिलकुल नयातीत है, स्वात्ममग्नता रूप है, स्वसंवेदनरूप है, स्वरूपाशक्तिरूप है, मात्र आत्मरूप है। यहां आत्मा आत्माहीके आसनपर बेठा हुआ आत्माको ही आत्माके द्वारा आत्माके लिये आत्मासे ही अनुभव कर रहा है। कहनेको षट्कारक—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, आधारके विकल्प हैं। वास्तवमें वहां ध्याताके भावमें कोई विकल्प नहीं है। परमानन्दमई आत्मीक भावमें जागृत रहता हुआ जो अपूर्व शांतिका लाभ होरहा है वह वचन अगोचर है, मात्र अनुभव गम्य है।

(२)

ज्ञानी मुनि कर्मवंशके संहार करनेकी अंतरंग भावनाको रखनेवाला-आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानसे नौमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें चढ़ गया है। यहां तीसरी करणलब्धि सम्बंधी भाव होरहे हैं। समय २ अनन्त गुणरूप परिणामोंकी विशुद्धता बढ़ती जाती है। शुक्लध्यान यहां भी प्रथम ही प्रकारका है। यद्यपि यहां भी द्रव्यगुण पर्यायका परिवर्तन, शब्दका परिवर्तन तथा योगका परिवर्तन होता है परन्तु सब अबुद्धिपूर्वक होता है। ध्याता तो अपने आत्माके आनन्दमें ऐसा मगन है कि उसके आठवें व नवमें गुणस्थानकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं है। इस अनिवृत्तिकरण सम्बंधी शुद्ध भावोंके कारण शनै. २ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, क्रोध, मान, मायाके १२ भेद, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन ऐसी १८ प्रकृति तथा अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान लोभ इन दो प्रकृतियोंको लेकर २० प्रकृतियोंका क्षय होजाता है। जिस समयतक इनका क्षय नहीं हो लेता है उस समयतक नौमा गुणस्थान कहलाता है। व्यवहारनयसे देखते हुए ये सब उतार व चढ़ावकी स्थितियां होती हैं। इस दृष्टिमें ध्यान आत्माकी तरफ न होकर कर्मके उदयसे जो मलीनपनेकी बढ़ती व कमती अवस्थाएं होरही हैं उनही पर ध्यान है। जब निश्चयनयके आश्रयसे विचार किया जाता है तो पता चलता है कि आत्मा सर्व ही गुणस्थान और मार्गणा स्थानोंसे बाहर है। न उसमें अपूर्वकरण लब्धि है न अनिवृत्तिकरण लब्धि है। आत्मा शुद्ध ज्ञानादर्शनमई परम वीतराग आनन्दमई ही दिखरहा

है। सिद्ध परमात्मामें और इस आत्मामें कोई प्रकारका अंतर नहीं है। मैं सिद्ध, शुद्ध, निरजन, अव्याबाध, अजर, अमर, अविनाशी, सर्व क्रोधादि विकारोसे रहित हूं ऐसा श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र एक आत्मामई भाव है, ऐसी ही परिणति शुद्ध निश्चयनयका विषय है। इस ही को मोक्षमार्ग व मोक्ष कहते है। इस दृष्टिमें देखते हुए राग द्वेष, क्रोध, मान, माया व लोभके विकल्प कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ते हैं। सांसारिक किसी भावका कोई भी पता नहीं चलता है। एक चेतनात्मक वीतराग शुद्ध अवस्था ही यत्र तत्र दिखाई पड़ती है। जो कुछ अपने शरीररूप देवलमें शुद्ध देव है वही अन्य शरीरोंके भीतर भी नजर आता है। वास्तवमें यह द्रव्यदृष्टि है इसमें पर्यायदृष्टि गौण होजाती है। जीव पुद्गलादि छहों द्रव्य अपने २ स्वरूपमें ही दिखलाई पड़ते है। जगतकी पर्यायाश्रित रचनाका इस दृष्टिमें अभाव होजाता है, शुद्ध दृष्टिका साम्राज्य ही विराजमान होजाता है जहां न द्वैत है न अद्वैत है, न मैं हू न तु है, न एक है न अनेक है, न ध्याता है न ध्येय है, न ज्ञाता है न ज्ञेय है, वही एक अध्यात्म सोपान है, वही एक शांत सागर है, वही ज्ञानानंद है, वही अमृतका सरोवर है जहां निमज्जन करना सर्व आतापको शांतकर निराकुल शांतभाव प्रदान करता है।

(३)

यह ज्ञानी मुनि सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होता हुआ अपनी आत्मसमाधिमें लीन है। अनिवृत्तिकरण नामके नौमें गुणस्थानसे चढ़कर दसवें सूक्ष्मसांपराय नाम गुणस्थानमें आगया है।

यहां मात्र सूक्ष्म लोभकषायका अबुद्धिपूर्वक उदय है । ध्याता प्रथम शुक्लध्यानको ध्याता हुआ आत्माके अनुपम रसके स्वादमें मगन है । यद्यपि वह क्षपक श्रेणीके पथमें चलनेवाला परमात्मा पदके निकट है तथापि व्यवहारनयसे देखते हुए इसका मार्ग स्वपदसे विमुख है । कर्मोंके उदयके आधीन गुणस्थानकी रचना है । निश्चयनयको जब सामने लाया जाता है तब यह देखा जाता है कि यह आत्मा सर्व गुणस्थानोंकी कल्पनाओंसे दूर है । यह एक अखण्ड अमिट अविनाशी चैतन्य सत्तारूप आत्म द्रव्य है, जिसमें अनंतज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुण कूट २ कर भरे हैं जो अनुपम सूर्यके समान नित्य प्रकाशमान है, जिसका उदय कभी किसी भावकर्मसे, किसी द्रव्यकर्मसे व नोकर्मसे रोका नहीं जाता है, जो कभी अस्त नहीं होता, जो कभी मदतापर नहीं पहुंचता, जो सदा ही अनुपम ज्योतिसे दीप्तिमान है । इसकी दीप्ति सूर्यप्रभासम तापकारी नहीं है । यह परम सुख व शांतिको देनेवाली है । इसका दर्शन कभी भी दर्शकके मनको क्षोभकारी नहीं है किन्तु परम निराकुलताको उत्पन्न करनेवाला है । यह अनुपम सूर्य चलाचलसे व सकम्पपनेसे रहित है । यह स्फटिककी मूर्ति समान स्थिर व परम शोभनीय है । इस सूर्यकी श्रद्धा तथा ज्ञान द्वारा, आपमें प्रकाश होना स्वात्मानुभव है । यही परम औषधि है जो भवरोगको नाश करनेवाली है, आत्मपुष्टिका कारण यह है, यही वह अपूर्व मंत्र है जो रागादिभाव विकारोंके दूर रखनेवाला है जो कर्मोंके जालसे आत्माके क्षेत्रको रक्षित रखनेवाला है । यही वह सरोवर है जहां मग्न होनेपर सर्व भव आताप शांत होजाता है और परम

शांतताका प्रादुर्भाव होजाता है। यही वह दीपक है जहां सर्व आत्माएं संसारी तथा सिद्धके द्वैतभावसे छूटकर एक अद्वैत सहज रूपमें एकसी ही दिखलाई पड़ती हैं इसीसे परम साम्यभावका प्रकाश होजाता है। यही वह गुफा है जहां विश्राम करनेवालेको किसी प्रकारका भय नहीं रहता है तथा इस गुफामें रागद्वेषरूपी सिंह प्रवेश नहीं करपाते हैं। यही वह परम सुखदाई अमृत है जिसका पान करके सर्व विषयसुखकी कालिमा मिट जाती है, आत्मामें अपूर्व गौरव उत्पन्न होजाता है। इस तरह आत्मसाक्षात्कारको पाए हुए यह ज्ञानी जिस आध्यात्मीक रसका पान कर रहा है उसका कोई वर्णन हो नहीं सकता। यही वह रस है जिसे सिद्धात्मा, अरहतात्मा, आचार्य, उपाध्याय व साधु महात्मा नित्य पान करके अद्भुत लाभ उठाते हैं।

(४)

ज्ञानी मुनि क्षपकश्रेणीपर चढ़ा हुआ दसवें गुणस्थानसे बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थानमें आजाता है। दसवें तक सूक्ष्म लोभका उदय था यहां सर्व मोह कर्मकी सत्ताका क्षय होजाता है। अतएव यथाख्यातचारित्र वीतराग भाव प्रकाश होजाता है। निर्मल चारित्रको लिये हुए यह साधु इस गुणस्थानके प्रथम समयसे लगाकर एक अंतमुहूर्त तक पहले ही शुक्लध्यानको ध्याता रहता है फिर इस कालसे संख्यातवां भाग काल जब १२ वें गुणस्थानका रह जाता है तब एकत्ववितर्क अवीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान शुरू होजाता है। इस ध्यानमें जिस द्रव्य या पर्यायके आलंब व जिस शब्दके आश्रय व जिस योगके आश्रय पहले शुक्लध्यानके

अंतमें होता है उसी रूपसे रह जाता है । यहां ऐसी गम्भीर एकाग्रता होती है कि पलटना बंद होजाता है । क्षीणकषाय गुण-स्थानी मुनिके ध्यानमई तपके प्रभावसे जितने निगोद जीव शरीरमें होते हैं वे धीरे २ सब मर जाते हैं व नए निगोद जीव पैदा नहीं होते हैं । जो हैं वे अपनी आयु कर्मके क्षयपर ही मरते हैं, उनको मारा नहीं जाता है उनकी आयु ही अति अल्प होती है। इसीके साथमें शरीरकी धातु उपधातु भी भस्म होकर कपूरवत् होजाती है । आत्मीक एकाग्रताकी अपूर्व महिमा है । यह दूसरा शुक्लध्यान तीक्ष्ण अग्नि है जो शरीरको कुन्दनवत् चमत्कृत बना देती है—सर्व विकारोंको हटा देती है । व्यवहार नयसे देखते हुए यह मुनि अभी १३ वें व १४ वें गुणस्थानसे नीचे है। यह निर्ग्रन्थ तो है परन्तु स्नातक नही है । यह उत्कृष्ट अन्तरात्मा तो है परन्तु परमात्मा नहीं है तथापि जब निश्चयसे देखा जावे तो इस परम साधुकी आत्मामें किसी गुणस्थानका झगड़ा नहीं है । यह आत्मा स्वयं पूर्ण स्वभाव है । इसमें कोई कमी नहीं है । यह अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीर्यका पिंड अमूर्तीक अटूट अमोघ शक्ति-धर परम विशाल आत्मद्रव्य है। यह अनादिसे अनतकाल तक जैसा है वैसा ही रहनेवाला है । यह सदा स्वभाव मस्त रहता है, वह कभी विभावनाको नही पाता। रागद्वेष, मोहादिका इस आत्म प्रभुसे किसी तरहका सम्बन्ध नहीं है तब इस आत्माका द्रव्यकर्म व नोकर्म शरीरादिसे क्या होगा । यह स्वयं अपनेको अपनेमें आपी देखता है ओर अपनी आश्चर्यकारी शोभाका दर्शन पाकर स्वयं तृप्त होरहा है । इसकी स्वरूप सत्ताका बोध परम आदरणीय है ।

यह अपने ही विशाल असंख्यात प्रदेशमय क्षेत्रमें विश्राम करता हुआ अपने अनन्तज्ञान सुखादि गुणोंका आस्वाद लेता हुआ जो संतोष प्राप्त कर रहा है उसका वर्णन कोई नहीं कर सक्ता है। जो जानै सो जानै, जो मानै सो मानै।

केवलज्ञान।

(१)

परम तत्वज्ञानी साधु शुक्लध्यानके बलसे जब मोहका सर्वथा नाश कर चुका था तब बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थानमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंका भी नाश कर झटसे तेरहवें गुणस्थानमें पहुच जाता है। बस केवलज्ञान ज्योतिका उदय होजाता है। इस समय इस मुनिको स्नातक व केवली या अर्हत् या जिनेन्द्र या सयोगकेवली कहते है, जीवन्मुक्त होनेका सौभाग्य प्राप्त होजाता है। आत्मा घातिया कर्मोंके प्रभावमें निश्चल निष्कम्प समुद्रवत् होजाता है, उसके भीतरसे रागद्वेष मोहका कारण सब मिटजाता है। आत्मा आत्मसन्मुखतासे कभी भी विमुख नहीं होता क्योंकि विमुखताका कारण मोहका अभाव होगया है। आत्मा आपमें ही निश्चल हो विश्रांति करता है। मनकी चचलता सब मिट गई है। भाव इन्द्रिय व भाव मनका सब कार्य बन्द होगया है। मन व इन्द्रिय द्वारा होनेवाले मतिज्ञान व श्रुतज्ञान यहां केवलज्ञान समुद्रमें लय होगए हैं। स्वात्मरस वेदनेका कार्य प्रभु अरहंतके निरंतर चलता है। वीतराग शात प्रभु तीन कालकी तीन लोककी सर्व समयकी

पर्यायोंको जानते हैं तथापि उनमेंसे किसीमें भी राग द्वेष नहीं करते । इसीसे प्रभु स्तुतिकर्तापर प्रसन्नता व निंदाकर्ता पर कोई द्वेषभाव नहीं लाते हैं । ऐसे केवलज्ञानी होकर भी शरीर सहित व चार अघातिया कर्म सहित होनेके कारणसे अशुद्ध व संसारी ही कहलाते हैं । सिद्धकी नामावलीमें नहीं आते क्योंकि अभी भी आत्माके साथ कर्ममल है । खेद है कि व्यवहारनयकी दृष्टिमें समल आत्मा दिखता है । धन्य है निश्चयनय जिसके द्वारा देखते हुए किसी भी आत्मामें कोई सयोग केवलीपना व १३ वां गुण-स्थान नजर नहीं आता है । सब ही आत्माएं एक रूप निरंजन निर्विकार परम स्वास्थ्ययुक्त व परम साम्यमय दिखती हैं, सब ही शुद्ध हैं, सब ही ज्ञानमय अविनाशी हैं, सब ही जन्ममरण रोगसे मुक्त हैं, सब ही परमात्मरूप हैं, सब ही ईश्वर हैं, अनेक होनेपर भी गुणोंकी अपेक्षा समान हैं, एक हैं । मैं जब इस दृष्टिसे देखता हूं, अपने आप ही परम वीतरागतामय समता भावमें तन्मय होजाता हूं, अध्यात्मिक सोपानपर चढ़ जाता हूं और आत्मरसमें मस्त हो परम आनन्दका स्वाद लेता हुआ नहीं अघाता हूं ।

(२)

एक साधारण आत्मा परमात्मपदमें पहुंच जाता है । आत्मीक पुरुषार्थकी अपूर्व महिमा है । श्री अमृतचंद्राचार्यने पुरुषार्थसिद्धि-उपायमें क्या ही अच्छा कहा है—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्यनिजतत्वम्
यत्तस्मादविचलनं पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ॥

भावार्थ—विपरीत अभिप्राय या मिथ्याभावको दूर करके तथा

भलेप्रकार अपने आत्मीक तत्वोंकी श्रद्धा ला करके जो उस आत्मीक तत्वसे चलायमान न होना अर्थात् उसीका ध्यान करना यही आत्माकी सिद्धि पानेका उपाय है। आत्मध्यानकी अग्निसे कर्मोंका मैल कटता है और आत्मा स्वच्छ होता है। इसी आत्म-ध्यानने आज एक आत्माको केवलज्ञानी अर्हन्त परमात्मा कर दिया है। अर्हन्त परमात्माके जो पुण्यकर्म सचयमें होता है वह उदयमें आजाता है इसलिये जीवनभरतक कोई प्रकारकी असाता प्रभुको नहीं होती है। रात्रिदिन जो अनन्त बलके धनी हों, रात्रि-दिन जो स्वरूप मस्त हों, रात्रिदिन जो आत्माके आराममें क्रीड़ा करते हों, रात्रिदिन जो स्वात्मानुभूतितियामें सलग्न हों, रात्रिदिन जो अतीन्द्रियज्ञान व सुखके धनी हों उनके आकुलता, चिंता, क्षोभ, निर्बलता, खेद, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माय, लोभ, आदि विकार किस तरह होसक्ते हैं? प्रभु स्वयं अपने आपमें रहते हैं, चार अघातिया कर्म अपना रस देकर प्रभुको शरीरमें रखते हुए शरीरसे अनेक क्रियाएं कराते रहते हैं। प्रभुकी इच्छाके विना भी कर्मकी प्रेरणासे क्रियाएं होती रहती हैं जैसे—मानवकी आंख अपने आप फड़क जाती व रात्रिको मुखसे अनेक शब्द बाहर होजाते हैं।

केवली भगवान इस सयोग अवस्थामें रहते हुए ससारी नामसे अलकृत हैं, यह कर्मबधकी महिमा है, यह पर वस्तुके संयोगका फल है, यह व्यवहार दृष्टिका दृश्य है। जब निश्चय दृष्टिसे देखा जाता है तो केवली भगवान एक परमपवित्र शुद्ध आत्मा है, न वहां कोई कर्मजाल है, न शरीरका सम्बन्ध है, न न वहां कोई विकार है, न कोई क्रिया है, न कोई वचन विलास

है। पौद्गलिक क्रियाओंसे बाहर एक परम पवित्र आत्मा शुद्ध ज्योतिके समान चमक रही है। इस आत्माका द्रष्टा भी उसीके समान आत्मा है। जो दर्शक है वही दृश्य है। अद्भुत ठाठ है। सारे भूमण्डलमें सर्व ही आत्माए एक रसमें मग्न हैं, सब ही शांत-रससे सुशोभित हैं, सर्वका एकाकार दर्शन शांत रसका समुद्र बना देता है जिसमें स्वानुभवी मग्न हो जिस शांतभावको पाता है उसका कथन कोई कर नहीं सक्ता है। वह मात्र स्वाद योग्य है।

(३)

केवलज्ञानी अर्हन्त अवस्थामें त्रिलोकके छद्मस्थ जीवोंके द्वारा पुज्यनीय होजाते है—उनकी धर्मसभामें देव मनुष्य पशु सर्व ही विना भेदभावके बैठ जाते हैं और धर्मामृतका पान करते हैं—प्रभुकी दिव्यध्वनि प्रगट होकर सर्व श्रोताओंको एक ही समयमें भिन्न २ अपनी २ भाषामें ही सुन पड़ती हैं—सब समझते हैं मानों हमारी भाषामें ही प्रभुका उपदेश होरहा है। एक दफे सर्व सभाके सन्मुख प्रभुकी वाणीमें द्रव्यकी चर्चा निकली, उसका भाव यह है कि जो द्रवण करे—परिणमन करे—कूटस्थ नित्य न रहे वह द्रव्य है—तथा द्रव्य वह है जो सत् हो अर्थात जो कभी अभाव रूप न था, न है, न होगा। अर्थात् जो न कभी नया उत्पन्न होता है और न कभी नाश होता है—सदा ही बना रहता है तौ भी अपने द्रव्यपनेको चरितार्थ रखता है, अर्थात् सदा ही परिणमन किया करता है—अवस्थासे अवस्थान्तर हुआ करता है। इसीसे एक ही समयमें द्रव्य नित्य व अनित्य उभयरूप ठहरता है। मूलद्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, परिणमनकी अपेक्षा अनित्य है। इसीलिये सत्

द्रव्य वह है जो एक ही समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप हो। अर्थात् जिसमें पुरातन अवस्थाका नाश होकर नई अवस्था जन्मे तथापि मूल द्रव्य व उसके सर्व गुण बने रहें–हरएक द्रव्यमें साथ रहनेवाले गुण होते हैं और क्रम क्रमसे रहने वाली या बदलने-वाली पर्यायें रहती हैं। इसीलिये गुण पर्यायवान् भी द्रव्यको कहते हैं। यह जगत् द्रव्योंका समुदाय है। सब द्रव्य नित्य अनित्यरूप हैं तब यह जगत् भी नित्य व अनित्यरूप है। भाव यह है कि जगत् व उसके भीतरके सर्व द्रव्य सदासे हैं व सदा बने रहेंगे, मात्र उनमें अवस्थाएं बदलती हैं। अवस्थाओंकी अपेक्षा किसीका जन्म व किसीका नाश कहा जाता है। व्यवहारनयसे देखते हुए वचनोंका सुनना व कहना है परन्तु यदि निश्चयनयसे देखते हैं तो किसी भी आत्माके पास वचन वर्गणाएं नहीं हैं, न कोई आत्मा कहता है न कोई सुनता है। केवली बडे भारी आप्त या वक्ता हैं यह सब व्यवहार नयका विकल्प है। आत्मा ही वास्तवमें केवल-ज्ञानी है वह कभी भी वक्ता नहीं होसक्ता है। वह न परभवका कर्ता है न परभवका भोक्ता है। वह मात्र स्वात्मानुभूतिका रमण करनेवाला है। उसमें किसी ज्ञानकी जरूरत नहीं जिसके लिये दूसरेसे सुनकर कुछ प्राप्त किया जावे, उसमें पूर्ण ज्ञान है–सर्व आत्माएं एकरूप आनन्दमय परम निर्मल हैं। इन सबको एक साथ देखते हुए साम्यरससे पूर्ण एक समुद्र बन जाता है जिसमें अवगाहन करते हुए भव्यजन परमानन्दका लाभ करते हैं।

(४)

समवसरणमें बड़ा ही आनन्द होरहा है। हर जगह शांति

ही छारही है। वैरभाव व द्वेषका कहीं नाम भी नहीं है। यह अरहंतके आत्माका ही प्रभाव है। इसमें संदेह नहीं कि यह बात ठीक है कि आत्माके भावोंका असर बाहरी पदार्थोंपर व बाहरी पदार्थोंका असर निर्बल आत्माओंपर पड़ा करता है इसीसे जहां परम वीतराग केवलज्ञानी विराजते हैं चारों तरफ दुष्काल नहीं पड़ता, ऋतु अच्छी होजाती है। एकेंद्रिय जीव वृक्षादि भी प्रफुल्लित होजाते हैं। अर्हंत परमात्मा शरीर सहित है इससे दिव्यध्वनिका प्रकाश होता है। आज इस उपदेशकी मुख्यता है, कि आत्मा ही साध्य है व आत्मा ही साधक है, आत्मा ही मोक्ष है, व आत्मा ही मोक्षमार्ग है। प्रभुके वचनोंमें प्रकट हुआ कि यह आत्मा द्रव्य रूपसे परम शुद्ध पूर्णज्ञान घनरूप, अमूर्तिक, अविनाशी, आनन्दमई, वीतराग है, इसमें न तो ज्ञानावरणादि कर्मोंका सम्बन्ध है न रागद्वेषादि भाव है न शरीरादिकोंका सम्बन्ध है। हर एक आत्माकी सत्ता भिन्न है। एक आत्मामें अन्य आत्माओंकी भी सत्ता नहीं है न अनात्माओंकी सत्ता है। इस तरह अपने ही द्रव्य रूप आत्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व आचरण अर्थात शुद्धात्मानुभव मोक्षमार्ग या साधन है, यही शुद्धोपयोग है। इसमें आत्मा अपने ही आत्माका स्वाद लेता है तब एकाग्र होजाता है। आपका मजा आप लेते हुए सर्व चिंताओंका अभाव होजाता है। आप आपको देखने लगता है। ऐसी स्वानुभूति मय आत्म परिणतिको साधन इसलिये कहते है कि इससे वीतरागताकी महान अग्नि जलती है जो कर्मोंकी निर्जरा करती है। आत्माका पूर्ण अनुभव साध्य है जब कि आत्माका

अपूर्ण अनुभव या स्व सवेदन प्रत्यक्ष रूप अनुभव साधक है, जो आप अपनेको पहचानता है—जो आप अपनेमे लय होता है वही स्वानुभूतिका स्वामी है, वही सम्यक्ती, श्रावक या साधु हैं यही जैनधर्मी है। धर्म आत्मामें है, धर्म आत्माका स्वभाव है। जो आत्मामें तिष्ठता है वही निज धर्मको पाता है। आत्मज्ञानी व आत्मध्यानी ही मोक्षमार्गी है। इसीसे परमानन्दका भोग मिलता है। इस धर्मोपदेशको सुनकर सर्व श्रोतागण गदगद होगए। हम श्रोता हैं प्रभु वक्ता हैं। हम अशुद्ध हैं प्रभु शुद्ध हैं। यह सब पर्यायाश्रित व्यवहार नयका विकल्प है। जब निश्चयनयसे देखाजाता है तो न कोई उपदेश है न उपदेश योग्य है, न कोई शुद्ध है न कोई अशुद्ध हैं, सब ही आत्माए एकरूप अपने ही स्वभावमें आप ही मग्न होरहे हैं। सर्व ही वीतरागताका बाना बनाए हैं। सर्व ही अनात्माओंके संसर्गसे रहित हैं। सर्व ही परमात्मा रूप हैं। सर्व ही एक भ्रातृ रूप है, सर्व ही अविनाशी व अमूर्तिक हैं, सर्व ही सिद्धरूप परम मंगलीक है, सर्व ही शुद्ध ज्ञान चेतनाके विलासी हैं, सर्वको आपरूप देखना यही अध्यात्म-दृष्टि है। यही दृष्टि परमानदपद और शिवसोपान है।

(९)

आज श्री अर्हत् परमेष्ठीकी दिव्यध्वनिसे स्वसमय परसमयका अद्भुत व्याख्यान कर्णगोचर हुआ। आत्मा एक द्रव्य है, स्वभावसे शुद्ध है, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि, भावकर्म रागद्वेषादि, रागद्वेष पूर्वक कार्य करनेकी अनुभूति स्वरूप कर्मचेतना, मैं सुखी मैं दुखी इस अहंकारसे वर्तनरूप कर्मफल

चेतना, अनंत पदार्थोंको भिन्न२ जाननरूप व खंडरूप जाननरूप विकल्प समुदाय, तथा इंद्रियोंके द्वारा वर्तनरूप क्षणिक व परिमित ज्ञान प्रवर्तन आदि दोषोंसे मुक्त परम वीतराग, शुद्ध ज्ञानचेतनासे पूर्ण, अविकार, अखंड व अक्रम ज्ञान समूह, परमानन्दी, अविनाशी, तथापि अगुरु लघु गुणद्वारा स्वभावरूप परिणामी परम पदार्थ है। इस प्रकार निज द्रव्यका केवलज्ञानके द्वारा अनुभव स्वसमय है। अथवा श्रुतज्ञानके द्वारा स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप अनुभव स्वसमय है। जो स्वय परिणमन करे व जाने सो समय अर्थात आत्मा है। आत्माका आत्मरूप ही रहना, आपका स्वाद आपको आना, आपमें आप मगन रहना स्वसमय है। इस स्वसमयमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों ही एक काल वर्तन कर रहे हैं। जहां सम्यग्ज्ञानीका उपयोग आत्मस्थ न होकर अनात्मस्थ होरहा हो वहां चारित्र अपेक्षा स्वसमय नहीं है किंतु परसमय है तथापि श्रद्धान व ज्ञानकी अपेक्षा स्वसमय है। मिथ्यादृष्टीके न श्रद्धान है न ज्ञान है न चारित्र है अर्थात् अज्ञानी वहिरात्माके अज्ञानमय विपरीत श्रद्धान, ज्ञान चारित्र है इससे यह मिथ्यात्वी जीव सदा ही परसमय रत है। इसको अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका पता नहीं है, यह रागद्वेषकी कल्लोलोंमें ही मग्न है। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टी साधु भी आत्मतत्वके सूक्ष्म संवेदनसे रहित होकर मात्र शुभ विचारोंकी मग्नतामें पड़ा हुआ परसमय रत ही है। नौ ग्रैवेयकका मिथ्यादृष्टी अहमिन्द्र द्रव्योंकी चर्चा करता व सुनता हुआ भी आत्मतत्वके निकट निकट घूमकर निकल जाता है। परन्तु आत्मतत्वके दर्शन नहीं कर पाता है। सम्यग्दृष्टी गृहस्थ गृहप्रपं-

चमें लगा हुआ तथा सम्यग्दृष्टी भावलिंगी साधु आहार विहार, शास्त्रविचार व उपदेशमें तल्लीन होता हुआ यद्यपि रुचिद्वारा स्वसमय रूप है परन्तु चारित्र अपेक्षा परसमय रूप है। स्वसमय मोक्षरूप है अथवा मोक्षमार्ग स्वरूप है। परसमय बंधरूप है अथवा बंध मार्ग है। मिथ्यात्वीका परसमय संसारके घोर कष्टोंका कारण व जीवित रहते भी मरणरूप है। इसप्रकार स्वसमयका उपादेयपना, परसमयका हेयपना सुनकर श्रोताओंको परम संतोष हुआ। वक्तापनेका व श्रोतापनेका नाटक व्यवहारनयका दृश्य है। जब कोई ज्ञानी निश्चयनयकी शुद्ध दृष्टिसे देखने लगता है तो उसके ज्ञानमें स्वसमय परसमय ऐसे दो भेद नहीं दिखलाई पडते हैं, वहा यह समयसार मय आत्मा एक रूप शुद्ध, निर्विकल्प, सर्व गुणस्थान व मार्गणा स्थानसे अतीत, सर्व एकेंद्रियादि भेदोंसे शून्य, परम वीतराग, सिद्धसम कृतकृत्य, परम स्वाधीन, परमानन्दी, अविकारी, निश्चल, परम निरंजन रूप, परमात्मा ही दिखता है, ऐसा ही प्रतीतिमें आता है व ऐसा ही ज्ञानमें आता है व ऐसा ही अनुभवमें आता है, वहा न कोई अर्हंत दिखता है न अर्हंतकी वाणीका झलकाव है न श्रोताओंके द्वारा ग्रहणरूप व्यापार है। इसी निश्चय नयाश्रित विचारके द्वारा निज आत्मापर आरूढ होजाना ही आध्यात्मिक सोपान है और परमसुखास्वादका हेतु है।

(८)

आज परमपूज्य केवली भगवानकी परम मंगलीक दिव्यध्वनिमें तत्व कुशलका व्याख्यान हुआ। जिसको सुनकर सर्व सभा गद्गद होगई। जो वस्तुका सार है उसको तत्व कहते हैं।

सार वही है जो उपयोगी व हितकारी हो, जिसको ग्रहण करके कल्याण किया जासके। हरएक आत्मा सुखशांति चाहता है। सुखशांति आत्माका स्वभाव है। इसकी प्रगटतामें बाधक रागद्वेष मोहभाव व अज्ञान है। इसलिये वही तत्व तत्व है जो बाधकको हटाने और साधकको मिलानेमें कार्यकारी हो। व्यवहारनयसे व भेदरूप ज्ञानकी दृष्टिसे जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष यह सात तत्व हैं यही सार हैं। इनसे पता चलता है कि मैं स्वभावसे निरंजन वीतराग परम शुद्ध पूर्ण ज्ञान दर्शनकी शक्तिको रखनेवाला एक जीव पदार्थ हूं। मेरे सिवाय सर्व ही विकार, अजीवका है। अष्ट कर्मबंध, कर्मोदयजन्य विकार भाव कर्म, व शरीरादि नौकर्म व अन्य धर्माधर्म काल आकाश व अन्य अबंध-रूप पुद्गल द्रव्यके अणु व स्कंध ये सब अजीव हैं। व जीव तत्वसे भिन्न है। जीवके साथ जड़ कर्मवर्गणाओंके मिलनेका अर्थात् आत्माके अशुद्ध होनेका कारण आश्रव व बंध तत्वसे मालूम होता है कि मन वचन कायरूप योगोंके द्वारा और राग द्वेष मोहके द्वारा यह जीव अशुद्ध होता है। संवरतत्वसे अशुद्धता व बन्धके निरोधका, निर्जरा तत्वसे उस बंधके दूर करनेका उपाय मालूम पड़ता है। कर्मबंधका कारण मिथ्या दर्शन मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र है। तब कर्मोंके नाशका कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र है। अर्थात् आत्मज्ञान व श्रद्धान पूर्वक आत्मध्यान है इसीसे भवभवके बांधे कर्म झड़ जाते हैं। सर्व कर्मसे रहित शुद्ध आत्मीक दशाका द्योतक मोक्षतत्व है। मोक्ष प्राप्त जीव अपनी सत्ताको भिन्न रखता हुआ सदा ही स्वात्मानन्दमें मगन रहता है। ये ही सुतत्व हैं।

इनसे विपरीत सर्व ही कुतत्व हैं, जो अपने आत्मोन्नतिके कार्यमें बाधक हैं साधक नहीं। निश्चयनयसे एक निज आत्मतत्व ही तत्व है, यही सार है, यही परम उपादेय है, यही अनुभव करने योग्य है, इस तत्वमें कोई भेद नहीं है, कोई खण्ड नहीं है। अभेद शुद्ध निज आत्मतत्वका तत्वरूप रहना ही आध्यात्मिक सोपान है। यही सार, आनन्दरूप, सन्तोषकृत व परम ध्येय है। जहांपर ध्याता, ध्यान, ध्येय व ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयका भी विकल्प नहीं है।

(७)

परमप्रभु सर्वज्ञ भगवानकी दिव्यध्वनिमें आज जीवके पांच प्रसिद्ध भावोंका अपूर्व भाषण हुआ। वास्तवमें जीवका भाव एक जीवत्व है। यही एक पर अपेक्षा रहित स्वाभाविक परिणामिक भाव है। जब कर्मबन्धकी अपेक्षासे अर्थात् व्यवहारनयसे जीवके भावोंका विचार किया जाता है तो चार भाव और लिये जाते हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक। मोहनीय कर्मके उदयके शमन होजानेसे जो भाव होता है उसको औपशमिक भाव कहते हैं। यह भाव अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रह सक्ता है। इस भावमें सम्यग्दर्शन और चारित्रका प्रकाश होजाता है। आत्मा वीतराग विज्ञानमय और शांत भावमें अपना स्वभाव झलकाता है। घातिया कर्मोंके क्षय होजानेसे जो आत्माके गुणोंका पूर्ण झलकाव होता है उनको क्षायिक भाव कहते हैं। ज्ञानावरणीयके नाशसे अनन्तज्ञान, दर्शनावरणीयके नाशसे अनन्तदर्शन, अन्तरायके नाशसे अनन्तवीर्य, मोहनीयके नाशसे क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्र प्रकाशमान होजाते हैं। जहां किसी

कर्मका कुछ क्षय होरहा हो, कुछ कर्म उपशममें हो व कुछ देश-घाती कर्म उदयमें हों तब जो भाव होता है उसको क्षायोपशमिक कहते हैं। ये भी घातिया कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं। मोहनी-यके क्षयोपशमसे क्षयोपशम सम्यक्त जो कुछ मलीन व अतीचार सहित होता है तथा क्षयोपशम चारित्र अर्थात् मुनि व श्रावकके योग्य शांत परिणाम, ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मतिज्ञानादि चार ज्ञान, दर्शनावरणके क्षयोपशमसे चक्षु आदि तीन दर्शन, अन्तरा-यके क्षयोपशमसे क्षयोपशम दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य, घातिया अघातिया कर्मोंके उदयसे जो भाव हों उनको औदयिक कहते हैं जैसे अज्ञान, क्रोधादि कषाय मिथ्यात्व व अनुत्साह तथा पशु, मानव या देव, नारक सम्बंधी विशेष भावोंका व अवस्थाका होना यद्यपि भव्य व अभव्य पारिणामिकमें लिये गए हैं तथापि वे पारिणामिक यथार्थमें नहीं हैं ये तो औदयिक भाव हैं। इन सर्व भावोंमें क्षायिक भाव कार्यरूप हैं। उशपम सम्यक्त, क्षयोपशम सम्यक्त, क्षायिक सम्यक्त, श्रावक व मुनि योग्य शांतभावपना व मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नामके सम्यग्ज्ञानमयी भाव मोक्षके साक्षात् कारण हैं। इन भावोंमें परिणमन करना जीवका परम हित है। सबसे प्रथम मोक्षमार्गमें उपशम सम्यक्त भावके पानेकी जरूरत है। इसका लाभ उसी महात्माको होता है जो सर्व भावोंकी ओरसे दृष्टि फेरकर एक मात्र निज जीवत्व भावपर अपनी दृष्टि रखता है। जीवत्वपर उपयोगका थिर होना व अजीवत्वसे उपयोगका विरक्त होना साक्षात मोक्षमार्ग है। निश्चयनयसे सर्व ही जीव स्वजीवित्वमें वर्तन कर रहे हैं। यही समझना आध्यात्मिक सोपान है।

(८)

तीन प्रकार चेतना।

आज परम प्रभु अर्हत् परमात्माकी दिव्यध्वनिसे त्रिप्रकार चेतनाका स्वरूप झलका, जिसको सुनकर सर्व सभा आनन्दसागरमें निमग्न होगई। चेतना नाम स्वाद लेनेका है या ज्ञानका स्थिर होकर जमनेका है। ज्ञानोपयोगका चारित्र रूप होना चेतना है। यह चेतना कर्मफल चेतना, कर्मचेतना, व ज्ञाननेतना, ऐसे तीन भेदोंको रखती हुई कर्मबद्ध जीवमें पाई जाती है। कर्मोंके उदयसे उनमें मुख्यतासे मोह सहित असाता वेदनीय व साता वेदनीयके उदयसे जो दुःख या सुखका अनुभव होता है, अर्थात् मैं सुखी हुआ या मैं दुःखी हुआ यह ज्ञान होता है इस चेतनाको कर्मफल-चेतना कहते हैं। जहांतक संसारीजीवोंमें शुद्धात्मामें थिरीभूत शुद्धोपयोग नही होता है तथा पंचेंद्रियोंके विषयोंका व्यवहार वर्तता है, रागद्वेषका तीव्र उदय रहता है वहांतक सांसारिक पदार्थोंके निमित्त सुख या दुःख अनुभव होजाता है। ऐसी कर्मफल चेतना मिथ्यादृष्टियोंके तो अवश्य पाई जाती है परन्तु सम्यग्दृष्टियोंके भी जहातक वे अप्रमत्त गुणस्थानमें नहीं हैं अर्थात् प्रमत्त गुण-स्थान तक पाई जाती है। सम्यग्दृष्टी जीवोंके भीतर श्रद्धान व ज्ञान अपेक्षा तो कर्मफल चेतना नही है किन्तु चारित्र अपेक्षा होजाती है, जब मै सुखी हुआ व मैं दुःखी हुआ ऐसा अनुभव होजाता है। रागद्वेष पूर्वक कार्य करते हुए, काय वचन व मनकी प्रवृत्ति करते हुए जो तन्मयता होती है वह कर्मचेतना है। जैसे मक्खीको मधुछत्ता बनाने व मधु एकत्र करनेमें, चींटीको दाना

जमा करनेमें, वृक्षोंको जल व मिट्टी एकत्र करनेमें, पशुओंको अपनी २ क्षुधा तृषाकी बाधाके मेटनेके प्रयत्न करनेमें, कृषकको खेती करनेमें, दरजीको कपडा सीनेमें, पाचिकाको रसोई बनानेमें, बढ़ईको घर बनानेमें, लेखकको ग्रंथ लिखनेमें, पूजकको पुजा करनेमें, दानीको दान देनेमें जो स्वाद आता है वह कर्मचेतना है। यह भी कर्मफलचेतनाके समान छठे गुणस्थान तक पाई जासक्ती हैं। आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ज्ञानका रमण करना ज्ञान चेतना है। यह सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीवोंके ही होती है। अप्रमत्त गुणस्थानसे यह ज्ञानचेतना आगे बराबर रहती है। जहांतक केवलज्ञान न हो वहांतक अस्पष्ट व मलीन ज्ञानचेतना है, केवलज्ञानीके निर्मल स्पष्ट ज्ञानचेतना है। केवली परमात्मा निरंतर शुद्ध आत्माको प्रत्यक्ष देखते हुए इसीके आनन्दके स्वादमें मगन रहते है। स्वानुभवीके ज्ञानचेतना होती है। यद्यपि व्यवहारनयसे चेतनाके तीन भेद हैं तथापि निश्चयनयसे चेतना अभेद है, एक ही रूप है, आत्माका स्वभाव है। आत्मा सदा ही आत्माके बागमें ही रमण करनेवाला है। सदा ही आत्म सुखका स्वाद लेनेवाला है, सदा ही ज्ञानचेतना रूप है। इस आत्माके इस स्वभावपर रुचि लाना आध्यात्मिक सोपान है।

(९)

आत्मिक सुख।

आज श्री अरहंत परमात्माकी दिव्यध्वनिमें आत्मीक सुखकी महिमाका अपूर्व कथन हुआ। जिसको सुनकर सर्व सभा निवासी जन गद्गद् होगए। जिस सुखके लिये संसारी जीव प्रमादसे तृषातुर हैं वह सुख आत्मामें ही है। अर्थात आत्माका स्वभाव है।

आत्मा अनंतगुणोंका स्वामी है उनमें एक सुख गुण भी है। गुण और गुणीका सम्बंध कभी मिटता नहीं। इस हेतुसे वह सुख गुण आत्माको छोड़कर कहीं नहीं जाता। आत्मा वास्तवमें सुखका समुद्र है। यह सुख स्वाधीन है। इंद्रियोंके द्वारा नहीं जाना जा-सक्ता है, यह परम निराकुल व परम समतारूप हैं। जब आत्माका उपयोग सर्व विषयोंको छोड़कर एक आत्माकी ही तरफ रहता है तब तुर्त उस सुख गुणका स्वाद आता है। जैसे आम्र फलकी ओर जब जिह्वा इंद्रिय उपयुक्त होती है तब आम्रका स्वाद भासता है। इस सुखको अज्ञान और मोहने विपरीत कर दिया है। इससे इस सुख गुणका विपरीत काम झलक रहा है। अर्थात् कभी यह सासारिक सुख रूप व कभी सांसारिक दुःख रूप प्रगट होरहा है। जैसे आत्माका चारित्र एक गुण है। शांत या वीतरागभावको चारित्र गुण कहते हैं। परन्तु चारित्र मोहनीयके उदयसे इसका विपरीत परिणमन होरहा है। कभी राग कभी द्वेषरूप झलकाव होता है। इसी तरह सुख गुण कभी इंद्रिय सुख रूप व कभी इंद्रिय दुःख रूप भासता है। जब साता वेदनीय और रतिका उदय होता है तब सुखरूप व जब असाता वेदनीय व अरतिका उदय होता है तब दुखरूप भासता है। जैसे रागद्वेषसे आकुलता होती है वैसे इंद्रिय सुख व दुःखमें आकुलता होती है। जैसे रागमें कुछ सातारूप प्रीतिभाव मालूम होता है वैसे इंद्रियसुखमें कुछ सातारूप क्षणिक सन्तोष मालूम होता है। जैसे विना सच्चे वीतरागभावके रागद्वेषका होना नहीं मिटता व उनसे तृप्ति नहीं होती वैसे विना सच्चे सुखके अनुभवके इंद्रियसुख व दुःखकी

कल्पना नहीं मिटती व इंद्रियसुख जितना भी भोगा जाय अतृप्ति-त्वकी वृद्धिका ही हेतु है। आत्मसुखका वेदन जब आत्माको शुद्धकारक व आत्मबल वृद्धिकारक है, तब इंद्रियसुखका वेदन आत्माको बंधकारक व आत्मबल ह्रासका कारण है। आत्माका स्वभाव सुख है। यदि ऐसा नहीं होता तो जो लोग विना किसी स्वार्थ बुद्धिसे परोपकार करते हैं उनको सुख नहीं भासता। परोपकार विना लोभ या मोहका त्याग किये नहीं होता इसलिये जितने अंश इन लोभादिका त्याग है उतने अंश सुखका झलकाव होता है। आत्मीक सुख ही सच्चा सुख है। इस सुखकी प्राप्तिके लिये निज आत्माका ज्ञान व श्रद्धान व उसीका भजन व मनन व ध्यान आवश्यक है। आत्माका निश्चय स्वरूप शुद्ध, निर्विकार, ज्ञानमई, वीतरागमई, आनंदमई व परम निरंजन है। आत्मीक द्रव्यमें पुद्गल द्रव्यका व उनसे बने हुए शरीरका व कार्माण देहका व कर्मके उदयसे होनेवाले रागादि विकारोंका कोई भी संसर्ग नहीं है। इस प्रकारके ज्ञानका सस्कार जब दृढ़ होजाता है तब आत्मसुखका स्वाद आने लगता है। इसी सुखके निरन्तर स्वाद पानेके लिये ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष आत्मध्यानके हेतु परिग्रह त्याग निर्ग्रंथ वीतरागी साधु होजाते हैं। इस सुखके स्वादको अरहंत व सिद्ध परमात्मा नित्य प्राप्त करते हैं। जो आत्मज्ञानी व आत्मानुभवी हैं वे ही इस सुखके पानेके अधिकारी हैं। इस सुखके सामने चक्रवर्तीका महान इंद्रिय सुख भी अत्यन्त तुच्छ है। कहां प्रकाश कहां अंधकार, कहां सफेदी कहां कालिमा, कहां मिष्टरस कहां कट्टरस, कहां अमृत कहां विष, कहां शांति कहां अशांति।

आत्मसुखका वेदन ही सिद्ध सुखका वेदन है। मानव जन्म पाकर जो इस सुखको पाते हैं वे ही सच्चे मनुष्य हैं।

(१०)

तीन प्रकार स्वरूप।

परम प्रभु अर्हंत परमात्मा केवलज्ञान सूर्यको प्रकाश करते हुए अपनी दिव्यवाणीसे धर्मामृतकी वर्षा करते हुए आज बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका स्वरूप प्रकट कर रहे हैं। जिसने आत्माके असल स्वरूपका स्वाद न पाकर और न आत्माका असल स्वरूप श्रद्धानमें लेकर आत्मासे अन्य जो विकार व द्रव्य हैं उनमें अपनापन माना है वह बहिरात्मा है। मुनि भेषधारी व श्रावक व्रतधारी शुद्ध आत्माकी रुचि विना बहिरात्मा ही बना रहता है। जिसकी दृष्टि आत्मासे बाहर द्रव्य, गुणपर्यायमें अनुरक्त है, व जो आत्माके द्रव्य गुण पर्यायको नहीं पहचानता है तथा जो इंद्रियजन्य सुखके स्वादको ही सच्चा सुख मानता है वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा मोहके नशेमें चूर रहकर इच्छाओंका दास बना रहता है। जिस शरीरको प्राप्त करता है उसी शरीरमें रोगी होकर रातदिन इच्छाकी पूर्तिका प्रयत्न करता है। अन्तमें निराश होकर मरजाता है। बहिरात्मा जीव कभी भी विषय भोगोंसे अपनी तृष्णाकी आगको शमन नहीं कर पाता है। बहिरात्मा रोगी व दलिद्री मानवके समान सदा आकुलित व शोकित रहता है। अपने पास अपूर्व सुख शांतिका भंडार है तो भी उसको नहीं पहिचान कर आकुलताके मेटनेको आत्मासे बाहर २ डोला करता है। बहिरात्मा सदा कर्मोंको बांधकर संसारकी वृद्धि किया करता

है, जो अपने आत्माको जैसा वह असलमें है उसको वैसा ही द्रव्य दृष्टिसे जाने तथा पर्याय दृष्टिसे आत्माकी भूत वर्तमान व भावी पर्यायोंको पहचाने, कर्मबद्ध आत्माके वचनातीत कष्टों व बाधाओंका अनुभव करे, कर्मोंकी संगतिको हेय जाने, निज आत्माके शुद्ध गुणरूपी वृक्षोंमें रमण करनेका रुचिवान होजावे, आत्मीक स्वाधीन आनन्दका स्वाद लेता हुआ विषयजन्य सुखको हेय जाने, ज्ञान वैराग्यसे सना हुआ रहकर जगतमें परमाणु मात्रको अपना न जाने, कर्मजनित साता व असाताके सामान पानेपर भी उन्मत्त व उदास न हो, कर्मोंके नाटकको नाटक समझे, आपको परम शुद्ध परमात्मा ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अनुभव करे। यही भावना भावे (क्योंकि जैसी भावना होती है वैसी ही वह फलती है) वह अन्तरात्मा है। जैसे जौहरीको विना साफ किये हुए पत्थरमें रत्न दिखता है, सुवर्ण परीक्षकको धातु पाषाणमें शुद्ध सुवर्ण नजर आता है, गोरस परीक्षकको दूधके भीतर घृत प्रगट होता है व कृषकको धान्यके भीतर शुद्ध सफेद चावल दिखता है, इसी तरह अन्तरात्माको शरीरके भीतर शुद्ध आत्माका दर्शन होता है। जो सर्व आवरणरहित मात्र आत्मा है वह परमात्मा है। अर्हतको व सिद्धको निकल परमात्मा कहते हैं। यद्यपि व्यवहारनयसे आत्माके तीन भेद हैं तथापि निश्चयनयसे आत्मा एक ही प्रकार है, इन तीन नामोंसे रहित जो है सो है। मन, वचन, कायसे अगोचर मात्र स्वानुभव गम्य है, परमानंदमय व परमवीतराग है।

(२१)

परमप्रभु अर्हत परमात्मा आज समवशरणमें स्थित हो

अपनी परम गम्भीर दिव्यवाणीसे ज्ञानका स्वरूप कथन कररहे हैं। जिससे सर्व जानने योग्य द्रव्य गुणपर्यायोंको जाना जासके सो ज्ञान है। ज्ञान आत्माका गुण है। ज्ञान और आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान कभी आत्मासे अलग नही होसकता। न ज्ञान आत्मामें कभी कम होता है न अधिक होता है। ज्ञान-गुण जितना है उतना ही अपने सर्वस्वको लिये हुए हरएक आत्मामें विराजमान है। सबका ज्ञान भिन्न २ होनेपर भी समान है। द्रव्यदृष्टिसे हरएक आत्मा शुद्ध है इसलिये हरएकका ज्ञान भी शुद्ध व पूर्ण है। परन्तु कर्म पुद्गलोंकी सगतिसे आत्मा अशुद्ध है इसलिये उसका ज्ञानगुण भी अशुद्ध है। ज्ञानपर ज्ञानावरणका परदा पडा हुआ है या पडता रहता है उससे ज्ञानका पूर्ण प्रकाश नहीं है। जितना २ ज्ञानावरणका परदा हटता है अर्थात ज्ञाना-वरण कर्मका क्षयोपशम होता है उतना २ ज्ञान प्रकाश पाता है। निश्चयसे ज्ञानमें भेद नही है। ज्ञान अभेद एक अखण्ड है परन्तु ज्ञानावरण कर्मके सम्बन्धके कारण ज्ञानके कम व अधिक प्रकाश होनेके हेतुसे ज्ञानके भेद होजाते है या खण्डज्ञान होजाता है। अनेक तरहके भेदोंको संकोच करके ज्ञानके पांच भेद ही व्यवहरण किये जाते हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इंद्रिय और मनके प्रत्येकके द्वारा जो दर्शनपूर्वक अवग्रह आदिके रूपमें सीधा पदार्थका ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। जैसे स्पर्श इंद्रियद्वारा शीत या उष्ण पदार्थको, रसनाद्वारा खट्टे वा मीठे पदा-र्थको, घ्राणद्वारा सुगंधित व दुर्गंधित वस्तुको, चक्षुद्वारा श्वेत या रक्त पदार्थको, कर्णद्वारा शब्दको जानना मतिज्ञान है। मनद्वारा

रूपी या अरूपी दोनोंको मतिज्ञान जान सकता है । मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके सम्बन्धसे अन्य किसी पदार्थको जानना श्रुतज्ञान है ।

इसके दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक । मनवाले जीवोंको अक्षरोंको सुनकर वाचकके द्वारा वाच्यका ज्ञान होना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है । जैसे जीव शब्दको सुनकर जाननेवाले पदार्थका ज्ञान होना । विना अक्षरोंके ही मतिज्ञानके द्वारा अन्य पदार्थका बोध होना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है । जैसे शीतस्पर्शसे यह बोध होना कि यह दु:खदायक है या भयप्रद है—भाग जाना चाहिये । ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेंद्रियादि सर्व जीवोंको होता है । यह श्रुतज्ञान रूपी अरूपी दोनों प्रकारके पदार्थोंको जान सक्ता है । विना इंद्रिय व मनकी सहायतासे आत्माहीके द्वारा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थोंका जानना अवधिज्ञान व दूसरेके मनमें स्थित सूक्ष्म रूपी पदार्थको जानना मन:पर्ययज्ञान है । सर्व पदार्थोंको पूर्णपने जानना केवलज्ञान है । यह क्षायिक निर्मल शुद्ध ज्ञान है । केवलज्ञान साध्य है उसका साधक भावश्रुतज्ञान है । द्रव्यश्रुतसे भावोंका बोध होना भावश्रुत है । आत्मा अनात्माका बोध होकर आत्मा उपादेय है, अनात्मा हेय है यह भेदज्ञान होना फिर निज आत्माहीके निश्चयात्मक स्वभावज्ञानमें जमना स्वानुभवरूप व स्वसंवेदनरूप भावश्रुतज्ञान है । यही वह प्रकाश है जो केवलज्ञानका व सिद्धपदका बीज है । अवधि व मनःपर्यायज्ञान न भी होवें तौभी भावश्रुतज्ञानसे शुक्लध्यान होता है । शुक्लध्यानसे केवलज्ञान होजाता है ।

व्यवहारनयसे इन भेदोंको समझकर भी साधकको उचित है कि भेदोंसे उपयोग हटाले। अभेद एक सहज स्वाभाविक ज्ञान ही मेरा स्वभाव है। वह जितना है उतना है। वह गुण है, मैं गुणी हू, इस भावनाके द्वारा अपने ही आत्मज्ञानमें उपयुक्त होना ही परम सुख शांतिलाभका उपाय है। यही आध्यात्मिक सोपान है। यही योगियोंका कर्मनिर्जरा कारक मंत्र है। यही ससार रोग-शमन औषधि है। यही मोक्षमार्ग है। यही स्वाधीनताका मनोहर पथ है।

(१२)

छः द्रव्य।

आज परमप्रभु अर्हंत केवली भगवानकी दिव्यध्वनिमें छः द्रव्यका कथन निकला। यह लोकाकाश अनन्त आकाशद्रव्यके मध्यमें पुरुषाकार अनादि अनन्त है। इसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालद्रव्य, जीव और पुद्गल ऐसे पांच द्रव्य हरजगह भरे हुए हैं। आकाशको लेकर ये छहों द्रव्य सत् है, अनादि अनंत हैं तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना रखनेके कारण सदा परिणमनशील होते हुए भी नित्य हैं। इसलिये यह जगत भी परिणमनशील और नित्य है। प्रत्येक द्रव्यमें अवस्थासे अवस्थांतर होना आवश्यक है अन्यथा उससे कोई कार्य नहीं होसकेगा। यदि सुवर्णकी अवस्थाए न पलटें तो उससे कडे, कुण्डल, बाली आदि नहीं बन सक्के। यदि द्रव्य न हो तो भी वे काममें नहीं आसक्के। क्षणिक द्रव्य जब नाश होजावे तब कौन कपड़ा बननेके लिये रूई खरीदें। द्रव्य अनंत साधारण व असाधारण गुणोंका समुदाय है। ये गुण द्रव्यके साथ सदा रहते हैं, इन्हीं गुणोंमें पर्यायें हुआ करती हैं।

इससे द्रव्यको गुणपर्यायवान कहते हैं। चेतना लक्षणधारी जीव है सो अक्षय अनन्त हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्णधारी पुद्गल हैं सो जीवोंसे अनन्त गुणे हैं क्योंकि हरएक जीवमें अनन्त पुद्गल बद्ध हैं व अबद्ध भी अनन्त हैं। कालद्रव्य, असंख्यात हैं, एक २ लोकाकाशके प्रदेशपर एक २ कालद्रव्य है। इनसे ही सर्व द्रव्योंमें परिणमन होता है। लोकव्यापी अमूर्तिक एक २ धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय है। जीव पुद्गलको उदासीनपने गमनमें सहकारी धर्म व स्थितिमें सहकारी अधर्म द्रव्य है। यदि धर्म व अधर्म द्रव्य न मानें तो अनन्त जीव व पुद्गल अनन्त आकाशमें विखर जावें। एक मर्यादित व संगठित जगत्को बनाये रखनेवाले ये धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय हैं। जीव और पुद्गल ही हलन चलन कर सक्ते हैं व इन ही में उपाधियां लगती हैं, ये ही अशुद्ध रूपमें दिखलाई पड़ती हैं। कर्मोंका बंधन हरएक संसारी जीवके है व होता रहता है। इससे रागी द्वेषी मोही जीव दिखते हैं। परमाणु परमाणुसे मिलकर स्कंध बन जाते है, यह पुद्गलका अशुद्ध परिणमन है। इन दोको छोडकर चार द्रव्य सदा स्वभावमें ही सदृश परिणमन करते हैं। जीव व पुद्गलका सयोग ही संसार है, इनका वियोग ही मोक्ष है। छः द्रव्योंको यदि भिन्न २ विचारा जावे तो सर्व अनंतानंत जीव एक समान शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी ही नजर आतेहैं, सब ही परमात्मारूप दिखते हैं। कोई मैत्री व शत्रुताके लायक नजर नहीं आता है। छः द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं। उपादेय एक निज आत्माका स्वरूप है। जो अपने स्वरूपमें रमण करते हैं वे ही मोक्षमार्गी हैं। सिद्ध आत्मा भी क्रिया व विभाव-

तासे शून्य है। हरएक जीवका स्वभाव भी ऐसा ही है। जो इस भावके प्रेमी हैं वे ही समता रसको पान करते हुए सदा सुख-शांतिको भोगते है।

(१३)

छः लेश्यायें।

परमप्रभु स्वात्मतल्लीन परमात्माकी दिव्यध्वनिमें आज छः लेश्याओंका स्वरूप प्रगट हुआ जिनको सुनकर सभा गद्गद होगई। जिनके द्वारा संसारी आत्मा पुण्य या पापकर्मोंसे लिप्त हों उन भावोको लेश्या कहते हैं (लिंपति आत्मीकरोति पुण्यपाप एतया इति लेश्या) लेश्याका जबतक सद्भाव है तबतक कर्म आते व बंधते हैं, जहां लेश्या नहीं वहां कर्मागम नहीं। तेरहवें गुणस्थान तक लेश्या है वहांतक ही कर्मोंका आस्रव है। कषायोंसे रंगी हुई योगोकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं यह भाव लेश्याका स्वरूप है। शरीरके रङ्गको द्रव्यलेश्या कहते है। नारकी सब काले रङ्गके होते हैं। देवोंके शरीर अपनी भावलेश्याके समान होते हैं, वे विक्रिया छहों लेश्याकी कर सके हैं। तिर्यंच व मनुष्य भिन्न२ वर्णके होते है परन्तु उत्तम भोगभूमिके सूर्यसमान, मध्यमके चद्रसमान व जघन्यके हरित वर्ण होते हैं। जलकायिक शुक्ल, अग्निकायिक पीत व घनोदधि गोमूत्र सम, घनवात मूंग सम व सर्व सूक्ष्मकायिक व सर्व अपर्याप्त कपोत वर्ण, विग्रह गतिवाले शुक्लवर्ण होते हैं। भावलेश्याके छः भेद हैं। कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्म, शुक्ल। पहलेकी तीन अशुभ व शेष तीन शुभ हैं।

जहां तीव्रतम कषायके भाव हों, जिनसे प्रेरित होनेवाले

किसीका सर्व नाश करके भी अपना मतलब साधे उन भावोंको कृष्णलेश्याके भाव कहते हैं, जैसे जड़मूलसे आम्रके वृक्षको उखाड़कर आम खाना। जहा तीव्रतर कषायके भाव हों जिनसे प्रेरित हो दूसरोंकी महती हानि करके भी अपना काम निकाले उन भावोंको नीललेश्याके भाव कहते हैं। जैसे मूल छोड़कर धडसे वृक्ष उपाड़कर आम खानेके भाव होना। जहा तीव्र कषायके भाव हों जिनसे प्रेरित हो विना हानि पहुंचाए काम न निकाले उन भावोंको कपोतलेश्याके भाव कहते हैं, जैसे बडी२ शाखाओंको तोड़कर आम खानेका भाव होना। जहा मंद कषाय हो जिससे दूसरेको हानि न पहुचाकर अपना काम साधले उन भावोंको कपोतलेश्याके भाव कहते हैं, जैसे मात्र आमवाली डालियोंको तोडकर आम खानेके भाव होना। जहां स्वार्थसिद्धिके भाव रहते हुए भी पर अहित न होनेके परिणाम रहें उसे पीत लेश्या कहते हैं, जैसे सिर्फ आमके फल तोड़कर खानेके भाव। जहां मंदतर कषायके उदयसे दूसरेका उपकार करनेके लिये अपनी हानि भी उठाले ऐसे भाव हों वे पद्मलेश्याके भाव है, जैसे मात्र पके आम तोडकर आम खानेके भाव होना। जहां मदतम कषायके उदयसे दूसरेको हरतरह लाभ पहुचाना, आप बहुत हानि भी सह लेना, ऐसे भावोंको शुक्ललेश्याके भाव कहते हैं। जैसे मात्र गिरे हुए आमको खानेके भाव होना। एकेंद्रियसे चौइद्री तकके तीन अशुभ लेश्याए ही होती हैं, असेनी पचेंद्रीके तीन अशुभ व १ पीत भी होती हैं। सैनी पचेंद्रिय तिर्यंच व मनुष्यके चौथे गुणस्थान तक छहों लेश्याएं, देशविरतसे अप्रमत्त सातवें गुणस्थान तक पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ

लेश्यायें होती हैं व ८ वेंसे तेरहवें तक मात्र शुक्ल लेश्याएं होती हैं। नारकियोंके तीन अशुभ व देवोंके पर्याप्तोंके तीन शुभ लेश्यएं होती हैं। जहांतक लेश्याएं हैं वहांतक पूर्ण निश्चल वीतराग भाव नहीं होता है, आत्माका सकंपपना नहीं मिटता है। सिद्ध परमेष्ठी लेश्या रहित हैं इससे निश्चल व स्वरूपमें स्थित हैं। हरएक संसारी प्राणीको अलेश्या होनेका यत्न करना चाहिये। उसका उपाय यही है कि अपने ही आत्माका यथार्थ स्वरूप अनुभव किया जावे। इस आत्माके स्वभावमें न कोई कषाय है, न योगोंका हलन चलन है, न कोई लेश्या है, न पाप या पुण्यका बन्धन है, न सुख या दुःखरूप कर्मफल है, न चार गतिमें भ्रमण है, न कोई सताप है, न वियोग है, न परका संयोग है। यह अपने स्वभाव ही में सदा मग्न ज्ञानानदका स्वाद लिया करता है। परसे उन्मुख हो स्व सन्मुख होना ही आनदधाम पानेका मार्ग है, यही स्वयं आनद-रूप है व यही आध्यात्मिक सोपान है।

(१४)

कषाय।

आज केवलज्ञानी परमात्मा अपनी दिव्यवाणीसे कषायोंके सम्बन्धमें व्याख्यान करते हैं। ससारी जीवोंके साथ चारित्रमोहनीय कर्मने बड़ा अत्याचार कर रक्खा है, इससे यह जीव अपने शुद्ध स्वभावमें चर्या नहीं करता है। इनमें मुख्य १६ कषाय हैं। जो आत्माके लिये आठ कर्मरूपी क्षेत्रको बोकर सांसारिक सुख व दुःखरूपी फलको उत्पन्न कराती हैं, वे कषाय हैं। कषायोंसे ही पाप या पुण्यकर्मोंकी स्थिति व अनुभाग पड़ता है। यदि कषाय न

हों तो कर्मोका खेत नहीं बोया जासक्ता। अथवा ये कषाय इसलिये भी कहलाती हैं कि आत्माके स्वभावको कषति अर्थात् घात करती हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, आत्माके सम्यक्तगुण व स्वरूपाचरण चारित्रका, अप्रत्याख्यान क्रोधादि देशसंयमका, प्रत्याख्यान कषायसंयमका व संज्वलन कषाय पूर्ण वीतरागताका घात करते हैं। कषायोंके उदय होते हुए जो अनुभाग या फलदान शक्तिकी झलक होती है उसकी अपेक्षा हरएक कषायके चार चार भेद हैं-(१) तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर। इनके १६ दृष्टान्त भी हैं। क्रोध क्रमसे शिलाभेद, भूमिभेद, धुलिरेखा व जलरेखाके समान विलम्ब या शीघ्र मिटनेवाला। मान शैल, अस्थि, काठ व वेतके समान अधिक व कम कठोर। माया वांसजड़, मेढ़ सींग, गौमूत्र व खुरपाके समान अधिक व कम वक्र। लोभ कृमिरंग, चाक-मल, शरीरमल व हलदी रगके समान गाढ़ व हलका होता है। शिलाभेद समान क्रोध जब तीव्रतर है तब जलरेखाके समान मदं-तर है। इसी तरह १६ भेदोंको समझ लेना चाहिये। तीव्रतर भेदमें एक कृष्णलेश्या, मंदतर भेदमें एक शुक्ललेश्या व तीव्र व मंद भेदमें छहों लेश्याएं होती हैं। इन्हीं लेश्याओंके कारण आठों कर्मोका बंध होता है। आत्माको पराधीनताकी वेड़ीमें डालनेवाले व उसको संसारमें भ्रमण करानेवाले ये कषाय ही हैं। जैसे बैलोंको ग्वाला जिधर चाहे लेजाता है वैसे ही कषायोंकि प्रेरे हुए कर्मोके वैज्ञानिक विजलीमई यंत्र जीवको इधर उधर गतियोंमें लेजाते हैं। कषायोंकि वशमें पडे जीव लौकिक पारलौकिक कर्तव्योंमें असफल रहते हैं। कषायभावसे किया हुआ तप और भी कषायोंका संचय

करता है। चारित्रमोहसे चारित्रमोहका ही अधिक आस्रव होता है। मान या लोभसे लिया हुआ तप मान व लोभ कषायका और अधिक तीव्र बंध करता है। कषायोंके दमनका उपाय एक कषाय-रहित परम वीतराग ज्ञानानन्दमय निज आत्माकी शरण है। जो आत्माके शांत सरोवरमें निमग्न होते हैं उनके कषायका आताप शांत होजाता है। कषायोंके जीतनेके लिये निरंतर निज आत्माका यथार्थ स्वभाव चिन्तवन करना चाहिये। ज्ञान और आत्मवीर्यकी ढालसे कषायकर्मोंके उदयजनित विकारोंको जीतनेका अभ्यास करना चाहिये। उत्तम क्षमा सखीकी सेवा क्रोधको दूर रखती, उत्तम मार्दवकी प्रतिष्ठा मानको हठाती, उत्तम आर्जवकी भक्ति मायाचारको दूर रखती, उत्तम शौचकी अर्चा लोभको भगाती है। जिनको निजानन्दमई अपूर्व भोग मिलने लगता है वे विषयभोगोंके लिये व उनके साधक धनके लिये माया व लोभ नहीं करते न धनादि होनेपर मान करते न उनके विरोधियोंपर क्रोध करते हैं। वास्तवमें जो सर्व तरफसे उन्मुख हो एक आत्माके परम मनोहर उपवनमें ही रमण करनेका अभ्यास करते हैं उनके भीतर वसा हुआ कषाय कर्म स्वयं निर्बल होता जाता है। मैं कषायसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, वह जड़ है, मैं चेतन हू, वह अशुचि है, मैं शुचि हूं, वह दु:खकारी है, मैं सुखमई हू, वह क्षोभकारी है, मैं समतामय हूं, इस तरह अपना सब नाता कषायसे छोड़ जो निजात्मा-विहारी हैं वे ही वीतरागी होकर परम अमृतका पान करते हैं।

(१९) पांच शरीर।

आज परम प्रभु परमात्मा परम विशद ज्ञानरूपी समुद्रसे

अपनी जगदुपकारिणी दिव्यध्वनिके द्वारा ज्ञानामृतकी वर्षा करते हुए पौद्गलिक पञ्च शरीरोंका वर्णन कर रहे हैं। इस जगतमें जीव अजीव दो प्रकारके द्रव्य हैं। अजीवोंमें पुद्गल द्रव्य क्रियावान विभाववान व अद्भुत कार्य करनेवाला है। उसीकी ही संगतिसे जीवोंको संसाररूपी नाटकशालामें नाना भेष बनाकर नृत्य करना पड़ता है और कभी क्षणिक सुख कभी क्षणिक दुःखमें आकुलित होना पड़ता है। पुद्गलद्रव्यके अणु व स्कंध ऐसे दो भेद हैं। अणु तो वह पुद्गल है जिसका दूसरा विभाग नहीं होसक्ता है। इन्हीं अणुओंके कम व अधिक संख्यासे मिलनेपर स्कंध बनते हैं। ये स्कंध अनेक जातिके होते हैं, कोई सूक्ष्म कोई स्थूल। ससारी जीवोंमें पाच शरीर पाए जाते हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण। ये पाचों ही शरीर एक दूसरेसे सूक्ष्म होनेपर भी परमाणुओंकी गणनाकी अपेक्षा एक दूसरेसे बहुत अधिक होते हैं। जितने परमाणु औदारिकमें होते हैं उससे असख्यात गुणे वैक्रियिकमें, वैक्रियिकसे असंख्यातगुणे आहारकमें, आहारकसे अनंतगुणे तैजसमें, तैजससे अनन्तगुणे कार्माणमें होते हैं। इनमेंसे तीन पहले शरीर आहारक वर्गणासे, तैजस शरीर तैजसवर्गणासे, कार्मण शरीर कार्मण वर्गणासे बनते हैं—आहारक वर्गणामें जितने परमाणु होते हैं उससे अनंतगुणे परमाणु तैजसमें, तैजससे अनंतगुणे कार्मणमें होते हैं—आहारकमें भी एकसी वर्गणा नहीं हैं, उनमें भी अतर है। जिन वर्गणाओंसे औदारिक शरीर बनता है वे स्थूल हैं, जिनसे वैक्रियक शरीर बनता है वे औदारिकसे सूक्ष्म होकर भी परमाणु भी असंख्यात गुण रखती हैं, जिनसे आहारक शरीर बनता है वे

वैक्रियकसे भी सूक्ष्म हैं तथापि परमाणु वैक्रियकसे असंख्यात गुणे हैं। जिनमें परमाणु अधिक हों उनमें शक्ति भी अधिक होती है। इन पाचोंमें एक दूसरेकी अपेक्षा शक्ति अधिक अधिक है। तैजस शरीर विजलीमई electric body शरीरको कहते हैं। विजलीमें अपूर्व शक्ति है, इसके द्वारा बड़े बडे अपूर्व काम किये जासक्ते हैं। विजलीसे अनंतगुणी शक्ति कार्मणमें है। यह कार्मण शरीर ही वास्तवमें जीवको नचानेवाला है। इसमें कार्मण वर्गणाए जीवोंके अशुद्धभावोंके निमित्तसे आकर्षित होकर आती हैं और पुराने शरी-रमें बधती जाती हैं—जीवोंमें एक योगशक्ति है जो शरीर नामक नामकर्मके उदयसे काम करती हुई वर्गणाओंको खींचनेका काम करती है। तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय तथा मिथ्यात्व इन अशुद्ध भावोंके कारण वे कर्मवर्गणाए किसी नियमित कालके लिये ठहर जाती हैं। इसी बीचमें वे अपना असर भी करती हैं। एक तरफ पुराने कर्म अपना फल देकर गिरते हैं दूसरी तरफ नए कर्म आकर मिलते जाते हैं। इन कर्मोंकी आठ जातियां हैं—ज्ञानावरण व दर्शनावरण जीवके ज्ञानदर्शन स्वभावको व अतराय वीर्यको ढकते हैं। मोहनीय श्रद्धान बिगाडता व अशांत रखता है। ये चारों ही कर्म पाप कहलाते हैं क्योंकि वे आत्माके गुणोंका विगाड़ करते है। नामकर्म शरीररचना करता, गोत्रकर्म उच्चनीच कुलमें पटकता, वेद-नीयकर्म सुखदुखकी सामग्रीका सम्बन्ध मिलाता, आयुकर्म शरीरमें कैद रखता है। इनमें दो दो भेद हैं—कोई पुण्य हैं कोई पाप हैं। बस, इन आठ कर्मोंके कारण शरीरसे ये संसारी जीव एक ओरसे उनका फल अच्छा या बुरा भोगते हैं दूसरी तरफसे नए कर्म बांधते

रहते हैं। वास्तवमें यह शरीर ही जीवके लिये एक पिंजरा है, जिसमें पड़ा हुआ यह अपनी स्वतंत्रतासे छूटा हुआ है। इस पिंजरेको तोड़कर स्वतंत्र होना जीवका परमहित है। इसका उपाय यह है कि अपने आपका सच्चा श्रद्धान व ज्ञान होना, कि मैं परमात्माके समान अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यका धारी हूं। इस श्रद्धान व ज्ञानमें तन्मय होकर जो कोई आत्मबल लगाता है, पिंजरा ढीला होते २ झडने लगता है। मैं स्वयं परमात्मारूप हूं यही अनुभव आत्मस्वतन्त्रताका एक अमोघ उपाय है।

(९६)

पाप पुण्य ।

आज परमप्रभु परमात्मा विशाल समवशरणमें विराजित होकर परम मनोहर धर्मोपदेश कर रहे हैं, जिसको सभा सुनकर आनंदसागरमें निमग्न होरही है। आज प्रभुकी वाणीमें यह उपदेश हुआ कि पाप या पुण्य मात्र एक व्यवहार है। लौकिक जन जो जगतके प्रपचसे उदास नहीं हैं व जिनको शुद्ध आत्मीक आनंदका स्वाद नहीं आया है वे पुण्यको अच्छा व पापको बुरा मानते हैं। वास्तवमें ये दोनो ही आत्मीक शुद्ध भावसे विपरीत है, दोनों ही बंधरूप हैं, दोनों ही अशुचि हैं, दोनोंमें कषायका अंश है, जो कषाय आत्माके स्वभावको घात करनेवाली है। दोनों ही जड़कर्मके पुद्गलका अनुभाग है। दोनोहीका फल निराकुल आत्मसुखसे विरुद्ध है। दोनों ही मोक्ष व मोक्षमार्गमें विराधक हैं। व्यवहारी जनताकी व्यवहार दृष्टिमें इच्छाकी पूर्तिको सुख व अपूर्तिको दुख माना गया है। इसी व्यवहार दृष्टिसे पुण्य इच्छाको

पूर्ण करनेवाला होनेसे अच्छा व पाप इच्छाको न पूर्ण करनेके कारण व बाधक होनेके कारण बुरा माना जाता है। वास्तवमें यह इच्छाकी पूर्ति पूर्ति नहीं है प्रत्युत इच्छाकी वृद्धि करनेमें ही कारण है। इसलिये तत्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें दोनों ही अशुभ हैं। तथापि व्यवहार नयसे पुण्यको शुभ व पापको अशुभ मानके इनके कारण कर्मबंधको भी शुभ व अशुभ कहा गया है। सातावेदनीय आदिको पुण्य व असाता वेदनीय आदिको पाप माना गया है। पुण्यका कारण दान भक्ति जप तप आदि है, पापका कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, विषयलम्पटता आदि है। एकमें मंद कषाय है तब पापमें तीव्रकषाय है। हैं दोनों ही कषायभाव परन्तु जिसकी शक्ति शुद्ध वीतरागमई भावमें ठहरनेकी नहीं है उसके लिये यह शुभ भावरूपी पुण्योत्पादक परिणाम अशुभ भावरूपी पापोत्पादक परिणामोंसे रक्षित रखनेके लिये आलंबन रूप हैं। पाप भाव जब अन्य प्राणियोंको कष्टप्रद हैं तब पुण्य भाव कष्ट निवारक व साताकारक है। इसलिये एक सुन्दर दीखता है जबकि पाप असुन्दर दीखता है। परन्तु बेडी चाहे सुवर्णकी हो चाहे लोहेकी हो बन्धने ही वाली है। स्वाधीनताका प्रेमी किसी भी प्रकारकी बेड़ीको नहीं चाहता है। हरएक आत्माको स्वाधीनताप्रेमी होना चाहिये। आत्मिक स्वराज्यका लाभ स्वतः प्राप्त करनेका उद्यम करना चाहिये। पुण्यकी बेड़ीको अच्छा मानकर उसमें जकड़े रहना और परतंत्रताका बढ़ाना कुछ भी बुद्धिमानी नहीं है। पुण्य पाप दोनों ही ज्वर हैं, आत्माके बलको घटानेवाले हैं। पर जैसे तीव्र ज्वरसे मंद ज्वर अपेक्षासे ठीक

जंचता है व कम आकुलताकारक है वैसे पापरूप तीव्र कषायसे मंद कषायरूप पुण्य अपेक्षासे ठीक जंचता है। ज्वरका सर्वथा छूटना ही स्वास्थ्य कारक है, इसी तरह पुण्य व पाप दोनों भावोंसे छूटना ही हितकर है। निष्कषाय भाव ही परम उपयोगी है। यही परम शांतिप्रदायक है। यही भाव मोक्षमार्ग है। यही भाव मोक्ष है। यही भाव अमृतमय है। यही भाव अमृतसागर मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है। यही भाव परमात्मपदका द्योतक है, यही भाव मोह अन्धकार निवारक है। यही भाव ज्ञानियोंका परम श्रेष्ठ आहार है। यही भाव साधुओंका जीवन है। यही भाव जैनी सम्यग्दृष्टियोंका लक्ष्यविन्दु है। यही भाव आगमका सार है, यही भाव अहिंसक है, यही भाव निष्पाप है, यही भाव परम तृप्तिकारक है, यही भाव आत्माका स्वभाव है। अतएव आत्मस्वभावके श्रद्धान, ज्ञान व आचरणसे ही इस भावकी प्राप्ति होसक्ती है। मैं शुद्ध निर्विकार आनंदमय ज्ञानघन हूं, मैं सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे रहित हूं, मैं एकाकी अखण्ड अमूर्तिक द्रव्य हूं; मैं सदा ही बना रहता हूं तथापि अपने गुणोंमें परिणमन किया करता हूं, मेरा संबंध अन्य किसीसे परमाणु मात्र भी नहीं है। न तो मोह मेरा कोई है न जानने योग्य पदार्थ मेरे कोई है। मैं सर्व संकल्पविकल्पोंको त्यागकर जब त्रिगुप्तिमई भीतोंसे तीन तरफ ढकी हुई रत्नत्रयमई आत्मगुफामें विश्राम लेता हूं तब ही निष्कषाय भावको पाकर परमानंदका भोगी होता हूं व पुण्यसे राग व पापसे द्वेष, इस रागद्वेषसे भी छूट जाता हूं।

(१६)

पांच मिथ्यात्व।

आव परमप्रभु केवलज्ञानी भगवानकी दिव्य ध्वनिमें जो मनोहर तत्वपूर्ण उपदेश हुआ उसका महात्म्य कहा नहीं जासक्ता। सर्व श्रोतागण उसी समय प्रफुल्लित होजाते हैं जब भगवानकी वाणी खिरती है। उस समय लाखों जीवोंका मन बिलकुल शून्य होजता है। समवशरणमें बिलकुल मौन पना छाजाता है। प्रभुकी वाणी धारावाही गगाकी लहरके समान बहती है और श्रोताओंके मनोका मैल बहाती हुई चली जाती है। यही सच्ची गंगा है जो अनादिके मिथ्यात्वरूपी मैलको धो डालती है। आज प्रभुकी वाणीमें पांच प्रकार मिथ्यात्वका स्वरूप झलका। जो वस्तु जैसी नहीं, जो स्वभाव जैसा नहीं, जो क्रिया जैसी नहीं, जो परिणति जैसी नहीं, उसको वैसा मानना मिथ्यात्व है। जो है सो न मानकर औरका और मानना मिथ्यात्व है। जगतके सर्व ही पदार्थ अनेक धर्म या स्वभाववाले है, उनको एक स्वभाववाला व कुछ स्वभाव-वाला मानना, उसके सर्वांशको सर्व न मानना एकांत मिथ्यात्व है। हाथीके पैरको या सुण्डको या कानको या दांतको या पूंछको ही सर्वांग हाथी मानना एकान्त है। हरएक द्रव्य जो इसलोकमें वास कर रहा है अनादिसे अनंतकाल तक भाव अभाव रूप, नित्य अनित्य रूप, एक अनेकरूप आदि विरोधी स्वभावोंको एक ही समयमें रखनेवाला है। उसको भावरूप ही या अभावरूप ही, नित्यरूप ही या अनित्य रूप ही, एक रूप ही या अनेकरूप ही इत्यादि एक ही बातको मानना एकांत मिथ्यात्व है। ये स्वभाव

द्रव्यमें ऐसे कल्लोल कर रहे हैं जैसे जलमें तरङ्ग। परन्तु अना-श्रद्धावश अल्पज्ञानीको नहीं दिखलाई पड़ते हैं। कौन इनकार करेगा कि जीवमें जीवपना है पुद्गलपना नहीं है? जीवमें जीवप-नेका व पुद्गलादिका अभाव एक ही समयमें है। लालचंदमें लाल-चंदके स्वरूपका भाव है तब उसी समय सर्व जगतमेंसे लालचं-दको निकाल दो ऐसे शेष सर्व जगतका लालचंदमें अभाव है। जीव नित्य है क्योंकि सदासे है। मैं बाल था वही युवान हूं। तब यह अनित्य भी है, क्योंकि इसकी अवस्था बदलती रहती है। बालपनमें बाल था, युवावयमें युवा है। इसका ज्ञान पहले अल्प था अब बढ़ता आरहा है। समय २ ज्ञानमें परिणतियें पलट रही हैं। नदीकी तरंगवत एक पर्याय जाती है तब दूसरी आती है। दृष्टांत—सुवर्ण नित्य है क्योंकि वर्षों बना रहता है, तब यह अनित्य भी है, इसकी अवस्था पलटती रहती है मैला होजाता है, या इसके कड़े फिर तोड़कर कंठे, फिर तोड़कर भुजबंदे आदि बना लेते हैं। जो नित्य होगा वह ऐकसा पड़ा रहेगा जो अनित्य ही होगा वह ठहर नहीं सकेगा। वस्तु नित्य अनित्य स्वरूप है। जीव अपने सर्व गुणोंका एक अमिट अभेद्य पिंड है, इससे एकरूप है तथापि सर्व गुण सर्वांश व्यापक हैं इससे अनेकरूप है। जितना बड़ा ज्ञान है, सम्यक्त है, चारित्र है, वीर्य है, उतना ही बड़ आत्मा है। आमका रस मीठा पीला व चिकना है। आमरस एक ही अखण्ड है तब ही वह अनेकरूप है। मीठापनेसे मीठा, पीलाप-नेसे पीला, चिकना पनेसे चिकना है। हरएक द्रव्य अनेक गुणोंका अमिट समुदाय है, इससे एक ही समयमें एक व अनेक रूप है।

ऐसा न मानना एक ही धर्मका हठ करना एकांत मिथ्यात्व है।

सत्य व असत्य तत्वोंका निश्चय न करके, भोलेपनसे सर्वे-हीको सत्य जानकर सर्वेहीकी मान्यता करना विनय मिथ्यात्व है। एकांतकी व अनेकांतकी समान मान्यता करनी। सुदेव, कुदेवकी, सुगुरु कुगुरुकी, सुशास्त्र कुशास्त्रकी, सुधर्म व कुधर्मकी, सुधर्मस्थान कुधर्मस्थानकी, सुपुज्य मूर्तिकी अपुज्य मूर्तिकी, एक समान विनय करनेकी रुचि विनय मिथ्यात्व है। बुद्धिमें निर्णय करनेकी शक्ति न होनेपर संशय रखना कि सुतत्व ठीक है कि कुतत्व ठीक है, एकांत धर्म ठीक है कि अनेकांत धर्म ठीक है, सुदेव ठीक है, कुदेव ठीक है, इत्यादि डांवाडोल श्रद्धान संशय मिथ्यात्व है। अज्ञान व हठसे विपरीतको ही सच्चा मान लेना, एकांतको ही सच्चा मान लेना, हिंसा पाप है तौभी हिंसामें पुण्य मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है। जाननेका उद्यम न करके देखादेखी अज्ञानसे चाहे जो कुछ मानने लगना अज्ञान मिथ्यात्व है।

मानव मनकी शक्तिका धारी है, इसको विचारशील होना चाहिये। इसको बुद्धिबलसे परीक्षा करके या परीक्षावान सज्जनोंके विश्वासपर तत्वोंका सच्चा श्रद्धान करना चाहिये। इन पांच प्रकार मिथ्यात्वका त्याग ही हितकारी है। इनको वमन कर निज आत्माका अनेकांतरूप श्रद्धान करना चाहिये व उसको निश्चयनयसे शुद्ध निरंजन, निर्विकार, ज्ञानानंदमय अविनाशी मानकर उस हीको सच्चा देव, सच्चा गुरु, सच्चा धर्म, सच्चा तीर्थ, सच्चा मंदिर, सच्चा ध्येय मानकर आराधन करना चाहिये। भले उसके सहकारी कारणोंको भी माना जावे जिनको व्यवहार धर्म कहते हैं परन्तु

निश्चयधर्म आपका आपमें ही है। जो आप ही अपनेमें तिष्ठता है परका आलम्बन छोड़ता है, संकल्पविकल्पोंसे हटता है, अपने ही एक शुद्ध स्वभावमें तन्मय होता है वही आध्यात्मिक सोपानको पाकर स्वरूपारोहणकर परमानंद पाता है।

(१७)

जीव अकर्ता।

आज परमात्मा श्री अरहंत देवकी वाणीमें यह व्याख्यान हुआ कि इस जगतमें जो जीव है वे कर्ताभोक्ता हैं कि नहीं हैं? भगवानकी वाणीमें प्रकाश हुआ कि निश्चयनयसे (जो वस्तुओंके निजस्वभावकोंपर सम्बन्ध रहित स्वाश्रयसे वर्णन करनेवाली है उसकी अपेक्षासे) जितने भी जीव हैं वे ससारी हो व सिद्ध, मात्र अपने ही स्वभावमें परिणमन करनेवाले हैं। इससे वे अपने ही स्वभावमें कर्ता व भोक्ता है। अर्थात् सब ही जीव वीतरागमय ज्ञानपरिणतिके कर्ता व निजानंदके भोक्ता है। वे किसी भी रागादि भावके न कर्ता हैं न भोक्ता हैं। न वे घटपटादिके व ज्ञानावरणादि कर्मके कर्ता हैं न कर्मोंका फल दुःख सुख भोगनेवाले है। यह सब स्वरूप जीव द्रव्यके स्वभावकी दृष्टिसे समझना चाहिये।

परन्तु जब कोई ससारी जीवोंकी अवस्था विशेषपर ध्यान देगा तो उसको पता चलेगा कि संसारी जीव अनादिसे ही अशुद्ध हैं। उनके साथ ज्ञानावरणादि कर्मका बंधन है व उनका उदय भी काम कर रहा है। इस जीवमें एक योगशक्ति है व एक वैभाविक शक्ति है। वह शक्ति उसी समय काम करती हुई प्रगट होती है जब किसी पर द्रव्यका निमित्त होता है। जलमें उष्णरूप परि-

णमनकी शक्ति है । यदि अग्निका निमित्त न होगा तो वह जल कभी भी उष्ण न होगा परन्तु निमित्त होनेसे उष्ण होजायगा। इसी तरह योगशक्ति व वैभाविक शक्ति कर्मोंके उदयके निमित्तसे काम करते हैं, निमित्त न होनेपर वे कुछ काम नहीं करती हैं। सिद्धमें इन शक्तियोंका कोई फल नही होता है। शरीर नाम कर्मके उदयसे आत्माके प्रदेश सकम्प होते हैं तब योगशक्ति काम करती है, जो बाहरी पुद्गल स्कंधोंको जीवके लिये आकर्षण करती है जिनसे कार्मण, तैजस व औदारिक, वैक्रियिक व आहारक शरीर बनता है व भाषा तथा मनका निर्माण होता है। कषायभावोंके उदयसे उपयोगमें रागद्वेषपना आता है तब विभावशक्ति काम करती है। ये रागद्वेषी उपयोग अनेक प्रकारके कर्मोंका बंध करते हैं व जगतमें यह मन वचन काय द्वारा आत्माका हलनचलन रूप व्यापार व कषाय सहित उपयोग ही कर्ता व भोक्ता बन जाते हैं। इन्हीं योग व उपयोगके निमित्तसे चार प्रकारका कर्म बंध होता है जिसको प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभागबध कहते हैं। येही योग व उपयोग बाहरी कार्योंको भी करते रहते हैं। मकान, वर्तन, रसोई, पुस्तक आदि सर्व कार्योंके निर्माणमें निमित्त कारण ये जीवके योग व उपयोग हैं। येही कर्ता है व येही भोक्ता हैं, रागी जीव परनिमित्तसे अपनेको सुखी मान लेता है। वास्तवमें निश्चय-नयसे जीव अपने शुद्ध ज्ञानभावका व शुद्ध ज्ञानानंदका भोक्ता है तथापि कर्मोदयके चक्करमें पड़कर इसको संसारावस्थामें कर्ता व भोक्ता बनना पड़ता है। यह आत्मा परद्रव्य जो पुद्गलादि हैं उनका उपादान कर्ता तो कदापि नहीं है।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव इस भेदको समझते हुए अपनेको योग और उपयोगके अशुद्ध परिणमनके कर्ता भी नहीं मानते हैं। ये अशुद्ध परिणमन जीवका स्वभाव होता तो मानते, ये तो कर्मोदय जनित विकार हैं। जैसे कोई भांगके नशेमें और की और चेष्टा करे तो उसे उन्मत्तकी ही चेष्टा कही जायगी, एक मदरहित मानवकी चेष्टा नहीं कही जायगी। वैसे ही संसारावस्थामें मोहसे अंधे हुए जीवोंके भीतर 'वर्ताव भोक्तापनेका उन्माद होरहा है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव इस उन्मादके भेदको समझ जाता है। इसलिये वह इस भांगको पुनः नहीं पीता है। उसका मद नशा धीरे २ कम होता जाता है। ज्ञानी वस्तुके स्वरूपको जैसा है वैसा समझता है। इसलिये तत्वज्ञानी आत्माको अपने ही शुद्ध परिणामका कर्ता व भोक्ता अनुभव करता हुआ व जगके नाटकको कर्मोन्मादका खेल समझता हुआ संसार प्रपंचसे उदास रहता है और अपने शुद्ध आत्मीक स्वभावरूपी अश्वपर चढ़कर रत्नत्रयसे जड़े हुए समता भावरूपी मार्गपर चलता हुआ शुद्ध भावरूपी पर्वत मालापर आरोहण करता हुआ शुद्ध पदार्थकी ओर बढ़ा चला जारहा है। ज्यों२ बढ़ाते हैं त्यों२ थकनके स्थानमें अधिक२ प्रफुल्लित होता जाता है और बिना बाहरी पदार्थके अवलम्बनके परम तृप्तिकारक आत्मानंदमय भोजनपानको करता हुआ परमसंतोषी होरहा है।

(१८)

जीवका लक्षण।

आज परमप्रभु श्री अरहंतकी दिव्यध्वनिमें बड़ा ही उपयोगी धर्मामृत पूर्ण भाषण हुआ जिसको सुनकर सारी सभा गदगद

होगई। आजका विषय जो श्रोताओंकी समझमें आया वह यह था कि जीवका लक्षण क्या होना चाहिये? प्रभुकी वाणीमें खिरा कि हरएक जीव सुखशांति व स्वाधीनता चाहता है। खेद, आकुलता, व चिंतासे दूर रहना चाहता है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये हरएक सैनी भव्य जीवको यह लक्ष्य बनाना चाहिये कि सुखशांतिका समुद्र उसका निज आत्मा ही है। यह आत्मा स्वभावसे मोक्षस्वरूप है। मोक्ष किसी स्थानविशेषका नाम नहीं है, मोक्ष किसी कर्मके फलस्वरूप अवस्थाका नाम नहीं है, मोक्ष परपदार्थसे छूटी हुई शुद्ध आत्माकी अवस्थाका नाम है, जो वास्तवमें आत्माका अपना ही स्वभाव है। मोक्ष अनंतज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यका भडार है। मोक्ष वीतरागभावका आदर्श है। मोक्षमें रागादि विभावोंका सर्वथा अभाव है। जिसने अपने ही आत्माको पहचाना उसीने ही मोक्षको जाना है। आत्माका अपने स्वभावसे विमुख रहना संसार है। आप अपने स्वभावरूप ही वर्तना मोक्ष है। आप अपने स्वभावके सन्मुख हो देखना, जानना, श्रद्धान, आचरण अर्थात् स्वत्मानुभवरूप होना मोक्षमार्ग है। उपयोगकी रुचि निज शुद्धस्वरूपहीमें रहना सम्यक्त है। निज सिद्धस्वरूप ही लक्ष्य है। इसीको निशाना बनाओ और इसीकी ओर बढ़े चले जाओ। वह लक्ष्य उसी समय अपने सामने आता है जब मन, वचन, कायसे रति छोड़कर भीतर प्रवेश करके अपनेमें ही रति करता है। अपने शुद्ध स्वभावपर दृष्टि रखना ही जीवका परम हित है। जितने महापुरुष इस भयानक संसारसे मुक्त हुए हैं, होरहे हैं व होंगे वे सब इसी लक्ष्यपर लक्ष्य रखनेसे हुए हैं।

इसी लक्ष्यमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रय धर्म है। इसीमें उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य व उत्तम, ब्रह्मचर्य धर्म हैं। इसीमें दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रते-ष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्तप, शक्तितस्त्याग, साधुसमाधि, वैयावृत्य, अर्हत् भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यकापरिहाण, मार्गप्रभावना व वत्स-लत्व ऐसे षोड्स भावना रूप धर्म हैं। आत्मरुचि दर्शन है, आत्मप्रेम विनय है, आत्मशीलमें निर्दोष वर्तन शीलव्रत है, आत्मामें उपयुक्त होना ज्ञानोपयोग है, आत्मप्रेम संवेग है, आत्मामें तपना तप है, अनात्मत्याग त्याग है, आत्मसाधुको कर्मोंके उपसर्गसे बचाना साधुसमाधि है, आत्मसेवा वैयावृत्य है, आत्मा ही अर्हत् है, आचार्य है, उपाध्याय है, आत्मज्ञान ही प्रवचन है इन चारोंमें भक्ति आत्मभक्ति है। आत्माकी स्वाधीनतामें पराय-णता आवश्यकापरिहाणी है, आत्मधर्मको समुन्नत रखना प्रभावना है, सर्व आत्माओंको एक समय शुद्ध देखना जानना वत्सलत्व है। इसी आत्मलक्ष्यमें धर्मध्यान व शुक्लध्यान है। यही सामा-यिक भावरूप चारित्र है, यही निःशंक भाव है, यही निर्वांछिक भाव है, यहीं निर्विचिकित्सा भाव है, यही अमूढदृष्टि है, यही उपबृंहण है, यहीं स्थितिकरण है, यहीं प्रभावनांग है व यही वात्सल्यांग है। यह लक्ष्य रोग, मरण, इहलोक, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, अकस्मात् ऐसे सात भयोंसे रहित है। इस लक्ष्यमें न आठ कर्म हैं न १४८ उत्तर प्रकृति भेद हैं। न इसमें मिथ्या-

त्वादि चौदह गुणस्थान हैं, न गति इंद्रियादि चौदह मार्गणाएं हैं। न यहां योगस्थानोंकी तरंगें हैं न कषायोंकी मलीनताई है। न बंध है न उदय है न कर्मोंकी सत्ता है। न उत्कर्षण है न अपकर्षण है न संक्रमण है न विसंयोजन है। न यहां ध्यान है न ध्येय है न धारणा है न ध्याता है। न यहां ज्ञान है न ज्ञेय है न ज्ञाता है। न यहां उपाय है न उपेय है न साधन है न साध्य है। न निश्चयनय है न व्यवहारनय है। न यहां भेद है न अभेद है, न अस्ति है न नास्ति है, न एकत्व है न अनेकत्व है। न यहां तीर्थ है न समुद्र है न द्वीप है। यह लक्ष्य वचन अगोचर, मन अगोचर, कायसे अगोचर, सर्व विकल्पोंसे अतीत, परम अनुपम, सगुण व निर्गुणकी कल्पनासे बाहर, मात्र एक स्वानुभवगोचर कुछ है। जो जाने वह जाने, जो आस्वादे वह आस्वादे। यही सुखशांतिका सागर है, यही निराकुलताका उपवन है। यही आध्यात्मिक सोपान है व यही आध्यात्मिक महल है। मैं इसीमें रमण कर परम संतोषी होरहा हूं।

अनंत सुख।

केवलज्ञानी अर्हंत वास्तवमें भाव मोक्ष रूप हैं, वे आध्यात्मिक सोपान पर चढ़कर अपने आत्माको शुद्ध कर चुके हैं। मात्र चार अघातिया कर्म जली हुई रस्सीके समान ही अवशेष हैं जो रंच मात्र आत्माके गुणोंमें बाधक नहीं है। केवली भगवानमें अनंतसुख विलास कर रहा है। यह वही सुख है जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थको भी अनुभवमें आता था। उस समय वह द्विती-

याके चंद्र समान था अपूर्ण था, अब वह पूर्णमासीके चंद्रमाके समान पूर्ण होगया है। जहांतक केवलज्ञान नहीं होता है वहांतक आत्माका ज्ञान व श्रद्धान श्रुतज्ञान द्वारा परोक्ष रूपसे होता है तथापि जब उपयोग पांच इंद्रिय और मनसे हटकर आत्माके स्वरूपमें तन्मय होता है तब स्वानुभव अवश्य होता है। स्वानुभव होते हुए उसी तरह आत्मीक सुखका स्वाद आता है जिस तरह मिष्ट आम्रफलको चूसते हुए उसकी मिष्टताका स्वाद आवे। यह आत्मीक सुख स्वाधीन है, निर्मल है, समतारूप है, शांत प्रचारक है व यही सुखानुभव वह सामर्थ्य रखता है जिसके तापसे कर्मोंके वंश जलने लगते है। सम्यग्दृष्टी स्वानुभूतिके प्रतापसे इस सुखको भोगता हुआ व कर्मोंके आवरणसे हटता हुआ उन्नति करता हुआ चला जाता है। बारहवें गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका बिलकुल क्षय होगया है। परम वीतराग व शांतभाव है तथापि अनंतसुख नहीं है क्योंकि सुख गुणका प्रकाश अभी भी ज्ञानावरण दर्शनावरण व अन्तरायके आवरणसे ढका हुआ है। चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें तक यद्यपि अनंत सुखकी जातिका ही सुख अनुभवमें आरहा है। तथापि भेद इतना है कि जैसे किसी आम्रके रसमें रज मिला हो तो उसका स्वाद आम्र समान है परन्तु कुछ फीकापन रजके निमित्तसे है, यदि रज रहित रस हो तो यथार्थ मिष्टपनका स्वाद आये। इसी तरह जहांतक केवलज्ञान, केवलदर्शन, व अनंतवीर्य व्यक्त नहीं वहांतक रज मिश्रित सुखका स्वाद आता है। जाति वही है, परन्तु विशद या स्पष्ट नहीं है। केवली भगवानके जैसे विशद ज्ञानदर्शन है व जैसे अनंतबल है वैसे

विशद अनत आनंद है। क्योंकि यह आनंद न किसीसे अवर्णित होता न इसमें कोई अन्तर पड़ता न इसका कभी क्षय होता इसीसे इसको अनंत सुख कहते हैं। इस आनंदका अनुभव केवलीका आत्मा सदा ही करता रहता है। वास्तवमें जैसे भ्रमर कमलकी वासमें तन्मय होजाता है वैसे केवलीका आत्मा, आत्मानंदमें निरंतर मग्न रहता है। यद्यपि उनके ज्ञानमें सर्व ज्ञेय अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव सहित झलक रहे हैं तथापि केवली किसी भी ज्ञेयकी ओर उपयुक्त नहीं है न उपयोगको चलाकर उन्हें किसीको जाननेकी ही जरूरत है। वे आप आपमें उसी तरह मगन हैं जैसे दर्पण आप आपकी स्वच्छतामें मगन रहता है। जैसे दर्पणमें पदार्थ झलकते हैं परन्तु दर्पणकी उनमें उपेक्षा ही है रागद्वेष नहीं है वैसे केवली भगवानमें पदार्थ व पर्याय सब एक साथ झलकते हैं तथापि वे सबसे उपेक्षित है। वे मात्र एक अपने निज आनंदमें ही कल्लोल कर रहे हैं। यह अतींद्रिय आनंद पूर्ण स्वाधीन है, अबाधित है, आत्माका ही स्वभाव है। जो अपनेमें ही आत्माको इस स्वाभाविक आनदका धनी जानकर विश्वास रखते है और सर्वसे उन्मुख होकर एक निजस्वरूपमें ही उपयोगको रमाते हैं, जमाते हैं, बिठाते हैं, दिखलाते हैं, डुबाते हैं, रचाते हैं, चलाते हैं, ये निरंतर आत्मीक आनंदका स्वाद पाते हैं। अपने पास ही आनंदका सागर है इसको न देखकर अज्ञानी तृषा शमनार्थ मृगतृष्णावत् विषय वनमें भटकते हैं। ज्ञानी इसी आनंदको अनंत सुखका अंश मानकर इसीमें तन्मय हो परमतृप्तिको पाते हैं और अनंत सुखकी ओर बढ़े चले जाते हैं।

अनंतवीर्य ।

परम प्रभु अर्हत् परमात्मा अपने स्वभावमें स्थित हो स्वभावके परमानन्दका भोग कररहे हैं। प्रभुमें अनंत वीर्यका प्रादुर्भाव है, आत्मामें अनंत शक्ति है। उस शक्तिके प्रभावसे किसी भी पर वस्तुकी शक्ति नहीं है जो आत्माके स्वभावके संभोगमें किंचित भी अतराय डाल सके। इस अनत वीर्यका ही प्रभाव है जो आत्मा अपने अनन्तगुणोंका स्वामित्व रखता हुआ परमविजयी होरहा है। इस जगतमें शरीरकी शक्तिको बड़ी कहते हैं परन्तु उससे अधिक बलवती वाचिक शक्ति है। वाचिक शक्तिसे अधिक बलवती मानसिक शक्ति है। इन सबमें भी आत्मिक शक्तिकी कुछ सहायता है। परन्तु सबसे अधिक बलवती आत्मिक शक्ति है। इस अद्भुत आत्मशक्तिके प्रभावसे केवली भगवानकी आत्मामें कोई निर्बलता मालूम नहीं होती। कभी कोई चिंता सताती नहीं, कभी कोई भय होता नही, कभी कोई राग या द्वेष होता नहीं, कभी कोई रोगकी आकुलता होती नहीं, कभी क्षुधाकी बाधा व्यापती नहीं, कभी तृषा सताती नहीं। उनके शरीरको जो परमौदारिक व सप्त धातुसे रहित कर्पूरवत् निर्मल होजाता है पोषणायोग्य आहारक वर्गणा स्वयं आकर शरीरको दीर्घकाल पर्यंत सजीवित रखती हैं। जिसतरह पृथ्वीकायिक व वनस्पतिकायिक जीवोंके शरीर बाहरी पोषणसे ही पुष्ट रहते हैं व बढ़ते है, उनको ग्रास लेकर भोजनकी जरूरत नहीं पडती है वैसे केवलीको भी नहीं पड़ती है, अनंत लाभ निरंतर होता रहता है। केवली भगवानकी आत्मामें यह अपूर्व शक्ति है कि उनके द्वारा सर्व जीवोंको अभयदान व ज्ञान दान प्राप्त होता

है । प्रभुके धर्मोपदेशको सुनकर अनेकानेक जीव मोक्षमार्गपर चलने लग जाते हैं । यह अनंतवीर्यका ही प्रभाव है कि प्रभु ज्ञाननेत्रसे त्रिकालविषयक त्रिलोकके सर्व पदार्थ क्रम रहित अवलोकन करते हैं व जानते हैं तथापि कभी उनको थकावट नहीं होती, कभी जानने देखनेका प्रयास नहीं करना पड़ता । स्वयं ही सर्व ज्ञेय ज्ञानरूपी दर्पणमें झलक जाते हैं । प्रभु सदा आत्मसन्मुख ही रहते है । अल्पज्ञानी अल्प वीर्यवानका उपयोग आत्मारूपी ध्येयकी ओर लगातार एक अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं ठहर सक्ता है परन्तु केवलज्ञानीका उपयोग अनतवीर्यके प्रतापसे सदा ही आत्मस्थ रहता है व ऐसा ही अनंतकाल तक बना रहता है । यह अनंतवीर्यकी अद्भुत महिमा है । ससारी अल्प वीर्यवान प्राणी भोजन पान करते करते थक जाते है, उनको रुकना पडता है परन्तु अर्हंत परमात्माके निरंतर आत्मामृतका ही भोग है । वे समय समय अतीन्द्रिय आनन्दका भोग निरंतर व निरंतराय करते रहते हैं परन्तु कभी उपयोग थकता नहीं न इधरसे उधर जाता है । आनन्दका भोग परमात्मा सदा लिया करता है । यह अनंतवीर्यका ही प्रताप है कि भगवान्के मोहनीय कर्मके सद्भाव विना इच्छा नहीं होती, तौ भी जहा जीवोंका विशेष पुण्य आकर्षण करता है वहां विहार करते हैं व दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश करते हैं तथापि कभी खेद नहीं पाते, कभी नहीं उकताते । यह अनतवीर्यका ही प्रताप है जो आत्मानुभूति रूपी स्व तियासे संभोग करते हुए कभी भी विषयभावको प्राप्त नहीं होते । सदा ही भोग करते रहते हैं और समरसका पान किया करते हैं । वास्तवमें अर्हंत् परमात्माके अनंतवीर्यका अनुभव परम आश्चर्यकारी है ।

तृतीय शुक्लध्यान ।

आज परमप्रभु अरहंत परमात्मा मौनावलंबी है। जिस पर-मौदारिक शरीरमें प्रभुकी आत्माका निवास है उसकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तकी रह गई है। अब केवली भगवानके समुद्घात क्रिया होरही है। प्रथम समयमें आत्माके प्रदेश फैलकर दंडके समान १४ राजूसे कुछ कम ऊचे होजाते हैं। अर्थात् वातवलयमें नहीं फैलते है। केवली पद्मासन व कायोत्सर्ग पूर्व या उत्तरमुख दोनों-हीसे समुद्घात कर सक्ते हैं। दूसरे समयमें प्रदेश कपाटके समान फैलते हैं। यदि पूर्वदिशा मुख कायोत्सर्ग हो तो सात राजू चौड़े १२ अगुल मोटे व १४ राजू कुछ कम ऊंचे, और यदि पद्मासन हो तो मुटाई ३६ अंगूल, शेष पूर्ववत्। यदि उत्तरमुख कायोत्सर्ग हो तो १४ राजू ऊचे, नीचे ७ राजू, मध्यमें १ राजू, फिर ऊपर ५ राजू, फिर ऊपर १ राजू, मोटे १२ अंगुल। यदि पद्मासन हों तो ३६ अगुल प्रदेश फैलते हैं। तीसरे समयमें प्रतर रूप प्रदेश होजाते हैं। अर्थात वातवलय विना सर्व लोकाकाशमें फैल जाते हैं। चौथे समयमें लोक पूर्ण होजाते हैं। इसी तरह क्रमसे संकोच करते हैं। प्रतररूप होकर कपाटरूप हो फिर दंडरूप हो, शरीर प्रमाण जैसेके तैसे होजाते हैं।

इस क्रियासे केवली भगवानकी सत्तामें जो नाम, गोत्र व वेदनीय कर्मकी वर्गणाएं थीं उनकी स्थिति खण्डन होजाती है और वह स्थिति आयु कर्मके बराबर होजाती है। इन तीनों कर्मोंके उत्तर प्रकृतियोंमें जो अशुभ हैं उनका अनुभाग खंडित होता है परन्तु शुभका अनुभाग घात नहीं होता है। मूल शरी-

रमें आकर अन्तर्मुहूर्त विश्राम करके योगोंका निरोध करते हैं। बादर मनोयोगको नष्ट कर सूक्ष्म, फिर वादर वचन योगको सूक्ष्म, फिर वादर उश्वासको सूक्ष्म करते हैं, फिर क्रमसे सूक्ष्म, मन, वचन, उश्वासको नष्ट करें जब मात्र सूक्ष्म काय योग रहजाता है तब भगवान तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानमें आरूढ़ हैं ऐसा व्यवहारमें कहा जाता है। वास्तवमें केवलीके समुदघातादि सर्व क्रियाएं हम लोगोंके शरीरमें रक्त रुधिरादि परिवर्तन व निर्माणके समान व भोजन व पाचन रागोत्पत्ति व शमनके समान स्वतः होजाती हैं। केवली भगवानके उपयोगमें कोई विकार नहीं होता है। क्योंकि जहांतक आत्मा शुद्ध न हो वहांतक कर्मकी निर्जरा होती रहती है। व निर्जराका कारण ध्यान है इसलिये केवलीके ध्यान अन्त तक कहा गया है।

वास्तवमें केवली भगवान भाव मोक्षरूपी महलमें पहुंच ही चुके हैं। आध्यात्मिक सोपानको तय ही कर लिया है। मात्र शरीरका सम्बन्ध है इसलिये उनको निकल परमात्मा नहीं कह सकते हैं। यों तो प्रभु नित्य ही अनतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत-सुख, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त व क्षायिक चारित्रमें विना भेद-भावके एकरूपसे विद्यमान हैं। वे अपनी स्वानुभूति तियाके रस-पानमें ही अनुरक्त हैं। वे ऐसे उन्मत्त हैं कि भूमिको स्पर्श तक नहीं करते हैं। चार अगुल ऊचे रहते हैं। आत्मीक आनंदका अपूर्व लाभ लेते हुए वे सर्व जगतके पदार्थोंकी सर्व अवस्थाओंको जानते तो हैं परन्तु उपयुक्त किसीकी तरफ नहीं है, मात्र अपने ही आपके मजेमें डूब रहे हैं। उनकी कोई स्तुति करो तो प्रभु

प्रसन्न नहीं होते, कोई उनकी निंदा करो तो असंतुष्ट नहीं होते तथापि स्तुतिकारक पापोंका सहार कर अपनी उन्नति कर पाते हैं व निंदाकारक पाप बांधकर आप ही अवनत होजाते हैं। प्रभुके तो आश्चर्यकारी समभाव है। प्रभु ऐसी समतामें मगन हो शिव-महलका आनंद लेरहे हैं।

चतुर्थ शुक्लध्यान।

परमप्रभु परमात्मा तेरहवें गुणस्थानोंको उल्लंघन करके चौदहवें अयोग गुणस्थानमें पहुंच गए हैं। अब यहां मन वचन कायके द्वारा योगोंका परिणमन बिलकुल नहीं है। न योगशक्तिका परिणमन है न कर्म व नोकर्मका आस्रव है। किन्तु निर्जरा अवश्य है। इसीलिये चौथे शुक्लध्यानके कहनेका उपचार है जिसका नाम है व्युपरतक्रियानिवर्ति या समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति। अर्थात् जहां प्राणापानका संचारादि सर्व आत्मप्रदेशोंके परिस्पंदनकी क्रिया छूट जाती है। अ, इ, उ, ऋ, ऌ ये पांच लघु अक्षर जितने कालमें उच्चारण हों उतने ही काल इस चौथे शुक्लध्यान या चौदहवें अयोग गुणस्थानकी स्थिति होती है। इस समय योगोंके न होनेसे जो चंचलता थी वह नहीं रहती है। निष्कम्प अग्निकी शिखा सम चौथे शुक्लध्यानके द्वारा शेष अघातिया कर्मोंकी सर्व वर्गणाएं वहुत शीघ्र निर्जरित होने लगती हैं। इस समय यह ज्ञानी परमात्मा जिस अपूर्व आत्मस्थितिमें है वह एक मात्र परमात्माके ही अनुभवगोचर है। उसका अनुभव एक छद्मस्थको किस-तरह होसक्ता है। वास्तवमें स्वानुभवकी ही यह अपूर्व महिमा है।

जिसके प्रतापसे एक मिथ्यात्वी जीव सम्यक्ती होता है, फिर सम्यक्तीसे बढ़ते बढ़ते सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें आकर क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हो केवली होकर इस स्थितिको पहुंच जाता है।

यदि विचारकर देखा जावे तो आध्यात्मिक सोपानका निर्माण स्वानुभवरूपी धातुहीसे हुआ है। जिन्होंने इस स्वानुभवरूपी सोपानको नहीं पाया वे अनेक भेषोके धारने पर भी व अनेक बाहरी क्रियाकांड जपतप आदि करनेपर भी मिथ्यात्व गुणस्थानसे ही नहीं निवृत्त होसक्ते हैं फिर आगेके भावोंका पाना तो अतिदुर्लभ है। इस अयोगी परमात्माके सिद्धस्थल पहुंचनेमें अब कुछ कसर नहीं है। तथापि जितनी देर तक इस परमोत्कृष्ट यथाख्यात चारित्ररूप स्वानुभूतिमें रमण करता है उतनी देर एक अपूर्व आनन्दका स्वाद आरहा है। वास्तवमें जो अनंतज्ञान दर्शन वीर्य सुखादिगुणोंकी एकताका स्वाद सयोगीमें था वही स्वाद यहांपर भी है। योगोंकी चचलता सम्बंधी जो त्रुटि थी वह यहां नहीं है। इस समय यह आत्मा अपने आत्माको ही एक परम दृढ़ व बलवान दुर्ग बना लेता है और उसीमें निश्चिंत हो बैठ जाता है। इस दुर्गमें किसी भी पुद्गलरूपी शत्रुओंके प्रवेशका स्थान नहीं है। किसीमें शक्ति नहीं है जो प्रवेश कर सके। जो कुछ इस दुर्गमें पर पदार्थका वास कहींपर रह भी गया है उनको निकाला जारहा है। सर्व ही पर पदार्थसे दुर्गकी सफाई की जारहीं है। इस दुर्गमें अनन्त गुणरूपी सेना परम आनन्दसे वास कर रही है। इसी दुर्गमें बैठा हुआ आत्माराम अपने नित्यकी आवश्यक क्रियाएं सर्व करता है। यद्यपि वह परका कर्ता व भोक्ता नहीं है तथापि वह

अपनी सत्क्रियाओंका कर्ता है व अपने स्वभावोंका भोक्ता है। यह नित्य साम्यभावमें लीन होनेसे सामायिक करता है।

पूर्व भावोंका व कर्मोंका त्याग है यही नित्य प्रतिक्रमण है। आगामी कर्मोंका व भावोंका त्याग है यही प्रत्याख्यान है। अपने शुद्ध आत्मीक गुणोंकी प्रतिष्ठा है यही स्तुति है। अपने ही शुद्ध स्वरूपमें जिनस्वरूप दर्शन है यही वन्दना है। सर्व कायादि पर-पदार्थोंसे व सर्व क्रियाओंसे दूरवर्ती है यही कायोत्सर्ग है। अयोग केवली भी स्नातक नामके निर्ग्रंथ मुनि हैं इस ही कारण षट् आवश्यक क्रियाओंमें नित लवलीन हैं। परमात्म प्रभुके पास स्वानुभूति तिया है इसलिये प्रभु अणुव्रती श्रावक भी हैं। अतएव गृहस्थधर्मवत् षट् आवश्यक क्रियाओंको भी साध रहे हैं। नित्य साम्यभावमें लय होते हुए तप करते हैं। परभाव परवस्तुकी ओरसे पूर्ण संयमी हैं, अपने ही आत्मदेवकी स्वानुभवरूप नित्य पूजा करते हैं। अपने ही आत्म गुरुकी नित्य उपासना करते हैं, अपने ही आत्मीक भावोंका नित्य पाठ करते हैं। अपने ही आत्माके अनुभवसे प्राप्त आनंदामृतको लेकर अपने ही आत्मसाधुको नित्य दान करते है। अपने ही धनको स्थिर रखते हुए अर्थ पुरुषार्थके साधक है। अपने ही अतींद्रिय सुखका भोग करते हुए या अपनी स्वानुभूतितियासे सभोग करते हुए परम काम पुरुषार्थके भोक्ता हैं। ऐसे अद्भुत गृहस्थ या साधु या परमात्माका स्वभाव जो जानता है वही सम्यग्दृष्टी, सम्यग्ज्ञानी व सम्यग्चारित्री है। वही अयोग गुणस्थानका व चतुर्थ शुक्लध्यानका भेद पाता है और अपने आपमें तन्मय हो परमगुप्त होजाता है।

श्री सिद्ध भगवान्।

आध्यात्मिक सोपानपर चढ़कर मिथ्यात्वकी भूमिकाको उल्ल-घन कर सम्यक्त सोपानपर आकर फिर श्रावक हो पश्चात् मुनि हो क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर एक भव्य जीव केवली परमात्मा होगया है। तेरहवें गुणस्थानसे चौदहवें अयोग गुणस्थानमें आगया है। वहा अन्त समयके पहले समयमें शेष ७२ कर्मप्रकृतियोंकी व अतमें १३ प्रकृतियोंकी सत्ताका अभाव कर तथा सर्व प्रकार सूक्ष्म व स्थूल शरीरोंसे रहित होकर जैसे छिलकोंके आवरणसे रहित शुद्ध चावल प्रकाशमान होता है ऐसा शरीर रहित पर-मात्मा प्रगट होगया है। ऊर्ध्वगमन स्वभावसे शरीर त्यागके स्थानसे ठीक ऊपर लोकांत चला जाता है—जहांतक धर्मास्ति-काय है वहांतक जाता है। अलोकाकाशमें धर्मास्तिकाय नहीं इससे नहीं जाता है। लोकशिखर तनुवातवलयमें सिद्धक्षेत्र है वहा ठहर जाता है। यह सिद्धक्षेत्र ४५ लाख योजन चौड़ा है जितना चौड़ा ढाईद्वीप या नरलोक है। सर्व ढाईद्वीपसे कभी न कभी मोक्षका लाभ होता है इससे ४५ लाख योजनका सर्व क्षेत्र इतना ही चौडा व इतना ही ऊंचा सर्वसिद्धोंसे भरा है। ठीक इसीके नीचे घनवातवलयसे स्पर्शित अर्थात् घनवातवलय तक ४५ लाख योजन चौड़ी लंबी व आठ योजन मोटी धवल छत्राकार आठमी ईषत प्राग्भार नामकी पृथ्वी है जिसको सिद्ध शिला कहते हैं। इसके ऊपर सिद्ध नहीं है परन्तु इसीकी सीधमें तनुवातवलयमें सिद्ध हैं मानो सिद्धस्थानका तल यह शिला है व ऊपरी भाग सिद्ध क्षेत्र है जहां सिद्ध भगवान् विराजते हैं। सिद्ध भगवान्

मात्र शुद्ध केवल आत्मा ही आत्मा है। जितना अनात्माका संबंध था सब छूट गया है। अब तो आध्यात्मिक सोपान द्वारा अपना निजका सिद्ध महल प्राप्त होगया है। यह अविनाशी महल है। जो यहां पहुंच जाता है वह भी ध्रुव रूपसे वहां निवास करता है। उसके पास न रागादि भाव है न आठ कर्मोंमेंसे कोई कर्म है जो सिद्ध परमात्माको फिर संसारी बना सकें। वे तो शुद्ध सुवर्णके समान होगए व वे शुद्ध रत्न समान होगए व वे शुद्ध स्फटिकमणिसम होगए व वे शुद्ध जल समान होगए। जितने गुण आत्म द्रव्यमें होते हैं वे सब सिद्ध भगवान्‌के भीतर अपनी पूर्णताको लिये हुए विकाश कर रहे हैं।

भगवान्‌की अपूर्व ज्ञानशक्ति त्रिकालगोचर सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको एक काल जानती है तथापि उनकी ओर रागद्वेष रूप परिणति नहीं होती। वीतरागताके प्रभावसे सिद्ध भगवान विकार रहित होते हुए मात्र अपने ही अतींद्रिय आनदका निरतर स्वाद लिया करते हैं। नित्य निराकुल रहते हुए परमानदमें मग्न हैं। वे योगियोंके योगीश्वर है। वे ध्यानियोंमें महाध्यानी हैं। वे योगियोंमें महायोगी हैं। वे ज्ञानियोंमें महाज्ञानी हैं। वे उदासीनोंमें परम उदासीन हैं। वे वज्रसे भी अधिक कठोर हैं। कोई शक्ति है जो उनको निजानंदके विलाससे दूर कर सके। वे दीपक वत् स्वपर प्रकाशक हैं, वे शरीर, वचन व मन रहित हैं इससे किसी भी विकल्प, किसी भी वचन प्रणाली व किसी भी कृतिसे परे हैं। तथापि हमारे लिये परमादर्श हैं। हम उनके गुणोंका चिंतवन करके अपने आत्माको पहचानते हैं। उनहीका स्वरूप अपने आपमें आरोपण

करते हैं और ध्यानकी अग्नि जलाते हैं तब सर्व कर्म जलाकर उनहीके समान सिद्ध परमात्मा होजाते हैं। वे वास्तवमें एक गम्भीर क्षीरसमुद्र हैं जिनमें स्वानुभवकी तरंगें लहलहा रही हैं, जिनमें रंचमात्र भी कोई मैल नहीं है। जिनमें अनंतज्ञान दर्शन सुख वीर्य है, वे सिद्ध भगवान् समयसाररूप हैं। शुद्धात्मानुभवरूप कारण समयसाररूपी सोपानसे ही समयसाररूप कार्यपर पहुंचे हैं। वे परम स्वाधीन हैं, वे पराधीनताके विजयी परम वीर हैं, वे अखण्ड समुदाय अपेक्षा एकरूप हैं। अनेक गुणोंको अपनेमें पृथक् २ व्यापी बनाए रखनेसे वे अनेकरूप हैं। वे गुणोंकी नित्यताके कारण नित्य हैं तथा षट्गुणी हानि वृद्धिरूप सदृश पर्याय परिणमनकी अपेक्षा अनित्य हैं। वे अपने शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अस्तिरूप हैं। उसी समयपर द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप हैं। सिद्धांतका लाभ स्वराज्यका लाभ है। सिद्धत्वका लाभ अमृतका पान है, सिद्धत्वका लाभ सुखनिधान है। सिद्धत्वका लाभ निज सत्ताका झलकाव है। परमतृप्तिको प्राप्त सिद्ध भगवान्का सिद्ध महलमें अनंतकालतक रहना आध्यात्मिक सोपानपर चढ़नेका फल है।

स्वानुभूति सोपानपर, चढ़त भव्य सुखदाय।
सिद्धधाम पहुंचें सुधी, परमानन्दी थाय॥

ब्र० सीतल।

ब्र० सीतलप्रसादजीकृत अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थ—

१-अनुभवानन्द

इसमें अध्यात्म रसपूर्ण ५६ विषयोंका संग्रह है। पृ० १२८ व मूल्य आठ आने।

२-स्वसमरानन्द अथवा चेतनकर्मयुद्ध

इसमें आध्यात्मिक ३८ विषयोंका संग्रह है। पृष्ठ ८१ लागतमात्र मूल्य ≤)

३-निश्चयधर्मका मनन

इसमें आध्यात्मिक ४४२ विषयोंका संग्रह है। पृष्ठ ४०० व लागत मूल्य १)

मिलनेका पता—

मैनेजर, दिगम्बर जैन पुस्तकालय-सूरत।